चन्द्रावती सारस्वत

॥ श्रीहरिः ॥

बाबा नगीनासिंह द्वारा रचित—

वेदानुवचन

पूर्वार्ध

जिसको

मुरादाबादनिवासी—

सनातनधर्मपताका सम्पादक ऋषिकुमार

प० रामस्वरूप शर्मा

और

प० रामचन्द्रशर्माने

मुमुक्षु पुरुषोंके हितार्थ

हिन्दी भाषामें अनुवादित कर

प्रकाशित किया

१९८३

Printed & Published by Pt. Ramcha[illegible] Sharma
at the Sanatan Dharm Press Moradabad.

श्रीः

वेदानुवचन

भूमिका

संस्कृत-व्याकरणके नियमानुसार जिससे जाना जाय अर्थात् वह विद्या, कि-जिससे परमात्माका ज्ञान प्राप्त हो उसको 'वेद' कहते हैं। परमात्माका ज्ञान और ज्ञानको पानेकी अन्य रीतियें भी ऐसे विषय हैं, कि-जिनको मनुष्य अपनी बुद्धिसे नहीं जान सकता, क्योंकि-आत्मा कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, कि-जो ज्ञानेन्द्रियें तथा मन बुद्धिका विषय होकर ध्यानमें आसके। आत्मज्ञानको पानेमें बाधा डालने वाली तीन बातें हैं-१ मल (पाप) २ विक्षेप (मनकी चञ्चलता) और ३ आवरण (अज्ञानका परदा)। इस लिये पहले मनके मैलको दूर करना चाहिये और उसको दूर करनेका द्वार कर्मकाण्ड अर्थात् नित्य नैमित्तिक आदि सत्कर्मोंका अनुष्ठान है, क्योंकि—मल तमोगुणका परिणाम है, इसलिये वह सत्वगुणसे ही दूर हो सकता है। आत्मज्ञानमें बाधा डालने वाली दूसरी विक्षेप शक्ति है, उसको हटानेका उपाय है चित्तको रोककर एकाग्र करना, या चित्तकी बहिर्वृत्तिको धीरे २ सर्वथा रोक देना, जिसको निर्विकल्प समाधि

भी कहते हैं. इसका ही नाम उपासना भी है। जब किसी मनुष्यके पाप अर्थात् मनका मैल दूर होजाता है और उसके चित्तमें चञ्चलता न रहे तथा एकाग्रता के साथ स्थिर रहनेलगे, उस दर्शनसे उसके मनका आवरण अर्थात् उसके मन पर जो अनादिकालसे अज्ञानका परदा पड़ा हुआ है वह गुरुके उपदेशसे दूर होजाता है और यही आत्मज्ञानकी प्राप्तिका कारण होता है। इसका उदाहरण विद्वान् लोग इस प्रकार दिया करते हैं, मानलो कि—आपके सामने एक मुख देखनेका मैला दर्पण है, तुम मैलके कारणसे उसमें अपने मुखको नहीं देख सकते, परन्तु यदि किसी प्रकारसे उस मैलको दूर करदिया जाय तो उस स्वच्छ हुए दर्पणमें आपके मुखकी आकृतिको दिखानेकी योग्यता आजाती है, परन्तु इस दशामें भी यदि उस स्वच्छ हुए दर्पणको बराबर हिलाते रहो और उसको ठीक मुखके सामने न ठहरने दो तो उसमें मुखका प्रतिबिम्ब साफ २ नहीं पड़ सकता और मनुष्य अपने मुखकी आकृतिको उसमें सफाईके साथ नहीं देख सकता, परन्तु जब उस स्वच्छ दर्पणको बिना हिलाये ठीक मुखके सामने धर दिया जायगा तो उसमें मुखका आकार स्पष्ट रूपसे दीखने लगेगा, तो भी यदि अज्ञानवश इस बातका विश्वास न हो,कि—जो प्रतिबिम्ब दर्पणमें दीखरहा है वह देखने वालेकी ठीक ही आकृति है, तो ऐसी दशामें ज्ञानी पुरुष, उस अज्ञानीको जो अपने प्रतिबिम्बको देखकर हैरान होरहा है और उसको गैर समझ रहा है, इस प्रकार समझाता है, कि—तुझे दर्पणमें जो कुछ दीख रहा है वह तेरी ही ठीक आकृति

है, तुझसे गैर कुछ नहीं है और वास्तविक आकृति तथा चेष्टाको प्रतिबिम्बमेंकी आकृति और चेष्टाके साथ मिलाकर पूरा विश्वास करा देता है, कि-असली सूरत और उसके प्रतिबिम्बमें कुछ भी अन्तर नहीं है किंतु वे दोनों सर्वथा एक ही हैं, तब उसका अज्ञानका परदा (आवरण) दूर होजाता है और वह मनुष्य कहने लगता है, कि—हां मैं अब समझ गया, कि-जो आकृति मुझे दर्पणमें दीख रही है वह स्वयं मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं है तथा फिर वह बालककी समान अपने ही प्रतिबिम्बको गैर समझ कर न तो उससे प्रेम भाव ही दिखाता है और न उसको मारनेके लिये ही दौड़ता है। संस्कृतमें इसको ही आत्मज्ञान कहते हैं। वेद्भगवान्‌में इन तीन रीतियोंका वर्णन करनेके लिये अलग २ तीन भाग हैं। पहले भागका नाम कर्मकाण्ड है, दूसरे भागका नाम उपासना काण्ड है और तीसरे भागका नाम ज्ञानकाण्ड है। कर्मकाण्डका अनुष्ठान करनेसे पाप दूर होते हैं, उपासना करनेसे अन्तःकरणका विक्षेप अर्थात् मनकी चञ्चलता दूर होती है और आचार्यके मुखसे महावाक्यको सुनने पर मनुष्य ज्ञानवान् होकर "अहं ब्रह्मास्मि" का दावा करता है तथा कहता है कि-ब्रह्म अर्थात् आत्मासे पृथक् दूसरी कोई वस्तु नहीं है और मुझमें तथा ब्रह्ममें भी कोई भेद नहीं है। क्योंकि-वेद्भगवान् उन बातोंकी शिक्षा देते हैं कि-जो मनुष्यकी बुद्धि और अनुमानसे बाहर हैं, इसलिये वेद्के वाक्यको किसी मनुष्य की रचना (पौरुषेय) नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत भगवत्प्रणीत (अपौरुषेय) या

आकाशवाणीके नामसे कहा जाता है। आजतक कि
ने भी इस बातका दावा नहीं किया कि-वह वेदका
वेदके किसी मन्त्रका रचयिता है। जिस प्रजापति
संसारके आरम्भकालमें पूर्णज्ञानके द्वारा वेदोंका प्रका
और प्रचार किया वह स्वयं कहते हैं कि-हमने इन वेदों
ऐसा ही उन ज्ञानवान् पुरुषोंसे सुना था जिन्होंने ह
पूर्वसमयमें इसकी शिक्षा दी थी। इससे सिद्ध होता
कि-वेदको सदासे सुनते चले आरहे हैं और कभी किसी
इसका रचयिता होनेका दावा नहीं किया, यही कार
है, कि-वेदके वाक्यको श्रुति अर्थात् सुनाहुआ वाक्
कहते हैं और विज्ञानोंकी रचनाको स्मृति कहते
क्योंकि-वे याद करके रची गयी हैं। मोटी रीतिसे वेद
दो भाग माने जाते हैं-एक कर्मकाण्ड और दूसरा ज्ञान
काण्ड, क्योंकि—उपासनाकाण्डको ज्ञानकाण्डके
अन्तर्गत माना जाता है, वेदों और उपनिषदोंमें पहले
कर्मकाण्डका वर्णन किया गया है और अन्तिम भागमें
ज्ञानका, क्योंकि-ज्ञानका उपदेश साधारणतया वेदोंके
अन्तिम भागमें है, इसलिये ज्ञानकाण्डको 'वेदान्त
अर्थात् वेदका अन्तिम भाग भी कहा जाता है।

वेदोंकी शिक्षाके अनुसार बाबा नगीनासिंह साहब
वेदी वकील कपूरथलाने अपनी इस पुस्तक 'वेदानुवचन
में पहले कर्मकाण्डकी शिक्षा दी है और पीछेसे ज्ञान
काण्डका वर्णन किया है कर्मकाण्डमें दिखलाया गया है
कि-मनुष्य किस प्रकार उत्पन्न होता है और किन
सत्कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे देवता बनजाता है तथा
किन् असत् कर्मोंको करनेपर नरकमें जापड़ता है जिनको

तात्पर्य बाबा साहबने इस वेदानुवचनमें वर्णन किया है उन उपनिषदोंमें संक्षेपमें इस प्रकार वर्णन किया है, कि-मनुष्य अपनी इच्छा और प्रवृत्तिके अनुसार उसका अनुशीलन कर सकता है।

मरणकालमें जीवात्मा अपने निवासस्थान मनुष्य शरीरको त्याग देता है, परन्तु सर्वथा शरीरत्याग नहीं करसकता जीवनकालमें जीवात्मा अपने आपको शरीरसे अलग नहीं समझता और शरीरके भीतर अपना मुख्य सम्बन्ध मस्तिष्क (दिमाग) से रखता है। मस्तिष्क उसका निवासस्थान है, जहां कि-वह दरबार लगाकर हरएक प्रकारके विचार और प्रबन्ध करता है, जिस समय मनुष्यका प्राणवियोग होता है अर्थात् शरीरमेंसे प्राण निकलते हैं और प्राणवायुकी आवाजाई बन्द हो जाती है, उस समय सब लोग कहते हैं कि-अमुक मनुष्य मरगया, परन्तु जीवात्मा जिसको जीवनकालमें केवल अपना निवासस्थान ही नहीं समझता था, किन्तु जिसको अपना आपा समझता था उस शरीरसे संबंध सर्वथा नहीं त्याग देता है, किन्तु उदानवायु पर सवार हो उसके आसपास ही विद्यमान रहता है। वेदको जाननेवाले ब्राह्मण इस जीवात्माका शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद करानेकी इच्छासे इस शरीरको अग्निमें जला देते हैं। उस समय इस शरीरके तीन भाग होजाते हैं, पहला भाग धूम (धुआँ) दूसरी प्रज्वलित अग्नि और तीसरा भस्म। पहिले तो जीवात्मा अपना सम्बन्ध सब ही शरीरसे रखता था, परन्तु अब उस शरीरके तीन भाग होगये हैं और वे सर्वथा जुदे२ हैं।

इसलिये जिस भागकी ओरको उसका खास झुका (
(रगवत) होती है, उसके ही साथ सम्बन्ध पैदा क
लेता है और शेष दो भागोंसे जुदा होजाता है। य
जीवात्मा कर्मकाण्डी रहा है और एक ही शक्ति उस
अधिक है तो वह अपना सम्बन्ध प्रज्वलित हुई अ
से करलेता है और यदि उसका आचरण जीवनका
सत्कर्मनिष्ठ नहीं रहा है और साथ ही पितृकर्म आ
करता भी रहा है तो वह धूमके साथ सम्बन्ध पै
करता है और यदि उसका आचरण घोर तमोगुणी र
है तो वह भस्मके साथ अपना सम्बन्ध पैदा कर ले
है। शरीरको भस्म करनेके समय भिन्न२ जीवात्मा
का मार्ग भिन्न२ होता है और उस ही स्थानसे जीव
गतिका आरम्भ होता है। यदि जीवात्मा ऊपरको जा
लगता है तो उसको ऊर्ध्व गति कहते हैं और यदि नी
को गिरने लगता है तो उसको अधोगति कहते हैं
धुएँसे सम्बन्ध पैदा करलेने पर इसको धुएंके सा
चलना पड़ता है। धुआँ जल (माद्दए रतूवत) से पै
होता है और जलका देवता चन्द्रमा है, इसलि
जीवात्मा धुएँसे बादलमें और बादलसे चन्द्रमामें पहुँ
कर भोगोंको भोगता है, परन्तु यदि इसीप्रकारसे ज
जीवात्मा अपना सम्बन्ध प्रज्वलित अग्निके साथ पैदा
करलेता है तो प्रज्वलित अग्निसे दिनके प्रकाशमें (रोज
रोशन) और दिनके प्रकाशसे सूर्यलोकमें पहुँचता है
तथा सूर्यलोकमें देवता बनकर चिरकाल तक देवलोकके
सुख भोगता है, परन्तु जब जीवात्मा तमोगुणके कारण
से ऊपरको नहीं उठ सकता है तो अपना सम्बन्ध भस्म

(खाक) से पैदा करता है और वायुके द्वारा पृथिवी पर फैल जाता है। तब अनेकों प्रकारकी वनस्पतियें उसकी उत्पत्तिका कारण होती हैं, उनको कच्ची या पक जानेपर भाँति२ के पशु पक्षी कीट पतङ्ग खाजाते हैं और जीवात्मा उनसे सम्बन्ध पाजाता है। मनुष्य शरीर आदिकी उत्पत्तिको उपनिषदोंमें पञ्चाग्नि विद्याके नाम से भी प्रकट किया गया है और उनमें इसप्रकार वर्णन है, कि-पहले मनुष्य अन्नको खाता है, उससे वीर्य उत्पन्न होता है और उस वीर्यको मनुष्य स्त्रीकी योनि में आहुतिके रूपमें डालता है, जिससे बालक पैदा होता है। जब यह मनुष्य मर जाता है तो इसको अग्निमें जलाया जाता है' यह अग्निमें दूसरी आहुति होती है फिर जीवात्मा चन्द्रलोकमें आहुति होकर चन्द्ररूप हो जाता है और इसीप्रकार सूर्यलोकमें आहुति होकर सूर्यरूप होजाता है और इन दोनों लोकोंमें अपने कर्मों का फल भोगकर बादलोंमें को लौटकर वर्षाके द्वारा पृथिवीमें आहुति किया जाता है, इसका ही नाम पञ्चाग्नि विद्या है अर्थात् पहले वर्षाके द्वारा पृथिवीरूप अग्निमें आहुति, फिर वीर्य बनकर मातारूप अग्निमें आहुति, तीसरी साधारण अग्निमें शरीरकी आहुति चौथी चन्द्रलोकमें और पाँचवीं सूर्यलोकरूप अग्निमें आहुति दीजाती है। यह आवागमनका क्रम सदाकाल से चला आरहा है और जीवके संसारमें रहनेका कारण होरहा है। मनुष्य कर्मकाण्डकी शिक्षासे चन्द्रलोक और सूर्यलोकके सुखोंको प्राप्तकरते हैं। सूर्यलोकसे प्रजा-पति पर्यन्त पहुँच होसकती है। वहाँ प्रजापतिके ज्ञानो-

पदेश करनेसे जन्म मरणका बन्धन कटकर मुक्ति मि
सकती है। दूसरा शास्त्र कर्मकाण्डसे यह होता है, कि
मनुष्योंके अन्तःकरणोंका मैल दूर होकर अन्तःकर
स्वच्छ होजाता है और उपासनाके द्वारा मनकी स्थिरत
को पाकर ज्ञान अर्थात् ब्रह्मविद्याका अधिकारी होता
इसलिये पहले भागमें वेद शास्त्रकी आज्ञाके अनुसा
सत्कर्मोंके अनुष्ठानकी आज्ञा दी है और यह बात य
रखनी चाहिये कि–यह विद्या सब विद्याओंसे बड़
है और इसको पाजाने पर असीम समयके लिये सु
और भोग मिलते हैं, इसलिये प्रत्येक मनुष्यको इस
पानेका उद्योग करना चाहिये, क्योंकि–भुक्ति और मु
दोनोंका एक ही मार्ग है।

उपनिषदोंमें ब्रह्मविद्याका वर्णन अनेकों प्रकार
किया है, जिनमेंसे कुछ प्रकार बाबा नगीनासिंहजी
इस 'वेदानुवचन,' पुस्तकमें बहुत ही स्पष्टरूपसे वर्ण
करदिये हैं, परन्तु हरएक उपनिषद्में एक २ खास बा
ध्यान देनेके योग्य लिखी है, वह यह कि—ज्ञानका उ
देश अधिकारी मनुष्यको किया गया है। जिस२ योग्यत
के शिष्य ब्रह्मविद्याको सीखनेके लिये आचार्यके पा
आये, उनको उनकी योग्यता और समझके अनुसा
आचार्यने उपदेश किया है। कठउपनिषद्में नचिकेत
और यमका सम्वाद आया है। जिसमें यमराज उपदेश
करनेवाले थे और एक नचिकेता नामका छोटासा ना
समझ लड़का श्रद्धासे भरा हुआ मुक्तिका अभिलाषी
था। केन उपनिषद्में देवताओंको उमारूपी आचार्यने
यक्षका दृष्टान्त देकर उपदेश किया है। माण्डूक्य उप

निषद्में आचार्य प्रजापतिने उपदेश किया है और छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषद्में भिन्न२ प्रकारके अधिकारियोंका वर्णन किया गया है। नारदजीने विद्वान् होतेहुए भी सनकादि ऋषियोंसे उपदेश चाहा तब उन्होंने उनसे कहा कि-तुमने पहिले कौन२ सी विद्या सीखी है और इस बातको जान कर कि-नारद क्या शिक्षा पाचुका है, अब जो कुछ उपदेश करना शेष रह गया था उसका उपदेश किया। याज्ञवल्क्य और राजा जनककी कथामें दिखलाया है, कि-राजा जनकको अपनी विद्याका अभिमान था और याज्ञवल्क्यने उसको उपदेश दिया राजा इन्द्र और विरोचनकी कथामें दिखलाया है, कि-प्रजापतिने विरोचनको उसकी अज्ञताके कारण उसको ब्रह्मविद्याका उपदेश देना निरर्थक समझा और इन्द्रको बार बार करके १०१ वर्षमें ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। किसी २ स्थलमें दिखलाया गया है, कि-आकाशवाणीसे ज्ञानका उपदेश होगया या अग्निके शब्दसे अथवा बैलके शब्दसे कितने ही अधिकारियोंको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होगयी। एक स्थल पर अहङ्कारी पुत्रको पिताने उपदेश दिया है और एक स्थल पर याज्ञवल्क्यने अपनी स्त्री मैत्रेयीको उपदेश किया है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में वर्णन है, कि—ब्रह्मवादी आपसमें बैठकर वाद करनेलगे और वाद करते २ ही अभिलषित परिणाम पर पहुँच गये दूसरे स्थल पर वर्णन है, कि—ब्रह्मवादी ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास ब्रह्मको सीखनेके लिये गये और उनके उपदेशसे ब्रह्मवेत्ता होगये इस सबके कहनेका तात्पर्य

यह है, कि-ब्रह्मविद्याके अधिकारी हर अवस्थाके हो, गो पुरुष, मनुष्य, या देवता ऋषि या मुनि, गृहस्थी या विरक्त सब ही श्रेणीके हुए हैं यदि उनकी पिछले जन्मों में उपयुक्त साधना होचुकी है तो वर्त्तमान जन्ममें वर्णाश्रमव्यवस्था भी उनको ब्रह्मज्ञान पानेमें बाधक नहीं हुई है परन्तु अधिकारीके सिवाय किसी औरको (जिसके मल, विक्षेप और आवरण दोषगत जन्मों या इस जन्ममें दूर नहीं होपाये हैं उसको) ब्रह्मविद्याके उपदेशका वारम्बार निषेध किया है और कहीं २ तो ऐसा कहा है, कि-सिवाय पुत्रके या ऐसे शिष्यके जो गुरुको पिताकी समान मानता हो ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं देना चाहिये और इस विद्याको रहस्य (छिपाहुआ भेद) कहा है जैसा कि-ऊपर कहचुके हैं ब्रह्मविद्याके उपदेशके लिये आचार्य ऋषियोंने भिन्न २ रीतियोंसे काम लिया है।

ब्रह्मविद्याका स्पष्टरूपसे वर्णन करनेके पहले सृष्टिके विषयमें और मनुष्यकी उत्पत्तिके विषयमें वेद शास्त्रके अनुसार संक्षेपमें कुछ निवेदन कर देना आवश्यक है, जिसको कि-इस पुस्तक वेदानुवचनमें शाखा सहित उपनिषदोंके अनुसार विस्तारके साथ कहा है।

संसारमें जो पदार्थ विद्यमान हैं उनको विचारदृष्टिसे देखाजाय तो जड़ या चेतन जो कुछ भी है सब विभिन्न तत्त्वोंसे बनाहुआ है उन तत्त्वोंका यदि सूक्ष्मदृष्टिसे विवेचन किया जाय तो केवल पाँच ही तत्त्व पाये जाते हैं १-पृथ्वी (ठोस-कुन्जमिद् माद्दा) २-जल

(बहनेवाला माद्दा) ३-तेज (अग्नि या हरारत), ४-वायु (उड़नेवाला माद्दा) और ५-आकाश (जिसमें सबको रहनेका अवकाश मिलता है) इन पाँचों तत्त्वोंका मिला-हुआ होना ही इस बातका प्रमाण है, कि-किसी समय ये सब तत्त्व अलग २ विभक्त थे अर्थात् जगत्के वर्त्तमान पदार्थोंकी इस मिलित पाञ्चभौतिक अवस्था होनेसे पहले इनमेंके पाँचों तत्त्व अलग अलग थे इस अवस्थाका वर्णन भिन्न २ प्रकारसे है वेदोंमें इस विषय पर एक कथा है कि-ईश्वर पहिले एक अद्वितीय और अतर्क्य-(वे चूनोचरा) अवस्थामें सकल संसारकी प्रकृति (माद्देको) अपनेमें लीन किये हुए थे जैसे कि मनुष्य सुषुप्ति (वे ख्वाब गहरी नींदकी हालत) में होता है उस अवस्था से उठनेके साथ ही इच्छा उनको हुई कि-"एकोऽहं बहु स्याम्" मैं एक हूँ अनेक होजाऊँ यहां इच्छाका अर्थ स्वभाव (खास्सएजाती) है, यह ईश्वरकी इच्छा ऐसी इच्छा नहीं है जैसी कि मनुष्योंके चित्तमें किसी पदार्थके लिये उत्पन्न होती है। जैसे कि-जलाना अग्निका स्वभाव वा स्वाभाविकधर्म (खास्सएजाती) है और जैसे कि—मोती मणि आदिका चमकना, तारागणोंका जगमगाना और सूर्यका प्रकाशित होना स्वभाव (खास्सएजाती) है तो भी कहा जाता है, कि-सूर्यप्रकाश देरहा है, अग्नि जला रहा है, मोती चमका रहा है। जो स्वाभाविक धर्म होता है वह अपने आपको प्रकट करनेमें किसी दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता रखनेवाला (मुहताज) नहीं होता है।

परन्तु क्योंकि धर्म धर्मीमें रहता है इस लिये यद्यपि वह धर्म धर्मीका स्वयंस्वरूप (ऐन) ही हो तो भी कहने सुननेमें धर्मीको कर्ता (मालिक या फाइल) के रूपसे कहाजाता है । इस लिये यद्यपि ईश्वरमें यह धर्म स्वभावरूपसे रहता है, कि-उसमें एक समय जगत् लीन होकर समा कर रहे और दूसरे समय प्रकट होजाय, जैसे कि—मकड़ी एक समय अपने पेटमेंसे जालेको निकाल लेती है और दूसरे समय उस जालेको निगलकर अपने आपमें ही लीन करलेती है तो भी उस ईश्वरको, जिसका कि-यह स्वभाव है, सृष्टिकर्त्ता और प्रलयकर्त्ता नामसे कहाजाता है इसप्रकार ही जगत् की प्रकृति (माद्दे-बीज) के प्रकट होनेको उत्पत्ति और उसके लीन होनेको प्रलय कहते हैं, बस जब उत्पत्तिका समय आया, कि-अहङ्कार उत्पन्न होजाता है, यह अहङ्कार ही सांसारिक प्रकृतिकी संमिलितावस्थाके अस्तित्वको ठहराये हुए है इच्छा यह हुई थी कि-मैं एकसे अनेक होजाऊँ उस समय इस मिली हुई प्रकृति में, जिसमें भिन्न २ तत्त्वोंकी कुछ प्रतीति नहीं थी, भेदभाव उत्पन्न होगया अर्थात् बुद्धिकी उत्पत्ति होगयी इसने मिलित अवस्था (शकल) को तोड़ दिया और उसका परिणाम यह हुआ कि—उसमेंसे आकाश प्रकट होगया आकाशमें वायु चलनचेष्टा (हरकत) रूप होकर चलने लगा चलनेकी चेष्टासे तेज (गरमी-हरारत) उत्पन्न हुई और तेजके विद्यमान होनेसे वायुमें जो नमी का बीज (माद्दा) था वह पानी होकर बहगया और वह

पानी जब ठहरगया तो उससे पृथ्वीतत्त्व या ठोस पदार्थ प्रकट हुए अब भी हम देखते हैं कि–ठोस पदार्थ जैसे कि वृक्ष या दूसरे पौधे जिनसे अन्न उत्पन्न होता है वर्षा और जलसे उत्पन्न हुआ करते हैं और बिना जलके ठोस पदार्थोंका अस्तित्व नहीं रह सकता जल (आप रतूबत) के नष्ट होने पर पार्थिव पदार्थ सूखकर विशीर्ण और विनष्ट होजाते हैं जलका अस्तित्व तेज (हरारत) पर निर्भर है जब गरमी पूरे प्रमाण पर होती तो, तब आकाशसे वर्षा विभिन्न आकारोंमें प्रकट होती है। तेज (अग्नि-हरारत)का अस्तित्व और उत्पत्ति वायुसे है, क्यों कि-बिना वायुके आग नहीं जलती और यदि वायुको अग्निसे अलग करदिया जाय तो अग्नि तत्काल बुझजाती है। इससे सिद्ध हुआ कि--वायुसे ही अग्नि का अस्तित्व है वायुका अस्तित्व आकाशसे है, क्योंकि-- यदि खाली या अवकाश न हो तो वायुका चलन नहीं होसकता। जब ये पाँचों तत्त्व पृथक होगये तब इनका परस्पर मिलान अर्थात् पञ्चीकरण होने लगा, अर्थात् पृथ्वी में आधा भाग पृथ्वीतत्त्वका और आधेमें शेष चारों तत्त्वोंका आठवाँ २ भाग है। ऐसे ही जलमें आधा भाग जलका और शेष आधेमें अवशिष्ट चारों तत्त्वोंका आठवाँ भाग है। यही दशा तेज, वायु और आकाशकी है। इस मेलसे पाँच सूक्ष्म तत्त्व स्थूल होगये और उनका आकार स्पष्ट दीखने लगा। यदि पञ्चीकरण नहीं होता तो ये सूक्ष्मदशामें दीख ही नहीं सकते थे। पृथ्वीतत्त्वसे सूँघने का गोलक (नाक) उत्पन्न हुआ, जलसे रस (स्वाद),

अग्निसे रूप, वायुसे स्पर्श (लम्स) और आका[श से]
शब्द हुआ । शब्दसे कान, स्पर्शसे त्वचा, रूपसे [नेत्र]
(आँख), रससे रसना (जीभ) और गन्धसे नासि[का]
बनी । इनको पञ्चज्ञानेन्द्रिय (हवासेखम्सा) कहते [हैं ।]
फिर इनसे पाँच स्थूल इन्द्रियें (आलाते हरकत) उत्[पन्न]
हुईं अर्थात् पैर चलनेके लिये, गुदा मलको निकाल[नेके]
लिये, शिश्नेन्द्रिय मूत्र और वीर्यको गिरानेके लिये, [हाथ]
कार्यव्यवहार करनेके लिये और मुख खानेके लिये [ये]
कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं । इन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रि[यके]
अस्तित्वके लिये देवताओंकी आवश्यकता हुई, जि[नके]
बिना ये अपना २ काम नहीं कर सकतीं । तत्त्वों [पर]
ध्यान देनेसे प्रतीत होता है, कि-हर एकके तीन २ [अंश]
(औसाफ़) हैं, जिनको सत्त्वगुण, रजोगुण और तमो[गुण]
कहते हैं । सत्त्वगुणका स्वभाव प्रकाश (नूरानी) [और]
हलकापन है । रजोगुणका स्वभाव चलना है और तम[ो]
गुणका स्वभाव अन्धकार तथा भारीपन है । इन पाँ[च]
तत्त्वोंके सात्त्विक अंशसे अन्तःकरणकी और तमोगु[णी]
अंशसे स्थूल शरीरकी उत्पत्ति हुई, तथा रजोगुणी [अंश]
दोनों गुणोंके अंशोंको चलाने वाला है । वायु जिस[का]
अर्थ चलना है वह प्राणरूप होकर पाँच कामोंमें बटा[]
है । 'अन' पदका अर्थ है चलना और प्राण (प्र अन[)]
का अर्थ है अधिकतासे चलना । जो नाक और मुखमें [से]
निरन्तर चलता रहता है उसको प्राण कहते हैं । [जो]
गुदाके नीचे मेदेमें लेजाकर मलको बाहर निकाल देता [है]
उसको अपान कहते हैं और जो खाये हुएको पचा क[र]

रीरके अवयवोंको पुष्ट करता है उसको समान कहते
, जिसके विद्यमान होनेसे शरीरके विभिन्न अवयव
चेष्टा करते हैं उसको व्यान और मरने पर जीवात्मा
जिसके साथ (जिसके ऊपर सवार होकर) भ्रमण करता
उसको उदान कहते हैं। अन्तःकरण भी चार भागों
विभक्त होरहा है अर्थात् उसकी चार मूर्त्तियें देखनेमें
आती हैं। उनमेंसे एक मन है जो ज्ञानेन्द्रियके द्वारा
आने हुए पदार्थोंका मनन (खयाल) करता है। दूसरी
बुद्धि है जो उन पदार्थोंमें तथा पहले विचारोंमें भले बुरे
का ऊहापोह (तमीज) करती है। तीसरा चित्त है जो
दूसरी विषयोंकी अविद्यमान दशामें पहले देखे सुने
पदार्थोंका स्मरण करता है। चौथा अहङ्कार है कि—
जिसकी विद्यमानतामें अन्तःकरण अपना काम करता
। वास्तवमें अन्तःकरण पाँच तत्त्वोंका एक प्रकाशमय
(नूरानी) शरीर है। जिसमें आत्मज्योति स्पष्टरूपसे
प्रकट हुआ करती है, जिसको कि—आत्मप्रतिबिम्ब
(अक्स) कहते हैं, और इसका ही नाम जीवात्मा है।
बिम्ब (साहबे अक्स) आत्मा है। वेदमें कथा है, कि-
सृष्टिकी आदिमें प्रजापति इसप्रकार प्रकट हुआ, कि-
जैसे चनेका दाना होता है। अर्थात् जुड़ी हुई दो फाँकों
के आकारमें प्रकट हुआ। उसने अपने आपको देखा
और कहा, कि—'मैं हूँ' इसलिये उसका नाम 'अहम्' या
'मैं' हुआ। अब भी जब कोई मनुष्य दूसरेको पुकारता
है और पूछता है, कि-तू कौन है? तो वह उत्तरमें
कहता है कि—'मैं हूँ'। फिर प्रजापतिको अकेले होनेसे

कारण भय लगा, अब भी जब मनुष्य अकेला होता
तो भयभीत होजाता है। फिर प्रजापतिने ध्यान कि
कि—एक मैं ही हूँ, दूसरा कोई नहीं है और भय
दूसरेसे होता है, बस तत्काल भय दूर होगया।
भी जब भय होने पर मनुष्य विचारता है, कि—दू
तो कोई है नहीं फिर भय किसका ? बस भय दूर
जाता है। फिर प्रजापतिने कहा कि—मुझ अकेलेको
काम या मनोरञ्जनका साधन नहीं है। अब भी मनु
की प्रकृति यही है कि—जब अकेला होता है तब उ
रहता है। इस विचारके उत्पन्न होनेके साथ ही प्र
पतिके दो भाग होगये। एक भाग पुरुष जिसको
कहते हैं और दूसरा भाग स्त्री जिसको शतरूपा क
हैं, ये प्रकट हुए। इस पुरुषने स्त्रीके साथ मिथुन
किया जिससे मानवी सन्तान उत्पन्न हुई। ये स्त्री
पुरुष (मनु और शतरूपा) प्रजापतिसे प्रकट हुए
और पूर्व जन्मके पूर्ण अधिकारी थे, तदनन्तर शतरू
इस निरन्तरके भोगसे उकता कर यह चाहा, कि—कि
प्रकार मनु उसका पीछा छोड़ देय, तब उसने अ
आकारको बदल कर गौ घोड़ी आदिके विभिन्न
शरीर धारण किये, परन्तु मनु जो कामदेवके आवे
भर रहा था उसने इसका पीछा नहीं छोड़ा और
पक्षी आदिके जिस २ रूपको शतरूपा धारण करती
मनु भी उस ही उसके पुरुषरूपको धारण करता च
गया और इस प्रकार हरएक वस्तुकी उत्पत्ति होती च
गयी। अन्तमें शतरूपाने फिर मानुषी स्त्रीके रूप

और मनुने मनुष्य पुरुषके रूपको धारण किया। उस समय थककर मनुके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि—मैं क्या था और मैंने क्या काम करडाले तथा किस कामके लिये मेरी सृष्टि हुई थी? तब उसने यज्ञ किया और विधिपूर्वक विवाह करके सन्तान उत्पन्न की। सृष्टिकी उत्पत्ति या मनुष्य पशु पक्षी आदिकी उत्पत्ति उपनिषदोंमें भिन्न२ रीतिसे वर्णन की है, परन्तु परिणाम सबका एक ही है कि—एक समय ऐसा था, कि—जब जगत् वर्तमान रूपमें नहीं था, फिर धीरे२ मिलित रूपमें सृष्टि हुई और उसकी बढ़ौतरी होती चलीगयी तथा उन्नतिके अनन्तर फिर अवनति (जवाल) होते२ एक दिन आवेगा, कि—फिर सब मिलित प्रकृति विस्खलित होकर सब तत्त्व जुदे२ होजायँगे और वर्त्तमानरूप अन्तर्हित होजाएगा। इसका ही नाम प्रलय है तथा इसप्रकार ही यह परम्पराक्रम चलता रहेगा। मानो यह ईश्वरका निजस्वभाव है जैसे कि—तारागणमें जगमगाहट होती है अर्थात् एक बार फैलना और फिर सकुड़ जाना या जैसा सूर्यका उदय अस्त होना अथवा मनुष्यका सोना और जागना होता है, इसप्रकार ही एक बार ईश्वरमें जगत्का प्रकट होना और फिर विलीन होजाना है, यह सदा होता रहा है और होता रहेगा।

ब्रह्मज्ञान

जैसा पहिले कहा जाचुका है, कि—उपनिषदोंमें ब्रह्मज्ञानका उपदेश भिन्न२ प्रकारके अधिकारियोंको भिन्न२ रीतिसे किया गया है। उस उपदेशसे आत्माकी पह-

प्राप्त होती है। आत्मा सत् चित् आनन्दस्वरूप है और आत्माको छोड़कर जो अन्य सकल अनात्म पदार्थ हैं वे जड़ कहलाते हैं। जो पुरुष आत्मा और अनात्माके भेदको जानता है उसको आत्मज्ञानी वा ब्रह्मवेत्ता कहते हैं। जो सर्वव्यापक और समस्त पदार्थोंका जौहर है उसको आत्मा कहते हैं। सर्वव्यापक होनेसे सबमें विद्यमान है, इसलिये खोज करने पर सर्वत्र और सर्वदा मिल सकता है। अतः उसको खोजनेका सबसे अच्छा स्थान अपना शरीर है, मनुष्यके शरीरमें जो भाग जड़ और ठोस देखनेमें आता है, उसको अन्नमय कोश कहते हैं। मनुष्य शरीरमें आत्माके ऊपर यह पहला गिलाफ है और आत्मा इस अन्नमय कोशमें व्यापक है और इस कोश (खोल) की स्थितिका कारण है, हम देखते हैं, कि-इस अन्नमय कोशके भीतर प्राणोंकी आवाजाही होती है, ये प्राण सम्पूर्ण अन्नमयकोशके भीतर फैले हुए हैं, शरीरके जिस भागमें प्राणोंकी चेष्टा (हरकत) नहीं रहती है वह भाग जड़ या मुरदा होजाता है, शरीर में जितनी हरकत होती है उस सबका कारण प्राणमय कोश है, इसके ही भरोसे पर खून चलता है और शरीरमें चेष्टा होती है, यह प्राणमयकोश नामका दूसरा खोल है और आत्मा इसमें व्यापक है तथा यह स्वयं अन्नमयकोशमें व्यापक है, इन कोशोंके भीतर शरीरमें एक और खोल है जो इनसे श्रेष्ठ है और जिसको मनोमय कोश कहते हैं, क्योंकि—ज्ञानेन्द्रियें और कर्मेन्द्रियें मनके अधीन होकर काम करती हैं, पहले दोकी समा

इस कोशमें भी आत्मा व्यापक है और यह तीसरा खोल आत्माको ढकेहुये इस शरीरमें विद्यमान है और यह स्वयं पहले दोनों अन्नमय और प्राणमय कोशोंमें व्यापक है, इसके भीतर एक चौथा खोल और है, जो इससे भी श्रेष्ठतर है, जिसको कि—विज्ञानमय कोश कहते हैं मनोमय और प्राणमय कोश इस विज्ञानमय कोशके अधीन हैं, क्योंकि—जिस मनुष्यमें विज्ञान बढ़ाहुआ होता है वह मन और प्राणोंकी चेष्टाको रोक सकता है, आत्मा उसमें व्यापक है और आत्माकी विद्यमानतासे इसकी स्थिति है तथा यह स्वयं पहले तीन कोशमें व्यापक है, इसके भी भीतर एक पांचवाँ खोल है, जिसको आनन्दमय कोश कहते हैं। जिस समय मनुष्य घोर निद्रामें होता है तो जागने पर कहते हैं, कि—मैं बडे आरामसे सोया था। इस दशामें कि—जब कुल चेष्टायें और सकल चेष्टाओंको वशमें रखनेवाले कोश कुछ काम नहीं देते तब इस आनन्दमयकोशके आश्रयसे ही इस शरीर की स्थिति थी। आत्मा इस कोशमें व्यापक है और आत्माके भरोसे पर ही इस कोशकी स्थिति है। यह कोश-शेष चारों कोशोंमें व्यापक और उनकी स्थितिका कारण है आत्मा इन कोशोंमें व्यापक होकर भी इन कोशोंसे असङ्ग और सम्बन्धरहित है। इसका कुछ एक उदाहरण यह होसकता है कि—किसी बहुमूल्य पदार्थके ऊपर पाँच गिलाफ या पाँच खोल चढ़ेहुए हों तो यद्यपि वे गिलाफ अपना स्वरूप दिखानेमें और अपनी स्थितिमें उस वस्तुके अपेक्षी (मुहताज) होते हैं परन्तु

उस वस्तुको अपने अस्तित्वके लिये गिलाफोंकी अपे
(मुहताजगी) नहीं होती है और न गिलाफोंके कारण
वह वस्तु उनके साथ कोई ऐसा सम्बन्ध पैदा करती
कि-उनके जुदा होनेसे उसमें कोई हानि (नुक्स
पैदा होजाय।

इस प्रकार माण्डूक्य उपनिषद्में आत्माको जाग्र
स्वप्न और सुषुप्तिकी दशाओंसे असङ्ग अर्थात् सम्बन्
रहित बहुत ही स्पष्ट रूपसे दिखाया है। देखो—ज
मनुष्य जागता है तब जीवात्मा जाग्रत् अवस्था
साक्षी होता है। जब जाग्रत्के स्थानमें स्वप्नकी द
होती है तब स्वप्नावस्थाका साक्षी होता है और ज
गहरी अर्थात् स्वप्नशून्य सुषुप्ति अवस्थामें होता है
आनन्द और बेखबरीका साक्षी होता है। तात्पर्य य
है कि-जाग्रत अवस्थामें जीवात्मा स्वप्न और सुषु
अवस्थाकी अपेक्षा नहीं रखता और जब सोया हु
स्वप्न देखता है तब जाग्रत् और सुषुप्ति अवस्थाकी अपे
नहीं रखता तथा जब सुषुप्ति (बेख्वाब नींदकी) अव
में होता है तब जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाका मुहता
नहीं होता बस इससे सिद्ध हुआ, कि-यह आत्मा
एक दशामें तीनों अवस्थाओंसे जुदा और उनके सम्ब
से शून्य है तथा उनकी अपेक्षा नहीं रखता है परन्तु
एक अवस्था अपना वर्त्तमान स्वरूप दिखानेके लिये त
अपने अस्तित्वके लिये जीवात्माकी अपेक्षा रखती
परन्तु जीवात्मा अपने अस्तित्व (हस्ती) के लिये कि
अवस्थाकी अपेक्षा नहीं रखता। यह सत्य है, कि-

अवस्थाओंके विना जीवात्माको हमने कभी नहीं देखा, जब देखा तब किसी न किसी अवस्थामें वर्तमान देखा तो भी यह सर्वथा सिद्ध है, कि–जीवात्मा, जो कि–एक समय केवल पहली एक अवस्थामें विद्यमान होता है उस समय दूसरी दो अवस्थाओंसे उसका कुछ भी संबन्ध नहीं होता है। इस प्रकार ही जब दूसरी अवस्थामें विद्यमान होता है तब पहली और तीसरी अवस्थासे उसका कुछ सम्बन्ध नहीं होता है और जब तीसरी अवस्थामें विद्यमान होता है तब पहली और दूसरी अवस्थासे उसका कुछ सम्बन्ध नहीं होता है। बस यह हरएक अवस्थामें असङ्ग और अपने आनन्दस्वरूपमें स्थित रहता है। इस जीवात्मामें कुछ भेदभाव या रूपान्तर नहीं होता है, हाँ अवस्थाओंमें अदला-बदली हुआ करती है। जैसे एक प्रोफेसर या मास्टर एक कमरेमें बैठकर लड़कोंको पढ़ाता है और चार अलग २ दरजे भिन्न २ समय पर उससे शिक्षा पाते हैं। एक समय पहली कक्षा उससे पाठ पढ़ती है, फिर वह चली जाती है और दूसरी कक्षा उस कमरेमें प्रोफेसरके सामने आकर उपस्थित होजाती है और कहा जाता है कि–प्रोफेसर साहब पढ़ा रहे हैं। इसप्रकार ही तीसरी और चौथी कक्षायें एकके बाद दूसरी आकर पाठ पढ़जाती हैं, चारों कक्षाओंकी अदलाबदलीके समय प्रोफेसर साहब ज्योंके त्यों अपने कमरेमें स्थिर रूपसे बैठे रहते हैं, परन्तु भिन्न २ कक्षायें (दरजे) उसके सामने आती हैं और हरएक घण्टेमें किसी न किसी

कक्षाके साथ उसका सम्बन्ध बताया जाता है, इसप्रकार ही जीवात्मा सदा असङ्ग रहता है और उसके सामने जाग्रत् स्वप्न तथा सुषुप्तिकी अदला बदली होती रहती है, हरएक अवस्थाके साथ उसका क्षणिक (कुछ समय को) संबन्ध बताया जाता है। यद्यपि वास्तवमें आत्मा असङ्ग और सम्बन्धशून्य होता है, इसकी छानबीन आत्माके मानुषी शरीरमें कीगयी है और आत्माको शरीरसे अलग करके दिखलाया है। इसीप्रकार यदि और पदार्थोंकी भी छानबीन करें तो भी ऐसा ही परिणाम निकलेगा, जैसे कि-हम एक लाठी या एक पत्थरके टुकड़ेकी परीक्षा करें तो मालूम होगा कि-लाठीकी जो आकृति(सूरत) आँखके द्वारा दिखायी देती है वह लाठीके ऐसे गुण हैं जो आँखोंसे जाने जासकते हैं। इस प्रकार ही जो गुण शब्द आदि सुने जाने जासकते हैं। जो स्वादसे सम्बन्ध रखते हैं वे जीभसे जाने जासकते हैं। ऐसे ही जो नाकसे जाने जासकते हैं। और जो त्वचासे मालूम हो सकते हैं वे सब लाठीके गुण हैं, लाठी नहीं हैं, क्योंकि—जो कुछ हमने आँखों से देखा वह रङ्ग और आकृति थी, जो कानोंसे सुना वह उसका शब्द था, जो जीभसे चाखा वह उसका स्वाद था, जो त्वचासे जाना वह उसकी कोमलता और कठिनता आदि गुण थे, जो नासिकासे सूँघा गया वह उस की गन्ध थी;तात्पर्य यह है कि-जो कुछ ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा मालूम हुआ वे सब लाठीके गुण थे, लाठी नहीं थी। इस प्रकार लाठीके जो गुण मनके द्वारा मालूम हुए वे भी सब

गुणही हैं,लाठी नहीं हैं इसीप्रकार जो गुण अभीतक ज्ञात नहीं हुए हैं वे भी गुण ही हैं,लाठी नहीं हैं, बस जो कुछ ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा मालूम हुआ था मनके द्वारा जाना गया था जो अभीतक प्रकट ही नहीं हुआ है वह गुण मन है, लाठी नहीं है। वास्तविक लाठी अर्थात् आत्मा मन और वाणीसे पर है। इसलिये जाना नहीं जासकता जो कुछ जाना गया वह केवल गुण है जौहर नहीं हैं, गुण है असली पदार्थ नहीं है और अपने स्वरूपको दिखानेमें लाठीके अस्तित्वकी अपेक्षा रखता है, परन्तु लाठी अपने अस्तित्वके लिये उन गुणोंकी अपेक्षा नहीं रखती। क्योंकि-जब वृक्ष उत्पन्न नहीं हुआ था,केवल बीज ही विद्यमान था,उस समय जो गुण लाठीके हमने ज्ञानेन्द्रियें और मनके द्वारा जाने वे प्रकट नहीं थे और जब बीजसे वृक्ष उत्पन्न होकर लाठीके गुण प्रकट हुए तो लाठी उन गुणोंकी जो बीजकी दशामें अप्रकट थे अपेक्षा करनेवाली (मुहताज) न रही और जब फिर लाठीको जला दियाजाय तो पहले सबगुण अन्तर्धान होजाते हैं,तो भी लाठीका अस्तित्व बना ही (कायम) रहता है और वह उन गुणोंकी अपेक्षा नहीं रखती है, अतः लाठीका वास्तविक स्वरूप (ज़ात-ऐन) आत्मा है जो अपनी सत्तासे विद्यमान अद्वितीय त्रिकाल सत् है और किसी दूसरे पदार्थका अपेक्षी (मुहताज) नहीं है, परन्तु जो परिणामी-बदलनेवाले गुण इस लाठीके आश्रयसे देखे वे अपनी सत्तासे बने रहनेवाले (कायम बिलजात) नहीं हैं, किन्तु दूसरेके आश्रयसे रहनेवाले

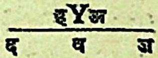
और बदलजानेवाले मालूम हुए। इसीप्रकार यदि सकल पदार्थोंकी छानबीन कीजाय तो जो कुछ प्रकट होरहा है उस सबका मूल नाम और रूप ही निकलेगा। उस नाम और रूपका अधिष्ठान जो आत्मा है वह मन और वाणी से पर पाया जाएगा। जो कुछ भेदभाव देखनेमें आ रहा है यह सब नाम और रूपमें है और जो इनसे पर है उसमें वाणीकी पहुँच नहीं है, इसलिये वह अकथनीय आत्मा सब स्थानोंमें और सब समय एकसा ही है, क्यों कि–उसमें भेद, नानापन या द्वैतभावका कहना बन ही नहीं सकता, इसलिये हरएक पदार्थ जो नाम रूप रखते हैं उन सबका आत्मा एक ही है, जिनमें किसी प्रकारके भेदभावको अवकाश नहीं है। यह आत्मा सर्वत्र है, इसलिये सर्वव्यापक है। सबका आश्रय है इसलिये सबका अधिष्ठान है। सकल चेष्टायें (हरकात) उसके आश्रयसे होती हैं इसलिये वह कर्त्ता माना गया है, वह नामरूपसे असङ्ग है नामरूपसे उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है इसलिये उसको अकर्त्ता भी कहते हैं।

पञ्चकोश और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाकी व्याख्या और लाठीके दृष्टान्तसे सिद्ध है, कि–आत्मा पञ्चकोशोंसे ढकाहुआ, सबमें व्यापक, सबका आधार, सबसे निराला और असङ्ग है। माण्डूक्य उपनिषद्में आत्मा को जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंका साक्षी कहा है। यह आत्मा तीनों अवस्थाओंके बदलनेका द्रष्टा है और उनके बदलनेसे स्वयं बदलता नहीं है प्रत्युत सदा एकरस साक्षी रूपसे अपने स्वरूपमें स्थि

रहता है। लाठीके दृष्टान्तसे दिखलाया गया है, कि-प्रत्येक पदार्थ जो नाम रूप रखता है उसमें जो कुछ ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा मालूम होता है या जो कुछ मनके द्वारा जानाजाता है या जो कुछ अभी जाना नहीं गया और आगेको जाना जा सकता है वह सब गुण (औसाफ) है, रूपान्तर होजानेवाला है, वह वस्तुका वास्तविक स्वरूप नहीं है, वस्तुका जो निजस्वरूप है वह मन और ज्ञानेन्द्रियोंसे पर है और ज्ञात तथा अज्ञात गुणोंका आधार आत्मा है। मन और ज्ञानेन्द्रियोंकी पहुँच उस तक नहीं हो सकती है, इसलिये उसके विषयमें न कुछ कहा जा सकता है और न कोई दृष्टान्त ही दिया जा सकता है। इसप्रकार जब यह आत्मा सर्वथा नामरूपसे अलग है और उनकी अपेक्षा भी नहीं रखता है तो किसी दशामें भी यह कर्त्ता नहीं होसकता। अब प्रश्न यह उठता है, कि-आत्मा किस कारणसे कर्त्ता होकर दिखलाई देता है और मनुष्यके शरीरमें कर्त्ता कौन है? हम पहले मनुष्य शरीरकी छानबीन करचुके हैं और हमने देखा है, कि-ऊपरका ठोस खोल (बेरूनी कसीफ गिलाफ) अन्नमय कोश रूपवाला है जो कि-रूपवाले तीन तत्त्व पृथिवी, जल और अग्निसे बना हुआ है। दूसरा गिलाफ प्राणमयकोश है जिसमें वायुकी वृद्धि है। तीसरा मनोमय कोश है, जिसको अन्तःकरण भी कहते हैं, यह अन्तःकरण तत्त्वोंके सत्वगुणी सूक्ष्म अंशसे बनाहुआ है, इस अन्तःकरणके सूक्ष्म अंशका नाम विज्ञानमयकोश है और इस शरीरमें यही विज्ञानमयकोश कर्त्ता, जानने

वाला फैसला करनेवाला मानागया है, क्योंकि-अन्त करण तत्त्वोंका सूक्ष्म अंश है इसलिये स्वच्छ है, मनु की मूर्तिका प्रतिबिम्ब पत्थरमें नहीं पड़ सकता, परन् दर्पणमें जो कि-पत्थरके स्वच्छ (नफीस) हिस्सों बनाया जाता है उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है।

इसप्रकार ही पंचीकृत तत्त्वोंके स्थूलभाग पर आत्म का प्रकाश नहीं होता, परन्तु उनके सूक्ष्म और स्वच भागमें आत्माका प्रकाश होता है। इस प्रकाशको आनन् मयकोश या जीवात्मा कहते हैं। जबतक अन्तःकरण अस्तित्व बना रहता है तबतक इस प्रकाशका अस्तित आत्मासे पृथक् होकर प्रतीत होता रहता है। हम पह बताचुके हैं कि-दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब दीखता है व वास्तविक बिम्ब (असली सूरत) से जिसका वह प्रति बिम्ब है, भिन्न नहीं होता है, किन्तु वही होता है मैंने अपनी अंगरेजी किताब [वैदिक फिलासफी] युक्तियोंके साथ दिखलाया है कि-मुख देखनेके दर्प में जो प्रतिबिम्ब दीखता है वह साइन्सके नियमके अनु सार उलटा होकर दीखने लगता है, क्योंकि-जो निय सूर्य या दूसरी प्रकाशकी किरणोंके प्रतिबिम्ब पड़ (मालूम होने) के विषयमें है, वही नियम दृष्टि किरणोंके विषयमें है। सूर्य विराटरूपकी आँख है इ प्रकार ही मनुष्यमें जो देखनेका गोलक है, वह आँख सूर्य और आँख दोनों एक ही प्रकृतिसे बने हुए हैं भेद केवल छोटे बड़े होनेका या स्थूल सूक्ष्म होनेका है नियम यह है कि जब किरणें किसी स्वच्छ पदार्थ

पड़ें और उसमेंसे रुकावट होनेके कारण निकलकर आगे को न जासकें (जैसे कि–शीशेकी पीठपर कलई करनेसे रुकावट होजाती है) तो वह किरणें लौट आती हैं जैसे कि- 

'अ' और 'च' किरन 'ज' 'द' भूमिपर पड़कर 'अ' 'ब' 'द' कोनेको उत्पन्न करती है, परन्तु 'अ' 'ब' किरण लौटनेके समय 'अ' 'ब' 'द' कोने को बराबर काटकर 'ब' 'ह' की लाइनमें लौटकर आ जाती हैं और 'ह' के स्थान पर जो पदार्थ विद्यमान हों उनको दिखाती हैं, क्योंकि रीति यह है कि–लौटनेके समय जो किरण किसी स्वच्छ स्थान पर पड़नेसे कौना पैदा होजाता है, प्रतिबिम्बित होनेवाली किरन उस कोने को बराबर काटकर लौट आती है और उस लौटनेके समय जिस स्थान पर जाकर रुकती है उसको दिखाती है। वह देखा हुआ पदार्थ वास्तवमें आँखकी उस किरण ने देखा है, जो आँखसे निकल कर गई थी, और कलई के रुकावटसे कारण लौट आई थी। दर्पणमें कोई सूरत प्रकट नहीं हुई यदि दर्पणमें कोई सूरत उत्पन्न होती तो बहुतसी सूरतोंके पैदा होनेसे दर्पण मैला होजाता, या बहुतसे मनुष्य एक ही दर्पणको सामने रखकर भिन्न २ सूरतें न देख सकते और संभव नहीं था कि–दर्पणके छोटेसे टुकड़ेमें मनुष्य बड़े भारी आकाशको या बड़े २ पहाड़ोंको या और बहुतसे दृश्योंको देख सकते। देखनेका विज्ञान यह है-कि–मन दृष्टिकी द्वारा बाहर निकल कर जिस पदार्थके साथ टकराता है उसकी ही सूरतका हो

जाता है, और उस मनके आकारको विज्ञान–आत्म
जान जाता है। यह आकार विज्ञानमय कोशमेंको निकल
कर जब आनन्दमयकोशमें पहुँचते हैं तो वहाँ, क्यों
मन और बुद्धिकी पहुँच नहीं है इसलिये, मिलित (म
मूर्धी) आकारमें विद्यमान रहते हैं, परन्तु मनका कि
पदार्थके साथ टकराना मनको हिला देता है और उ
समय मन लहरें लेने लगता है और मनकी उस लह
को वृत्ति कहते हैं, जब वह वृत्ति आनन्दमयकोशमें चल
जाती है तो उसको संस्कार कहते हैं। वास्तवमें निय
यह है कि–जब चेष्टा (स्पन्दन–हरकत) एकवार उत्पन्न
हो जाती है तो कभी वन्द नहीं होती किन्तु निरन्त
जारी रहती है। परन्तु जब सामने कोई विरुद्ध प्रकृ
विद्यमान होती है तो उससे टकराजाती है, और य
विरुद्ध पदार्थको हिला नहीं सकती है, तो लौट आत
है। यहाँसे लहरयुक्त हुए मनकी वृत्ति आनन्दमयको
में पहुँच कर न मालूम सी होजाती है परन्तु ना
नहीं होती है। क्योंकि–हम जानते हैं कि–जब मन
संकल्प विकल्पसे रोका जाता है, और हम समा
लगानेकी इच्छासे अलग एकान्तमें बैठजाते हैं और स
इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे जानेसे रोकने लगते हैं,
विना किसी इच्छा वल्कि रोकनेकी इच्छा होते हुए भ
यह वृत्तियां मनमें आकर उपस्थित होजाती हैं, जो चि
कालसे सोई हुईसी होचुकी थीं। उस समय य
बलात्कारसे आती हुई मालूम होती हैं। इससे प्रती
होता है कि—जो वृत्तियें संस्काररूप होकर आनन्द

मयकोशमें गई थी वे किसी विरुद्ध प्रकृतिसे टकराकर लौट आती हैं। आँखके द्वारा पैदा हुई वृत्तियों और संस्कारोंके लौटनेके विषयमें जो कुछ कहागया है, वही अन्य इन्द्रियोंसे पैदा होनेवाली वृत्तियों और संस्कारोंके विषयमें भी जानना चाहिये। इस वर्णनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि-वास्तवमें पदार्थोंको अनुभव करनेवाला (मालूम करनेका वाला) मन है, और वह चक्षुःवृत्तिके द्वारा बाहरी पदार्थोंके रूपको धारण करता है। बस, दर्पण बाहरी दृश्योंको किरणोंको प्रतिबिम्बित करनेका एक द्वार है और वास्तवमें असली पदार्थ जिसको आँख अपनी शक्तिसे नहीं देखसकती उसको दर्पणकी सहायतासे देखती है। दर्पणमें एक गुण यह भी है कि-बड़े को छोटा करके दिखाता है, और सीधेको उलटा करके दिखाता है। पानीमें हम देखते हैं कि—वृक्षकी चोटी नीचेको और जड़ ऊपरको दिखाई देती है। मुख देखने के दर्पणमें हमारा मुख दर्पणकी ओरको होता है। परन्तु जो प्रतिबिम्ब उस दर्पणमें है;वह क्योंकि-दृष्टिकी किरणें टकराकर लौट आती हैं और अपने मुख पर पड़ती हैं, इसलिये मुखको उलटा अर्थात् अपने ओरको रुख किये हुए दिखलाती हैं। दर्पणमें हम एक और भी आश्चर्य देखते हैं कि-दर्पणके हिलनेसे असली पदार्थ जो प्रतिबिम्बित होरहा है हिलताहुआ दीखने लगताहै। दर्पणकी चेष्टा (हरकात) असली पदार्थकी चेष्टा मालूम होती है। इसीप्रकार हम देखते हैं कि—अन्तःकरणमें जो आत्मासर्वव्यापक है वह परिछिन्न और छोटासा

मालूम होता है, जो सर्वशक्तिमान् है वह अल्पशक्ति और निर्बल मालूम होता है। जो सर्वव्यापक होनेके कारण स्थिर है वह अन्तःकरणके स्पन्दनसे चेष्टा करता हुआ सा मालूम पड़ता है। आत्मा सत्चित् आनन्दस्वरूप इसको सत् इसकारण कहते हैं, कि—सदा बना रहता कभी बदलता नहीं और न कहीं इसका नाश होता चित् इसलिये कहते हैं कि—साक्षी रूप है, और स्वयं कि पदार्थसे सम्बन्ध नहीं रखता और आनन्द इसकारण है कि—सुषुप्ति (बेख्वाब नींद) में हमने देखा है कि मनुष्य किसी तरहकी चेष्टा और ज्ञानावस्था न होने भी आनन्द पाता है, और इस लिये इसको आनन्दम कोश कहते हैं। क्योंकि—यह केवल प्रतिबिम्ब है इसलिये इसको पूर्णानन्द नहीं कहा गया, जो शुद्ध आत्मा है व पूर्णानन्द है।

ऊपरके लेखसे स्पष्ट है कि अन्तःकरणके सम्बन्ध जो प्रतिबिम्ब उसमें पड़ता है, वह हिलता हुआ मालूम होता है? और प्रतिबिम्बके हिलनेसे बिम्ब (असल के हिलनेकी कल्पना कर ली जाती है यह बात अज्ञा के कारणसे हुआ करती है, नहीं तो यह अच्छे प्रकार मालूम होचुका है कि—जो आत्मा सर्वव्यापक है सर्व विद्यमान है उसमें चेष्टा होनेका अवकाश नहीं है, क्यों चेष्टा खालीमें होती है जहाँ खाली हो आत्मा न हो व ही आत्मा चेष्टा कर सकता है। परन्तु जब हम दिख चुके हैं कि खालीका भी अधिष्ठान और आश्रय आत्मा ही है तो फिर आत्मा कहां चेष्टा करे और कि

स्थानको छोड़ कर किस दूसरे स्थान पर जाय। ऐसा तो ध्यान ही होना असम्भव है जो चेष्टाएँ जीवात्माको देखनेमें आती हैं वे अन्तःकरणकी हैं जिसमें जीवात्मा प्रतिबिम्ब रूपसे विद्यमान है। वास्तविक आत्मा अर्थात् बिम्बकी नहीं है क्योंकि उसमें चेष्टाका होना सम्भव ही नहीं है।

इस पुस्तक "वेदानुवचन" में बाबा नगीनासिंहने दीपक और सूर्यके दृष्टान्तसे दिखाया है, कि—उन चेष्टाओंका साक्षी जिम्मेदार नहीं होता, जो उसकी विद्यमानतामें होती हैं और जो काम उसकी विद्यमानतामें होते हैं, उनसे वह सदा स्वतन्त्र (आजाद) और अलग रहता है। इसप्रकार ही जानलेना चाहिये, कि—अन्तःकरणकी चेष्टाओंसे जीवात्मा और उसका बिम्ब आत्मा असङ्ग, स्वतन्त्र तथा अलग रहते हैं। परन्तु जिसप्रकार अनजान लोग, जिसका कोई आकार नहीं है उस आकाशको नीला या आँधीके समय खाकी कहते हैं, इसप्रकार ही अज्ञानी लोग अन्तःकरणकी चेष्टाओंको जीवात्मामें आरोपित करके उसको कर्त्ता भोक्ता, पाप पुण्य और भले बुरे लक्षणोंसे युक्त करके कहते हैं अर्थात् अन्तःकरणके गुण जीवात्माके गुण कहकर वर्णन कियेजाते हैं, परन्तु जब यह नासमझी दूर होजाती है तब प्रकट होता है, कि—जीवात्मा असङ्ग साक्षीरूप है। यहाँ पर यह प्रश्न उठना संभव है कि—इस संसारके उत्पन्न करनेका आदिकरण कौन है तथा अन्तःकरण तथा दूसरे पदार्थोंकी विद्यमानतामें चेष्टा कैसे होती है, इसका कारण कौन है? पहले कह-

चुके हैं कि—सांसारिक प्रकृति (दुनियावी माद्दा) एक गुणोतं
मयी प्रकृति (औसाफी माद्दा) है। जिस प्रकार मनुष्यरूप
परछाहीं मनुष्यके साथ रहती है, इसप्रकार ही यह प्रकृतिप
जिसको माया या अविद्या कहते हैं, आत्माके साथ प्रति
बिम्ब (परछाहीं) रूपमें रहती है। जिस प्रकार लाठी
गुण लाठीमें प्रतिबिम्ब रूपसे विद्यमान रहते हैं लाठी
अलग नहीं रहसकते। जिसप्रकार तारोंका डगमगाना
तारोंसे जुदा नहीं है, ऐसे ही यह प्रतिबिम्ब आत्मा
पृथक नहीं है। इसका विकाश जगत्की उत्पत्ति
इसका संकुचित होना (सुकड़ना) जगत्की प्रलय है,
यह प्रतिबिम्ब (झलक जल) आत्माके एक दोने
में रहता है जैसे मनुष्यकी छायामें, मनुष्यमें
लिये इस छाया क्योंकि—यह सर्वव्यापक नहीं
कल्पित चेष्टाका भान होता है इस प्रकृति अर्थात् आ
विषयमें पहिले लिखचुके हैं कि-यह तीन गुणोंका मिलित
रूप (मजमूआ) है और इन तीन गुणोंमें रजोगुण केवर्णन
चलन (चेष्टा-हरकत) रूप है इसलिये हिलना इसके
स्वाभाविक गुण है। और इस की हिलावट आत्मा
एक शान है, और उस हिलावटका वापिस होना है,
एक प्रकारकी चेष्टा है जिसको प्रलय कहते हैं, यह आत्म
की दूसरी शान है। यह दोनों अवस्थायें अपने अस्तित्व
और स्वरूपको प्रकट करनेके लिये आत्माकी अपेक्षा रख
हैं, आत्मा इनकी अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि—पूर्ण प्रकृ
का एक अंश चेष्टारूप है, इसलिये हरएक पदार्थमें चे
(हरकतका) स्वरूप पाते हैं और चेष्टा सदा अचेतन

होती है। चेतन साक्षी सदा एकरस रहता है अन्तः-करण जोकि-सांसारिक प्रकृतिका श्रेष्ठ अंश है, उसमेंबड़ी स्पष्ट रीतिसे चेष्टाका स्वरूप मालूम होता रहता है इसके सिवाय निर्विकल्प समाधिका या सुषुप्तिकी अवस्थाकी ऐसा कोई समय नहीं होता कि—जब चेष्टा मालूम न हो। दूसरे प्राकृतिक पदार्थोंमें स्थूलता होनेके कारणसे जैसे कि—पत्थरमें स्थूलदृष्टिसे चेष्टा होती हुई नहीं दीखती, परन्तु विज्ञानके द्वारा सबको मालूम है, कि—चेष्टा (हरकत) प्रत्येक पदार्थमें हरसमय होती रहती है, और यही कारण प्रत्येक पदार्थका क्षय और वृद्धि होनेका है। इस नियमको ध्यानमें रखकर भारतवर्षके विज्ञानियोंने दृष्टिसृष्टिवादका वर्णन किया है। वे कहते हैं कि—हरएक क्षणमें नई सृष्टि उत्पन्न होती है, क्योंकि चेष्टा होते रहनेके कारण उसमें हरएक क्षणमें परिणाम होता रहता है। इस विषयको अधिक विस्तारके साथ वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, क्योंकि-विवेकी पुरुष जानते हैं, कि—चेष्टा (हरकत) सांसारिक प्रकृतिका स्वाभाविक गुण है, और यह सदा हुआ करती है, होती रही है, और होती रहेगी। इसकी चेष्टाओंको अज्ञानीपुरुष चेतन आत्मा और जीवात्माकी चेष्टायें कहते हैं। यह उनका कहना सर्वथा मिथ्या और सृष्टि नियमके विरुद्ध है। उनकी यह दृष्टि ऐसी ही है, कि—जैसे कोई दर्पणकी चेष्टाओंको बिम्ब (अक्स या साहबे अक्स) की चेष्टायें मानलेय। इसप्रकार ही कोई २ पुरुष अन्तःकरणके धर्मोंको जीवात्माके धर्म मान लेते

हैं। जैसे बालक चन्द्रमाके ऊपर बादलोंको चलते [illegible] देखकर कहते हैं कि-चन्द्रमा दौड़ता हुआ चलाजाता है, और रेलमें बैठेहुए हम खुद दौड़तेहुए जाते हैं, परन्तु इधर उधरके स्थिर पदार्थोंको दौड़ते हुएसे देखते [illegible] इसप्रकार ही असङ्ग और अकर्ता आत्माको अज्ञा[illegible] पुरुष संगवाला और कर्ता कहते हैं। वास्तवमें [illegible] और (आना,जाना और उसके कार्य (इन्द्रियोंसे विषय[illegible] सम्बन्ध होना) अन्तःकरण आदिके धर्म हैं।

मुक्ति (निजात) —

'मुक्ति' शब्दका अर्थ है-कैद (संसारबन्धन) [illegible] छूटना। अब यहाँ प्रश्न यह उठता है, कि कैदसे [illegible] छूटना है और वह कैद जिससे छूटना है, किस प्र[illegible] का है। हम पीछे कहचुके हैं, कि—आत्मा स्वत[illegible] (आज़ाद मुतलक़) है और सर्वथा पूर्ण है, इस [illegible] यह किसी प्रकार भी कैद या पराधीन नहीं होसक[illegible] रहा जीवात्मा, उसकी आलोचना (तहक़ीक़ात) [illegible] हम कर चुके हैं। आत्माका जो प्रकाश (इज़हार) अन्त[illegible] करणमें होरहा है, उस प्रकाशको ही जीवात्मा कहते [illegible] हैं। जब तक अन्तःकरणका अस्तित्व (वजूद) रहता [illegible] तबतक उसमें आत्माके सत् चित् आनन्द स्वरूप[illegible] प्रतीति बराबर होती है और अंतःकरणकी विद्यमानता[illegible] कारण वह आत्मासे जुदा होकर दिखायी देता है [illegible] ऐसा प्रतीत होता है, कि मानो वास्तवमें यह एक आ[illegible] से जुदा पदार्थ है। ब्रह्मविद्याके भेदको जाननेवाले [illegible] [illegible] योग्य और प्यारे शिष्योंको इसका रहस्य सम[illegible]

के लिये यह दृष्टान्त दिया करते हैं, कि सूर्यकी धूप ...दानमें एक स्थानकी दीवार पर पड़कर उसको प्रकाशित (...नव्वर) करती है अथवा एक कमरेमें जलता हुआ ...तीलसोत या लेम्प चारों ओरकी दीवारोंको प्रकाशित करता है, परन्तु यदि सूर्य या लेम्पके सामने एक मुख देखनेका स्वच्छ दर्पण रखदिया जाय तो दर्पणके आकारके अनुसार एक दूसरा प्रकाशमय टुकड़ा सूर्य या लेम्पकी रोशनीसे प्रकाशित हुई दीवार पर चमकता हुआ दीखने लगता है। यदि उस दर्पणको हिलादो तो वह प्रकाश-...ग टुकड़ा (दर्पणकी चमक) हिलता हुआ दीखने लगता है और उसको ऊपर नीचेको करो तो ऊपरनीचेको होता ...आ दीखने लगता है। यह प्रकाश दुगना प्रकाश है। दीवार पर एकतो पहले ही सूर्यका प्रकाश पड़ रहा था, किन्तु उस पर उससे अधिक दूसरा प्रकाश दर्पणके प्रतिबिम्बके कारण प्रकट होकर वास्तविक प्रकाशसे अलग दीखने लगा और दर्पणकी चेष्टा (हरकत) से चेष्टा करता हुआसा प्रतीत होने लगा। इसको बाबा ...शीनासिंहजी जैसे ब्रह्मविद्याके विचारशील, त्रिगुण ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म तो सब जगह विद्यमान है, परन्तु जहां अन्तःकरणका दर्पण होता है वहां चेतन आत्माका आभास (प्रतिबिम्ब अक्स) साधारण चेतनसे दुगना और उससे अलग प्रतीत होता है। चेतन आत्मा तो अकर्त्ता, अभोक्ता और असङ्ग (बेताल्लुक) है, परन्तु यह त्रिगुण ब्रह्म जिसको सर्वसाधारण जीवात्मा नामसे पुकारते हैं, अन्तःकरणकी चेष्टा (हरकत) के कारण

चेष्टा करता हुआ, भोग करता हुआ और सङ्गी (सं
सम्बन्धवाला) मालूम होता है। वास्तवमें तो जि
प्रकार बिम्बरूप आत्मा असङ्ग अकर्त्ता और अभो
है, तैसा ही उसका प्रतिबिम्ब जीवात्मा भी है, जो
बिम्बसे भिन्न (असलसे गैर) नहीं है। परन्तु ऐसा
हुए भी दर्पणकी उपाधिके कारण दर्पणमें बँधाहुआ
की चेष्टा करनेवाला और टूटेहुए दर्पणके कारण टूटी
आकृतिवाला तथा दर्पणके हटजाने पर हटजानेवा
प्रतीत होता है और जबतक यह अन्तःकरणरूप द
विद्यमान रहताहै तबतक अज्ञानीको मानो सदा ऐसा
बनारहेगा ऐसा प्रतीत होता है और वह उसकोही क
भोक्ता, ज्ञानी अज्ञानी, सुखी दुःखी और जन्मने म
वाला समझता है। परन्तु ज्ञानी पुरुष दर्पण (अ
करण) के विद्यमान होते हुएभी जीवात्माको, इसका
कि—वह स्वयं आत्मा है और केवल अन्तःकरण
दर्पणके कारण प्रतिबिम्बित (माकूस) हुआ २ जु
होकर दिखलायी देता है, उसको साक्षात् आ
ही जानता है और विश्वास करता है, कि—जीवा
आत्मासे जुदा नहीं है, किन्तु वह ही है यदि एक सू
सामने दश हजार दर्पण या पानीसे भरे पात्र रख
जायँ तो हरएक दर्पणमें और हरएक बरतनमें एक
देखेगा, तोभी सब कोई जानते हैं कि—सूर्य एक ही
परन्तु दर्पणोंकी और पानीभरे बरतनोंकी उपा
कारण हरएक दर्पण और बरतनमें अलग२ सूर्य दी
है इसप्रकार ही ज्ञानवान् जानता है, कि—एक ही आ

सर्वत्र व्यापक है, परंतु भिन्न २ अंतःकरणोंकी उपाधियोंके कारण भिन्न २ हुआसा देखनेमें आता है जिस प्रकार यदि दर्पणमें दरार पड़ जाय और दो टुकडे होकर नीचा ऊँचा होजाय तो प्रतिबिंबमेंभी वह दोष (नुक्स) आजाते हैं दर्पणकी दरारसे प्रतिबिंबमें दरार और ऊँचाई नीचाई दिखाई देने लगती है तथापि प्रतिबिंबवाला पदार्थ ज्योंका त्यों होता है इसप्रकार ही अन्तःकरणका दोष या उसका उच्च नीचभाव जीवात्माको विकारी अर्थात् पुण्य-पाप-वाला या उत्साही या निरुत्साह करके दिखाता है वास्तवमें आत्माका इन लक्षणों (सिफतों) से या इन दोषोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। वह ज्योंका त्यों अपने स्वरूपमें स्थित रहता है। अब हम देखते हैं, जबतक अन्तःकरणरूप दर्पण विद्यमान रहता है तबतक जीवात्मा बन्धनमें पड़ा हुआ और कर्त्ता भोक्ता की समान मालूम होता है; तथा जन्मता मरता (आवा-गमनके चक्रमें घूमता) हुआ प्रतीत होता है।

आवागमनका कारण कर्मोंके प्रकम्पन (हरकत) के संस्कार Impressions हैं, जो मरनेके समय आनन्दमय-कोश अर्थात् जीवात्मामें बीजरूपसे रहते हैं। जिस प्रकार बीज उपजाऊ (जरखेज) भूमिमें डालनेसे अंकुरित होते हैं, इसप्रकार ही जब ये संस्कार अन्तःकरणमेंको लौटते हैं तो भोग करानेके योग्य शरीरको उत्पन्न कर इच्छाओं को पूरा करने हुए और नये कर्मोंको कराते हुए आगेके संस्कारोंके भण्डार (ज़खीरा) को बढ़ाते हुए जीवात्मा को संसारमें भटकाते हैं। जब परमात्माकी दयासे अन्तः-

करण निर्मल होजाता है,मल दूर होजाता है और उपासना-ध्यानसे अन्तःकरणकी चञ्चलता दूर होकर स्थिर हुए दर्पणकी समान सङ्कल्पविकल्प (तखय्युलात) कम जाते हैं और उसका विज्ञान ज़ोर पकड़जाता है तथा उसके वशमें होजाता है, तब निर्विकल्प समाधि अवस्था में मनका प्रकम्पन रुकजाता है और जीवात्मा अपने स्वरूपमें स्थित होजाता है। जिसप्रकार मनुष्य सुषुप्ति अवस्था (बेख्वाब) नींदसे जाग कर उस अवस्थाके सुख का अनुभव करता हुआ उसका वर्णन करता है, इस प्रकार ही अज्ञानरूपी नींदसे जागा हुआ और समाधिसे उठकर विज्ञानात्मा निर्विकल्प समाधिमें विद्यमान रहने वाले आत्माका सत् चित् आनन्द स्वरूपसे वर्णन करता है। जब विज्ञानात्मा इसप्रकारसे आत्मद्रष्टा होजाता है, तब फिर उसको इच्छित पदार्थोंको पानेकी या मनको अच्छे न लगनेवाले घृणित पदार्थोंको दूर करनेकी इच्छा नहीं रहती है। फिर न कोई शत्रु होता है न कोई मित्र, जब कि-यह आपको स्वयं सबका आत्मा देखता है तो फिर किससे प्रेम करे और किससे घृणा या शत्रुता करे? जब यह दशा होजाती है तब भिन्न २ पदार्थोंकी इसकी चाहना नहीं रहती,इस कारण आगेके लिये कोई नये विचार पैदा नहीं करता है विवश हुआसा करता है, चित्तके उत्साह (शौक) से नहीं करता अतः जो प्रकम्पन (हरकात) इसके कर्मसे उत्पन्न होते हैं वे बहुत कमज़ोर होते हैं? यहाँतक कि-इन्द्रियोंकी चेष्टासे मन भी सचेष्ट नहीं होता है और यदि मनमें प्रकम्पन उत्पन्न

हो भी जाय तो विज्ञानकी मजबूत दीवारसे टक्कर खाकर लौट जाता है और विज्ञानरूप हाकिम ऐसे प्रकम्पन (हरकात) को आनन्दमय कोशमें जानेकी कदापि आज्ञा नहीं देता। जिस तरह प्रकाशयुक्त (मुनव्वर) और बलवान् हुआ ज्ञानी पुरुषका विज्ञान बाहरी विचारोंको भीतर नहीं आने देता इस तरह ही उन संस्कारोंको जो आनन्दमय कोशमें अनेकों जन्मोंसे जमा हैं अन्तःकरण जो संस्कारोंके अंकुरित होकर बढ़नेकी भूमि है, लौटने के लिये बाधक होता है, क्योंकि-अब उसको आगेकी आवश्यकताओंको सोचनेकी जरूरत नहीं रहती और किन्हीं इच्छाओंके पूरी करनेकी कामना भी शेष नहीं रहती है। प्रारब्धसे सामने आये हुए जो भले या बुरे कर्मों के फल (भोग) उसको मिलते हैं, उनको किसी तरहकी आसक्ति या घृणा न करके भोगता है। सबसे अलग और उदासीन रहता है॥ अब उसके लिये कोई शोकका कारण है न हर्षका कारण है। न उसको किसी पदार्थके नष्ट होनेका भय है और न किसी पदार्थके मिल जानेका हर्ष। न उसका कोई मित्र है, न शत्रु है। न उसका कोई सम्बन्धी है और न वह किसीका सम्बन्धी है। माता पिता और लज्जा आदिके व्यवहारसे वह दूर है। ऐसा मालदार कि-जिसको किसी पदार्थकी चाहना शेष है। वह बड़ोंसे बड़ा और छोटेसे छोटा, पवित्रसे पवित्र और सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है। तात्पर्य यह है कि उसको सब कुछ प्राप्त होगया है। वह अपने आपको सबमें सब कुछ देखता है। आनन्दरूप जीवनको भोगता है। यह

दशा ज्ञानवान्के जीवनमें होती है और ऐसी अवस्था
होनेपर वह जीवन्मुक्त कहलाता है। मरण होनेपर उसकी
कोई गति नहीं होती उसके प्राणवायुमें उसका तेज (हरारत)
अग्निमें, जल जलमें और पृथिवी पृथिवीमें समाजाती
है। उसका अन्तःकरण कल्लड़ भूमिकी समान होजाता
है, जिसमें न खाद ही डाला जाता है और न बीज
बोया जाता है और जब विज्ञानने जीवात्माको कल्पित
बन्धन (फरजी कैद) से छुटा दिया तो अब उसको
कुछ काम करना शेष न रहा। जिसतरह दवाग्नि
से उत्पन्न होकर उस बनको जला देनेपर अपने आप भी
शान्त होजाती है। जैसे फटकरी आदि पदार्थ मैले जल
में डालेजाने पर मैलको साथमें लेकर नीचे बैठजाते
ऐसे ही मायाके सत्वगुणी अंशसे उत्पन्न हुआ ज्ञान उसी
आवरणको कि–जो जीवात्मा और परमात्माका कल्पित
भेद कररहा था, दूर करके अपने आप भी विराट्
विज्ञानमयकोशमें समाजाता है। ऐसे ही अन्तःकरण
दूसरे भाग भी विराट्के अन्तःकरणमें समाजाते हैं
अंतःकरणरूप दर्पणके भाग जुदे २ होजाने पर वह दर्पण
विलीन (लापता) होजाता है। दर्पणके दूर होने जो प्रति
बिंब उसमें चेतनाभास रूप होकर दिखलाई देता था
स्वयं ही दूर होजाता है और कहाजाता है कि–जीवात्मा
मुक्त होगया अर्थात् जो त्रिगुण ब्रह्म अन्तःकरणरूप दर्पण
के कारणसे था वह दूर होगया। जैसे दीवार पर दर्पण
के कारणसे जो दूसरा प्रकाश पड़ता है वह दर्पणको दूर
करनेसे दूर होजाता है। ऐसे ही जीवात्मा जो अपने

स्थाब्रह्म) से जुदा होकर दिखाई देता था अब अन्तःकरणके
कीनष्ट होजानेसे दिखलायी नहीं देता, यही मुक्ति है।
रा संस्कृतके विज्ञानवेत्ताओंका कथन है, कि–संसारमें पदा-
तीको पानेकी दो रीतियें हैं–प्रथम तो यह कि–यदि किसी
ता पास कोई पदार्थ न हो और वह उसको मिलजाय तो
ईसको अप्राप्तकी प्राप्ति कहते हैं और दूसरी यह कि—
पत्ावश्यक पदार्थ पास तो हो परंतु ध्यान न रहनेसे उसका
भरण न रहा हो,इस दशामें जब स्मरण आजाता है तो
पहता है, कि–"जिस पदार्थको खोज रहाथा वह मुझको
मीलगया"। इसको प्राप्तकी प्राप्ति कहते हैं। यही दशा
जक्तिकी है। कोई नया पदार्थ प्राप्त नहीं किया गया।
गत्मा सदा स्वतन्त्र, मुक्त तथा असङ्ग था और रहेगा
यही दशा उसके प्रतिबिंबकी है, जो कि–बिंबका ही रूप
पत परन्तु अज्ञानके कारणसे अपने आपको जुदा मानकर
दुःखी दुःखी होता हुआ मालूम होता था जब अज्ञान दूर
आ तो समझता है, कि–मुक्ति मिलगयी। वास्तवमें
ोई नयी वस्तु नहीं मिली,जो वस्तु मिली वह तो पहले
ही विद्यमान थी। इसको ही प्राप्तकी प्राप्ति कहते हैं।

कहा गया है, कि–जब ज्ञानवान्का मरण होता है तो
सके शरीरके तत्त्व विराटके तत्त्वोंमें और उसका अन्तः-
करण विराटके अन्तःकरणमें समाजाता है। जो सम्बन्ध
सूक्ष्म शरीरका था वह टूटजाता है और जो अन्तःकरण
के सम्बन्धके कारणसे जन्म मरण होता था वह नहीं
होता परंतु जो सञ्चित कर्म संस्काररूपसे आनंदमयकोश
में विद्यमान थे और जिनको विज्ञानमयकोशने अन्तः-

करणमेंको लौटनेसे रोक दिया था, उनके विषाक
नहीं बताया गया, कि-उनकी क्या दशा हुई। ये संस्का
भले बुरे कर्मोंका फलरूप होते हैं। आनन्दमयकोश फल
अन्तःकरणका नाश होनेपर जिनके साथ उनका सं मु
था वे अनाथ (लावारिस) होजाते हैं, परन्तु प्रकृति
(नेचर) के भीतर हम देखते हैं कि-एक प्रकारके प्रयोग
परस्पर एक दूसरेकी ओरको चाहना करते हैं-खिचे
जाया करते हैं। इसलिये जो लोग ज्ञानवान् पुरुषके देहक
नाश होने पर उसके असत् कर्मोंका स्मरण करते हैं, कि
उन लोगोंके साथ उसके असत् संस्कार अपना सम्बन्ध
करलेते हैं और जो लोग ज्ञानीके सत्-कर्मोंका स्म
करते हैं, उनके साथ उसके सत्कर्मोंके संस्कार अ
सम्बन्ध पैदा कर लेते हैं। इसलिये ही सर्वसाधा
पुरुष जब किसी मृतक मनुष्यको मरघटमें लेजाते हैं
कहा करते हैं, कि मृतककी भलाइयोंको याद क
चाहिये और उसकी बुराइयोंकी बातें नहीं कहनी चा
तथा स्पष्टरूपसे सब कोई शिक्षा दिया करते हैं, कि
मरगया उसके खोटे कामोंको-उसकी बुराइयोंको
मत करो। वास्तवमें उसका यह कारण है, कि-सब
नहीं जान सकते, कि-जो मनुष्य मरा है वह ज्ञान
था या अज्ञानी था, इसकारण वह डरते हैं, कि-यदि
मरनेवाला मनुष्य ज्ञानी हुआ तो इसके कर्मोंके सं
कहीं अशरण (लावारिस) होते हुए याद करने
मनुष्यके साथ अपना सम्बन्ध पैदा न करलें!
मृतकके पापोंका फल उसके असत्कर्मोंको स्मरण

वालोंको भोगना न पड़े तथा उसके सत्कर्मोंको याद करने
र्मोंका उपदेश इसलिये देते हैं, कि- मृत पुरुषके सत्कर्मोंका
फल उनको प्राप्त होजाय।

मुझे आशा है, कि-इस भूमिकाके पढ़नेवालोंको ब्रह्म-
विद्याके मार्गमें प्रवेश करनेमें सहायता मिलेगी। जो
लोग "वेदानुवचन" को विचारदृष्टिसे देखेंगे और बार२
पढ़ कर समझनेका उद्योग करेंगे उनका अज्ञानका
परदा-मायाका आवरण अवश्य दूर होजायगा, उनको
मुक्ति प्राप्त होगी और इस संसारमें जीवन्मुक्तिका सुख
उठायेंगे। ॐ शान्तिः शान्तिः।

निवेदक—

हरनारायण, होम मिनिस्टर

जम्मू व काश्मीर

॥ श्रीः ॥

वेदानुवचन

आरम्भिक वक्तव्य

(१)-यह निबन्ध वेद भगवान्की शुद्ध शिक्षा लिये स्वतन्त्ररूपसे सम्पादन किया गया है और भा मात्र जाननेवाले मनुष्योंके मिलापके लिये एक अ वकील बनाया गया है, इसलिये जो कोई इसको सुन है वह बगैर रोकटोकके ब्रह्मलोकरूप आसमानी दरब में चलाजाता है और प्रजापतिसे मेल पाजाता है।

(२)-इसकी शिक्षा वास्तवमें मानुषी नहीं है, कि वही प्राकृतिक (कुदरती) है जो परमेष्ठी आदि ऋषि ने साक्षात् ब्रह्माजीसे पायी है और दो वंशके ऋषियों द्वारा, जो एक स्त्रीवंश और दूसरा पुरुषवंश है हमत चली आयी है।

(३) अब मैं तुम्हें शुभ समाचार सुनाता हूँ कि वेद भगवान्के द्वारा हमको मालूम हुआ है कि-तुम मिलापके लिये प्रकृतिने एक ऐसा सुन्दर नियम बनादि है, कि जिसके कारणसे तुम देवताओंके सूक्ष्मलोक पहुँच सकते हो और भुक्ति मुक्ति पा सकते हो।

(४)—यह नियम ऐसा है कि—जैसे यहाँ गवर्नमेंटकी प्रतिज्ञा है कि—जो संसारी विद्याओंका सार्टिफिकेट पा लेता है और सदाचरण होता है वही सरकारी कामके योग्य समझाजाता है और बड़े हाकिमोंके दरबारमें पहुँच जाता है।

(५)—मैं सत्य कहता हूँ, कि—जिसप्रकार संसारी विद्याओंके प्रतापसे तुम संसारी धनसम्पदा पाजाते हो और यहाँ हाकिमोंके सामने तुम्हें कुरसी मिलती है तथा प्रतिष्ठा पाते हो, इसप्रकार ही इस प्राकृतिक शिक्षाके प्रभावसे तुमको ब्रह्मलोकके भोग मिल सकते हैं और उसके मुख्य दरबारमें स्थान तथा प्रतिष्ठा पासकते हो।

(६)—जिस प्रकार यहाँ अपनी २ योग्यताके अनुसार सरकारी काम करनेको मिलते हैं और अधिकार भी दियेजाते हैं,इस तरह ही सूक्ष्म जगत्में भी अपने २ कर्मोंके अनुसार तुम्हें दिव्य काम करनेको मिलेंगे और आध्यात्मिक अधिकार भी प्राप्त होंगे।

(७)—यद्यपि तुम यहाँकी विद्याओंमें पास होजाते हो, परन्तु जबतक आसामी खाली नहीं होती तबतक उसको बाट देखनी पड़ती है, फिर भी नियमित सेवा तक उन्नति होसकती है, स्वयं गवर्नमेंट या बादशाह नहीं होसकते, परन्तु इस प्राकृतिक शिक्षामें यह प्रतीक्षा नहीं है और यहाँतक उन्नति होसकती है कि—तुम प्रजापतिसे मेल पाते हुए स्वयं प्रजापति होजाते हो।

(८)—इस उन्नतिसे लाभ यह है कि—तुम सत्य-सङ्कल्प और सत्काम होजाते हो और जो अभिलषित

पदार्थ यहाँ परिश्रम करने पर भी नहीं मिलते वहाँ सङ्कल्पमात्रसे पासकते हो। जैसे कि—यहाँ परमसुन्दरी स्त्रियें कठिनतासे मिलती हैं अथवा माता पिता भ्राता पुत्र आदि जो मरगये हैं किसी तरह भी यहाँ नहीं मिल सकते परन्तु वहाँ वे सब सङ्कल्पमात्रसे मिलजाते हैं।

(९)-जब चाहो कि—सुन्दरी स्त्रियें मिलें, उसी समय तुम्हारे सङ्कल्पसे वे स्त्रियें उत्पन्न होजाती हैं और जब चाहो, कि-माता पिता, भ्राता,पुत्र आदि मुझे मिल जायँ तो वे भी सङ्कल्प करते ही प्रकट होजाते हैं। ऐसे ही अच्छे भोजन अच्छी पोशाक और अच्छे मकान बा- बगीचे आदि सङ्कल्पमात्रसे मिलजाते हैं और यही ब्रह्मलोक है।

(१०)—इसलिये आओ मेरी सुनो! और मेरे ऊपर विश्वास रक्खो, कि-मैं तुम्हारे मिलापके लिये एक अच्छा वकील बल्कि उत्तम द्वार (वसीला) बन कर आया हूं। मैं वे उत्तम पदार्थ (न्यामतें) दिखलाऊं कि-जिनको आँखें नहीं देख पातीं, कान सुन नहीं पाते और जिनको सर्वशक्तिमान् परमात्माने तुम्हारे लिये सूक्ष्म जगत्में बनाया है और उनके मिलनेका आनन्द एक खास आराम है, जिसको परम आनन्द कहते हैं और इसको ही पाकर मनुष्य मुक्त होजाता है।

(११)-यदि कोई कहे, कि-यह कैसे होसकता है यह तो कठिन प्रत्युत असम्भवसी बात है। ये बातें केवल मुखसे कहनेमात्रको हैं, हो नहीं सकतीं! कल्पना मात्र हैं, ऐसा होजाना निश्चित नहीं है, तो मैं समझाता

देता हूँ, कि-प्रकृतिके नियम (कानूनकुदरत) में कुछ भी कठिन नहीं है, किंतु सब कुछ।सम्भव है, इसलिये मैं वे नियम वेद भगवान्मेंसे चुनकर अनुवाद किये देता हूँ, जिनसे तुम्हें इसका विश्वास होजाय।

(१२)-क्योंकि जबतक सुनता नहीं है तबतक जानता नहीं है। जबतक जानता नहीं है तबतक विश्वास नहीं करता और जबतक विश्वास नहीं करता है तबतक चलता नहीं। इसलिये पहले सुनता है, फिर जानता है फिर विश्वास करता है तब अनुभव (अमल) करता है।

(१३)-वेदोंका संक्षेपमें तात्पर्य यह है, कि-मनुष्य अन्तमें देवता होजाता है और प्रजापतिसे मेल पाजाता है तथा इस मेलके लिये दो मार्ग हैं—एक 'कर्म-मार्ग (मामला) और दूसरा ज्ञानमार्ग (मकासफा) और सब वेद इन ही दो मार्गोंकी विस्तृत शिक्षा देते हैं।

(१४)-कर्मकाण्डविद्या वास्तवमें एक प्रकृतिकी रचना (कीमियाय) कुदरती या कैमिस्ट्रीरूहानी (Spiritual chemistry) है, जिसके कारण मनुष्य अपनी पार्थिव-स्थूल मूर्त्ति (शक्ल) को बदल कर तेजोमय सूक्ष्म (नूरानी आसमानी) आकारको धारण करता है। ज्ञानकाण्डकी विद्या वास्तवमें उस भेदकी पहचान है, जिसके कारण मनुष्य सबमें सब कुछ होजाता है और परमात्माके परमानन्दमें जा पहुँचता है।

(१५)-पहले मार्ग (तरीके) के अनुसार जो मनुष्य उसके गुणोंमें (शफातमें) और उसकी प्रकृति (कुदरत) में मार्ग पाजाता है तथा जो चाहे सो कर लेता

है, परन्तु उसके स्वरूप (जात) और उसके आराम
(परमानन्द) में नहीं पहुँच पाता है, और दूसरे मार्ग
(ज्ञानसाधना) से प्रविष्ट होकर वही होजाता है

(१६)-क्योंकि-पहले कर्ममार्गमें सिद्धि पानेके लिये कर्म करते हुए नियमोंकी बड़ी २ कठिनाइयाँ कष्ट उठाने पड़ते हैं और उनका फल भी त्रिगुणमय और अन्तमें नष्ट होनेवाला होता है, इसलिये वह दुःख से शून्य नहीं होता, परन्तु दूसरे ज्ञानमार्गमें नियमोंके पालनका कुछ भी कष्ट नहीं होता. किन्तु स्वतन्त्रता होती है, फिर उसका फल भी वास्तविक और अविनाशी होता है, भिन्न भिन्न प्रकारका नहीं किन्तु एक होता है, इससे स्पष्ट है कि-उसमें कुछ दुःख वा शोक नहीं होता।

(१७) | पहले कर्ममार्गमें जैसा करता है वैसा पाता है। क्योंकि-मजदूरी पाना मजदूरका हक है और यह न्यायका सिद्धान्त है। परन्तु दूसरे ज्ञानमार्गमें जो कुछ मिलता है मुफ्त या नकद मिलता है, कुछ भी करना नहीं पड़ता, इस लिये यह पद गौरवका है ज्ञानमार्ग बड़ी वस्तु है।

(१८)-यद्यपि यह पद महत्त्वका और बहुत बड़ा है तथा सब लोग इसको पानेके अभिलाषी रहते हैं, परन्तु क्योंकि-इसका मिलना एक खास भेदकी पहचान पर निर्भर है, इसलिये इसको पानेका अधिकारी वही होता है जो अपनी बुद्धिको शुद्ध और मनको निर्मल रखता है और यह भी स्पष्ट है, कि-मनकी स्वच्छता तथा सद्बुद्धि नियमोंके पालनके विना नहीं होसकती, इसलिये

ज्ञानमार्गमें प्रवेश करनेकी इच्छावालोंका पहला कर्त्तव्य कर्मकाण्डके नियमोंका पालन करना है और ऐसा करने पर ही वे ज्ञानमार्गमें प्रवेश कर सकते हैं।

(१९)-इसकारण ही वेदोंमें पहले कर्मकाण्डकी और अन्तमें ज्ञानकाण्डकी शिक्षा दी है, हम भी इस पुस्तकमें पहले कर्मकाण्डके नियमोंका और फिर ज्ञानकाण्डके नियमोंका अनुवाद करेंगे, परन्तु उतना ही कि-जितना भाषामात्र जाननेवालोंके लिये उचित समझा गया है, जिनको पूरा २ तत्त्व जानना हो वे साक्षात् वेदभगवान् की सेवा करें।

(२०)—अब हम अपने ईश्वर परमात्माके सत्य-स्वरूपका स्मरण करते हुए उनसे प्रार्थना करते हैं, कि-हमने जो कुछ प्रतिज्ञाकी है उसको पूरी करें और हम जो कुछ लिखें वह वेदके अनुकूल हो तथा हमारे जो शिष्य वा पाठक श्रद्धा और भक्तिके साथ पढ़ें वे गौरव और तेज पावें, जिसको कि-हम सब लोग चाहते हैं।

(२१)-क्योंकि-यह विद्या हमारी मनः कल्पित नहीं है, किन्तु वेदोंसे ली गयी है और प्राकृतिक है, इसलिये इसका नाम भी प्राकृतिक शिक्षा कहाजाता है। यद्यपि यह हिन्दी भाषामें उलट दी गयी है तो भी यह अर्थरूप सब वेदोंका अनुवचन अर्थात् देववाणी (कलामे आसमानी) है।



कर्मकाण्ड

प्रथम-परिच्छेद

(१)-कर्मकाण्ड-विद्या वेदमें एक मनोरञ्जक-विद्या है, जिसके कारणसे पार्थिवशरीरी (खाकी) मनुष्य दिव्यस्वरूप (नूरानी) देवता बनसकता है, परन्तु अनजान मनुष्य विचारता है, कि-ऐसा कैसे होसकता है? यदि मनुष्य विचारदृष्टिसे देखे तो सृष्टिके नियममें (कानूनकुदरतमें) कुछ भी कठिन नहीं है, क्योंकि-यह जराएक विचारसे समझ सकता है, कि-वह जबतक मनुष्य नहीं बना था तबतक क्या था और कहाँ था?

(२)-प्रत्युत वह तत्काल विश्वास करसकता है, कि-वह अपवित्र पानी था, जो पिताकी वीर्यनालीमें भरा हुआ था, परन्तु जब समय आया तब प्रकृतिने माताके पेटके भीतर गर्भाशयमें सींच दिया, फिर वह प्राकृतिक मिश्रण (कुदरती तख्मीर) होकर लोथड़ा बुद्बुद-कललरूप बन गया और नियमित समयमें मनुष्यके आकारमें निकल तथा जीवित प्राणी बनगया। इस कारण मनुष्य निश्चयके साथ जान सकता है, कि-वह पानीका बनाया गया है।

(३)-अभी विशेष विचार करना चाहिये, कि-वह जब तक पिताकी वीर्यनाली (चश्मये मनी) में बीजरूप नहीं बना था तबतक कहां था और क्या था? मैं विश्वास करता हूँ, कि-वह तनिक ध्यान देनेसे तत्काल

जानजायगा, कि–इससे पहले वह केवल भोजन (गिज़ा) था जो उसके पिताने खाया था, वह भोजन पिताके पेट में जाकर जीर्ण (हज़्म) होगया और उसका स्वच्छ भाग (सार) जिगरमें गया और रुधिर बनगया, वह रुधिर बहकर सब नाड़ियोंमें फैलगया और उनमेंसे निचोड़की तरह उसका सार निकल कर वीर्यनालीमें आया और माताके पेटमें पहुँचकर गर्भरूप होगया।

(४)–भोजनका रूप घास पात है, जो पृथिवीमेंसे निकलती है, इससे मालूम हुआ, कि—वह किसी समय पृथिवीमें गर्भरूप था और इसको पृथिवीने अन्न आदि (नबातात) के रूपमें जना, तदनन्तर वह अपने पिता का भोजन बना। ऐसे सोच विचारसे वह विश्वास कर सकता है कि -वह प्रारम्भमें मृत्तिका (खाक) था और मृत्तिकासे निकलकर प्रकृतिके नियमसे रूप बदलते २ मनुष्य होगया।

(५)–अभी इस बातको यहाँ ही पूरी नहीं करदेना चाहिये किन्तु देखना चाहिये, कि-वह अब सदा इसी मनुष्यके रूपमें नहीं रहेगा, किन्तु प्रकृतिके तलपटमें पलटता हुआ पहले बालक, फिर युवा और फिर बुड्ढा होकर अन्तको नियमित समय पर मरजायगा और फिर भूमिमें गर्भरूप होकर खाक होजायगा, ऐसे समय समाधित होता है, कि–जहाँसे आया तहाँ ही फिर चलाजायगा।

(६)–अब यह नहीं मान बैठना चाहिये, कि—अब फिर वह पृथिवीमेंसे नहीं निकलेगा किन्तु वह फिर घास पातके रूपमें निकलेगा क्योंकि -प्रकृतिका नियम ही यह

है, कि-जो गर्भरूप होता है वह जनाजाता है और जो
बोया जाता है वह अपने समय पर उगता है। फिर यह
भी सम्भव नहीं है, कि-वह सदा मनुष्यका ही भोजन
बना करे, किन्तु सम्भव है, कि-उसको कोई पशु पक्षी
या कीट पतङ्ग खालेय। इस दशामें वह उनके नर नारी
से निकलता हुआ पशु पक्षी या कीट पतंग बनजायगा।

(७) इस प्रकार प्रतीत हुआ, कि-मनुष्य प्रकृति
नियमके नीचे एक अद्भुत पलटा खाता हुआ कुछका कुछ
बनजाता है, जिसमें अनजान मनुष्यकी बुद्धि आरम्भमें
ही चक्कर खाने लगती है, परन्तु विचारवान् पुरुष
विश्वास कर सकता है, कि-यह कभी मनुष्य कभी पशु
बनजाता है। कभी पक्षी होकर उड़ता है कभी गधा ऊँट
बनकर लादा जाता है और मार खाता है। इस प्रकार
ही हे आत्माओं! तुम प्रकार२ के वस्त्र पहरते हुए भाँति
भाँतिकी सूरतोंमें सैर करते हुए कभी खाक होते हो
और कभी घास पात और कभी जीवित प्राणी बनजाते
हो। यह वही अद्भुत चक्कर है, जिसको वेदवेत्ता ब्राह्मण
जन्म मरणका संसारचक्र कहते हैं।

(७) यह नहीं मान बैठना चाहिये, कि-जीव इस
प्रकार ही सदा पार्थिव चक्करमें चकराता रहता है, किंतु
सम्भव है, कि-उसकी असली रतूबत जो विभिन्न मूर्ति-
योंकी प्रकृति (माद्दा) है सूर्यके प्रभावसे बुखारकी समान
आकाशमेंको उड़े और बादल बनजाय। बादलसे बिजली
और बिजलीसे रोशनी (प्रकाश) होकर किरणोंमें मिल
जाय तथा किरणोंसे सूर्यमें गर्भरूप होजाय। सूर्यमें इस
प्रकार ही घास पातकी समान पैदा होताहुआ आकाशी

भोजन बनजाता है और इसप्रकार नर नारी देवताओं
में होता हुआ देवता ही बनजाता है। इसीप्रकार हम
निश्चय करते हैं, कि-पार्थिव आकाशीय या मनुष्य देवता
बनसकता है, प्रकृतिके नियममें यह कुछ भी कठिन नहीं है

❀ द्वितीय-परिच्छेद ❀

(१) अब वेद-भगवान्‌के द्वारा हमको मालूम होगया
कि-पृथ्वी और सूर्य तथा चन्द्रमा प्रत्युत सब ही तारा-
गण वस्तु देवता हैं अर्थात् देवताओंकी आवासभूमि हैं।
जिस प्रकार भूमि पर मनुष्य आदि प्राणी बस रहे हैं,
इसप्रकार ही सूर्य चन्द्रमा प्रत्युत सब ही तारागणमें
प्राणी बस रहे हैं, इसलिए ही कर्मकाण्डके ज्ञाता ब्राह्मण
भूमिको भूलोक, सूर्यको सुरलोक और चन्द्रमाको सोम
लोक बोलते हैं।

(२) जिसप्रकार भूलोककी प्रजा भूमिमेंसे निकलती है
और पार्थिव शरीरवाली होती है। इसप्रकार ही चन्द्र-
लोककी प्रजा चन्द्रमामेंसे निकलती है और चन्द्रशरीर
होती है तथा सूर्यलोककी प्रजा सूर्यसे निकलती है और
सूर्यशरीरी अर्थात् तेजःस्वरूप होती है और यह एक
आकाशीय चक्र भूलोकके चक्रकी समान जुदा ही चलता
रहता है। देखो चन्द्रमा भूमिकी अपेक्षा शीतल शान्त
और तेजोमय लोक है, उसकी प्रजाके शरीर भी शीतल
शान्त और तेजस्वी होते हैं।

(३) यहाँकी स्त्रियोंका पार्थिव (खाकी) शरीर होता
है और वहाँकी स्त्रियोंके शरीर चन्द्रमाकी समान होते

हैं, वे अधिक रूपवती, अधिक कोमलांगी और प्र
सुख होती हैं, इनको ही स्वर्गकी अप्सरायें कहते हैं
तहांके नरोंको जो चन्द्रशरीरी हैं गन्धर्व कहते हैं
यह चन्द्रलोक ही वास्तवमें स्वर्ग है ।

(४) क्योंकि—वहांके खाने पीने और पहिरनेकी व
चान्दनीकी होती हैं, इसलिये बड़ी शीतल, बड़ी सु
बड़ी स्वादिष्ट और तृप्तिकारिणी होती हैं । ऐसी
होती हैं, कि-पार्थिव शरीरवालोंके ध्यानमें नहीं आस
और इसी कारण ब्राह्मण यहांके तुच्छ भोगोंको छो
चन्द्रलोकके भोगोंकी लालसासे व्रत तप आदि करते

(५) पार्थिव शरीरमें तमोगुणकी अधिकता है
यह मलिन है, इसलिये जीवके गुण इसमें पूर्णरूपमें
नहीं होते, किन्तु कर्मोंके साथ होते हैं, ऊपरके लो
शरीर तेजोमय होते हैं, इसलिये जीवके गुण (कमा
उनमें स्पष्टरूपसे प्रकट होते हैं यही कारण है कि
लोकोंकी प्रजा अपनी२ अभिलाषाकी वस्तुएँ इच्छा
से ही पाजाती हैं ।

(६) सूर्य अन्य तारागणोंकी अपेक्षा अधिक ते
है । यहाँकी प्रजाका शरीर भी तेजस्वी संकल्पम
है. शरीरी भावका यहां कुछ भी अधिकार नहीं है
यहांकी सब वस्तुएँ परमसुन्दर हैं, यहांके भोग
स्वाद सबसे बढ़कर हैं, क्योंकि-उस लोकके तेजस्वी
जैसे स्वच्छतर हैं, तैसे ही वहांके गुण भी उच्चत
हैं । इस कारण ही वहांकी प्रजा सत्काम और
कल्प होती है । वही सुरलोक है और वहांकी
देवता कहलाती है ।

(७) वेदकी श्रुतियें सूर्यको एक अमृतका यूप कहती हैं और देवताओंको शहदकी मक्खियोंकी समान मानती हैं जो इस अमृतको खाते हैं, इसमें परमज्योतिके दर्शन का स्वाद है, अतः यहांके प्रजापतिका दर्शन भी पा सकते हैं।

❀ तृतीय-परिच्छेद ❀

(१) वेदविद्याके ज्ञाता ब्राह्मण कहते हैं, कि-संपूर्ण संसार क्या नीचेके और क्या ऊपरके सब ही लोक मिल कर एक अग्निका प्राकृतिक कारखाना है, जिसमें बड़े२ पांच एञ्जन अर्थात् अग्निकुण्ड जल रहे हैं और प्राणी इस कारखानेमें नये२ रूप धारण करता हुआ कभी पार्थिव और कभी आकाशीय दिव्य मूर्त्तियें धारण करता रहता है। पहला एञ्जन सूर्य है, दूसरा एंजिन बादल, तीसरा भूमि, चौथा नर (पुरुष) और पांचवां एंजिन नारी है।

(२) जब यह जीव श्रेष्ठ जगत्में मरता है तो इस को सूर्यरूप एंजिनमें झोंकते हैं, यहांसे मेघरूप एंजिन में आता है, बादलोंसे बरसता हुआ भूमिरूप एंजिनमें गर्भरूप होजाता है, भूमिसे घास पात होता हुआ नर नामक एंजिनमें खाया जाता है नर एंजिनसे फिर नारी एञ्जिनमें गिर जाता है इस प्रकार आकाशी जीव तेजस्वीसे पार्थिव (नूरानीसे खाकी) होजाता है।

(३)-जब यह पार्थिव-शरीरधारी यहाँ मरता है तो पहले अग्नित्वमें जलायाजाता है, इस अग्नित्वसे बादल-रूप अग्निकुण्डमें और बादलसे सूर्यरूप अग्निकुण्ड

(एंजिन) में चढ़ता है, और वहाँके नर नारियोंमें हो हुआ दिव्यशरीरी देवता बनजाता है।

(४)-राजा प्रवाहणने (जिसको जैवलि भी कहते उसने) जब उद्दालक मुनिको इस विद्याकी शिक्षा दी इन पाँचोंको एञ्जिनसे नहीं किंतु होमकी अग्निसे उ दी थे और यह उपमा एञ्जिनकी उपमासे अच्छी भी

(५)—राजा प्रवाहणने कहा, कि—हे गौतम! द्युलोक होमकी पहिली अग्नि है, इसमें सूर्यको जलती लकड़ीके समान समझो,जैसे कि—होमकी आगमें ज हुई लकड़ियें होती हैं और सूर्यकी किरणें ही मानो ओरको धुआं निकलता है दिन ही इस आगकी उ होकर अस्त होजानेवाली लपट है,चन्द्रमा इसका अँ है और तारे मानो इस आगकी चिनगारियें हैं इस में जब ईश्वरीय शक्तिसे काम करनेवाले देवता श्रद्धा अर्थात् आहुतियोंके परिणामरूप सूक्ष्मजलका होम क हैं तो यह राजा सोम अर्थात् चन्द्ररूप (चन्द्रमासे स रखनेवाला) होजाता है।

(६)—होम करनेकी दूसरी अग्नि मेघ अर्थात् बा है, वायु ही इसमें जलती हुई लकड़ियें हैं, धुन्द म उसमेंसे धुआंसा निकलना है,बिजली उसमें लपट बिजलीका गिरना मानो उसके अङ्गारे हैं और गर ही उसकी चिनगारियें हैं, इस अग्निमें देवता ऊपर हुए चन्द्रसम्बन्धी सूक्ष्मजलको होमते हैं, तो वह रूप होकर पृथिवी पर बरसता है।

(७)-होमकी तीसरी अग्नि यह भूलोक (जमी है, साल या वर्ष इसकी जलती हुई लकड़िये हैं, आ

मानो उसमें से धुआंसा उठता है, अन्धेरी रात उसकी लपट है, दिशायें उसके अँगारे हैं और दिशाओंके कोने उसकी चिनगारियें हैं, जब देवता अग्निमें ऊपर कहीं वर्षाकी आहुति छोड़ते हैं तो वह अन्न होजाता है।

(८)-नर मनुष्य होमकी चौथी अग्नि है, उसकी वाणी या खुला हुआ मुख मानो जलती हुई लकड़ियें हैं; सांस का निकलना ही मानो धुआं निकलना है, जीभ मानो लपट है, आंखे मानो अँगारे हैं और कान मानो चिनगारियें हैं, जब देवता इसमें अन्नको होमते हैं तो वह वीर्य बनजाता है।

(९)-इसी प्रकार स्त्री मानो होमकी पांचवीं अग्नि है है, उसकी योनि (मकाने (मलसूत्र) मानो जलती हुई लकड़ियें हैं, समागमके समयकी बातचीत मानो धुआं निकलता है, उसका गर्भस्थान मानो लपट है, सङ्गम दखूल मानो अंगारा है और स्त्रीभोगका सुख ही मानो उसमेंसे चिनगारियां निकलती हैं, जब देवता इस अग्निमें वीर्यको आहुतिरूपसे छोड़ते हैं तो मनुष्य पैदा होजाता है।

(१०) इसके बाद राजा प्रवाहणने कहा, कि-संसार चक्रमें भूमि चन्द्रमा और सूर्य बल्कि सब ही तारागण मानो मंजिलें हैं, जिनमें जीवात्मा एक मंजिलसे दूसरी मंजिल तक यात्रा करने पर मुसाफिरसा समझा जाता है, परन्तु जिसप्रकार पृथ्वीसे मनुष्य तक पहिले घास पात, फिर रुधिर, फिर वीर्य, फिर लोथड़ा फिर बुदबुद और फिर झिल्लीमें लिपटा हुआ गर्भ बनकर रास्ता तय करता है। इसप्रकार हरएक मंजिलसे दूसरी मंजिल तक नियमानुकूल क्रमसे एक आकारसे दूसरा आकार

पलटता चलाजाता है और इन क्रमोंको वेदवेत्ता विद्वान्
सड़कोंकी समान मानते हैं।

(११)—आकाशमें कितनीं सड़कें हैं, कितनी मंजिलें
हैं प्राणी कहाँ २ जाकर पहुँचते हैं, उनकी गिनती होनी
कठिन है, तथापि सूर्य जो संसार भरका ध्रुव है
वास्तवमें आकाशमेंकी प्रधान राजधानी (आसमानी
दारुलसल्तनत) है और उसके आसपास चक्कर लगाने
वाले सकल तारागण और पृथिवी उसके मुल्क और
इलाके हैं।

(१२)फिर क्यों कि–हर एक तारेके पास उपदेव
खास चाँद चक्कर लगाते हैं, इसलिये एक सड़क
वह है जो पृथिवीसे संसारके ध्रुवरूप सूर्य तक गयी
और दूसरी सड़क वह है जो चन्द्रमण्डलको जाती
और फिर वह चन्द्रमासे हरएक तारेमें पहुँचती
तथा तीसरी सड़क वही है जो पृथिवीको आती है।
तीनों सड़कें अन्धकारमयी हैं और प्रकाशमयी हैं।
सड़कोंमें जीवको अन्धकारमयी सूरतें मिलती हैं
जीवात्मा इनमें घोर निद्राको प्राप्त हुआसा अचेत रहता
है, इसलिये वे सड़कें तमोमयी कहलाती हैं, परन्तु
सड़कोंमें उसको प्रकाशमयी दिव्य सूरतें मिलती
और जीवात्मा उनमें स्वप्न देखनेकीसी दशामें सचेत
यात्रा करता है वे प्रकाशमयी सड़कें कहलाती हैं।

(१३)-जो सड़क सूर्यको जाती है, जो खास प्र
पतिकी राजधानी है वह सड़क प्रकाशमयी है और
प्रजापतिके समीपी देवता रहते हैं। इस देवलोक
जानेवाली सड़कको देवयान-मार्ग कहते हैं परन्तु

की दो सड़कें जो चन्द्रमा और पृथिवीको जाती हैं, दोनों तमोमयी हैं इनमें जो सड़क चन्द्रमाको जाती है उसको पितृयान-मार्ग कहते हैं, क्योंकि-जब चन्द्रमाको जाता है तो पहले पितृलोकमें जाता है, जो सोमलोकके समीप की मंजिल है।

(१४)-देवयानकी सड़क बाईं ओरसे और पितृयान सड़क दाहिनी ओरसे जाती है, जिसका हाल कुछ आगे चल कर मालूम होगा, और देवयानका अग्निकी ज्वालासे पितृयानका आरम्भ धुएँसे होता है, इसलिये देवयानको उत्तरायण या अर्चिमार्ग और पितृयानको दक्षिणायन या धूममार्ग भी कहते हैं।

(१५)-ये देवयान और पितृयान नामकी दोनों सड़कें वास्तवमें आकाशीय सड़कें हैं और वह एक सड़क जो पृथिवीको जाती है वह पार्थिव (स्थूल-तिफली) है, यह वही है कि-जिसका वर्णन ऊपर होचुका है कि भूमिसे वनस्पति, वनस्पतिसे रुधिर, रुधिरसे वीर्य और वीर्यसे मनुष्य आदि होजाता है।

(१६)-यह सड़क बिलकुल तमोमयी है, इसमें जीवात्मा घोर निद्रामें अचेतसा चलाजाता है, परन्तु गर्भावस्थामें-जहाँसे कि-शीघ्रही जन्म होनेवाला है स्वप्नकीसी दशामें खुलता है और पहले जन्म जन्मान्तर की हालतोंको अपने सामने देखता है, जब गर्भमेंसे निकलताहुआ जन्म लेता है तो जागता हुआसा होजाता है और वह गर्भमें देखाहुआ हाल सुपनेकीसी बात मालूम होने लगती है और ज्ञानेन्द्रियोंमें अभी परिपक्वता न होनेके कारण उसकी याद भूलती चलीजाती है।

(१७)-ध्यान रहे कि-इन तीनों सड़कोंका मु अग्निसे फटता है, क्योंकि-जब मृतकको उसके आदि कुटुम्बी अग्निमें उसका और्ध्व दैहिक कर्म अन्तिम होम करते हैं तो उसकी तीन दशाओंमेंसे कोई एक दशा होती है-या तो उसकी जलरूप आ प्रकृति (जो माद्दा मूर्त्तियोंकी है) जलकर अग्निकी ज्वा बनजाती है, या धुआँ अथवा भस्म बनजाती है।

(१८)-जब वह ज्वाला होती है तो वह अव उस प्रकाशमयी सड़कके आरम्भका है जो सूर्यको जा है और जिस पर यात्रा करता हुआ वह देवलोक चलाजाता है, परन्तु जब वह धुएँके आकारमें उड़ता तो वह अवसर उस सड़कके आरम्भका है जो चन्द्र मेंको जाती है और जिस पर यात्रा करता हुआ पितृलोककी तरफको जाता है और यदि वह भस्म हो भूमिमें गिरजाता है तो वह अवसर उस सड़कके आर का है जो पार्थिव है और जिस पर चलता हुआ कीट पतङ्ग आदिकी योनियें पाता है।

(१९)-जब वह ऊपर कही हुई रीतिसे ज्वा (अर्चि) बन जाता है, अर्चिसे दिनको, दिनसे शुक्ल पक्षको और शुक्लपक्षसे जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्त की ओरको जाता है उन छः महीनेरूप उत्तरायण प्राप्त होता है, फिर सम्वत्सरको प्राप्त होता है औ सम्वत्सरसे सूर्यमें मेल पाजाता है, जो कि-देवलोक जानेका द्वार है।

(२०) परन्तु जब वह धुआँ होकर उड़ता है तो धु से अन्धेरी रात, अन्धेरीरातसे, कृष्णपक्ष और कृष्ण

से दक्षिणायनके छः महीने, कि–जिनमें सूर्य दक्षिणकी ओरको जाता है, होजाता है और वहाँसे यमलोकमें जाता है, जो पितृलोक भी कहलाता है तथा यमलोक से चन्द्रमामें पहुँच कर सोमराज होजाता है,जो आकाशीय कहलाता है।

(२१)–यह आकाशीय सड़क भी तमोमयी है, इस लिये जीवात्मा इसमें भी घोर निद्रामें रहता हुआ अचेतसा चला जाता है, जैसा कि–वनस्पतिसे गर्भमेंको जाता है, तथापि जब वह यमलोकमें पहुँचता है, जो कि–सोमराजरूप जन्म लेनेके समीप है, उस समय स्वप्न देखनेकी समान खुल जाता है और वहाँ एक राजधानी देखता है, जिसमें मुरदोंकी अदालत होती है और वहाँका एक मजिष्ट्रेट शासन करता है जो यमराज कहलाता है।

(२२) वहाँ पुण्य और पापका हिसाब किताब देखा जाता है और हर एकके लिये उसके पापोंके अनुसार नरककी कोठरियें बनी हुई हैं, जिनमें नियमित समय तक दुःखभोग करता है। ठीक हथकड़ी बेड़ी आदि जो कुछ शास्त्रमें लिखी हैं, सब सच है। उस दुःखको भोग कर वह चन्द्रलोकको जाता है और सोमराज होजाता है। और जो पापोंसे सर्वथा अलिप्त होता है वह वहाँ नहीं ठहरता है, किन्तु तत्काल इसके पार होता हुआ चन्द्रलोकको जो सोमलोक है चला जाता है।

(२३)-जो देवयान सड़क पर यात्रा करता है वह इस सड़कके प्रकाशमयी होनेके कारण ऊपरके लोकोंमें को बराबर खुलाहुआ (सचेत) चलाजाता है और ऐसी

घटना देखता है, कि-जैसे एक राजकुमार यात्रासे लौ
हुआ मानो राजधानीको जाता है। जहाँ तहाँ देव
उसके स्वागतके लिये आते हैं तथा ऐसा अतिथिसत्क
होता हुआ देखता है कि-जो भूलोकवासियोंके ध्यान
भी नहीं आसकता।

(२४)-इस सड़कमें न उसका कुछ हिसाब किताब
होता है और न दुःख ही उठाना पड़ता है, किन्तु स
अग्निदेवता उसका अगवानी (नकीब) होता है औ
इसप्रकार प्रतिष्ठाके साथ लेजाता है, जैसे कि-राजधा
का मुख्यमंत्री राजकुमारको राजधानीमें लेजाता है औ
उसके पिता महाराजसे लेजाकर मिला देता है।

(२५)-सूर्यलोकमें यद्यपि पार्थिव-शरीर नहीं
किन्तु सङ्कल्पमय दिव्य शरीर हैं तो भी उनमें दरजे
दरजेका अन्तर (तफावते मरातिबात) है। किसी
अन्तर ऐसा कि जैसे राजा और प्रजाका किसीका ऐस
अन्तर है, कि-जैसे दरबारी और राजाका तथा किन
का अन्तर ऐसा है, कि-जैसे आपसमें शरीरके हाथ पै
आदि अवयवोंका परन्तु अन्तिम दरजा यहाँ मिलाप
है, जिसमें खुद वही होजाता है।

(२६)-पहले अधिकारको सालोक्य मुक्ति
दूसरे अधिकारको सामीप्य मुक्ति और तीसरी श्रेणी
अधिकारको सायुज्य मुक्ति तथा अन्तिम अधिकार
सारूप्य मुक्ति कहते हैं और यही कर्मकाण्डविचार
परमोन्नति है।

(२७)-अन्तिम उन्नतिमें इसकी स्थिति सूर्यलोक
नहीं होती है, किन्तु वहाँसे भी उस चन्द्रलोकको

साक्षात् सूर्यलोकका भी चन्द्रमा है। और वहाँसे भी उसके बादललोक और बिजलीलोकमें चढ़जाता है और यहाँ एक दिव्य दूत आता है वह इसको ब्रह्मलोकमें लेजाता है और वहाँ यह प्रजापतिसे आत्मिक मेल पाजाता है।

(२८) हे गौतम ! जो इस पञ्चाग्नि विद्याको उसके भीतरीभेदके साथ जानते हैं और संसारको त्याग वनमें जा सत्का पालन करते हैं वे देवयान सड़क पर चलते हैं और उनको इस देवयान सड़क पर बार २ नहीं आना पड़ता है और जो यज्ञ दान आदि करतेहुए केवल जप तपका पालन करते हैं और पञ्चाग्नि विद्याके रहस्यको नहीं जानते हैं वे पितृयान सड़क पर यात्रा करते हैं और सोमराज होजाते हैं तथा बार २ आते हैं और जो इन सड़कोंको नहीं जानते, न सत्का पालन करते हैं और न यज्ञ, दान, जप आदि करते हैं वे इस ही पार्थिव सड़क पर यात्रा करते हैं, कीट पतङ्ग आदिकी योनियोंको पाते हुए बार २ मरते और जन्म लेते हैं, उनके ही विषयमें श्रुति कहती है, कि-"जायस्व म्रियस्व" जन्म ले और मर तथा मर और जन्म ले, यही उपदेश भगवान् कृष्णका है। इसप्रकार प्रवाहणने उद्दालक मुनिको उपदेश किया।

❀ चतुर्थ-परिच्छेद ❀

(१)-साधनको आरम्भ करनेवालोंको आश्चर्य नहीं करना चाहिये, कि-मरनेके बाद हम अग्निकी ज्वाला (शोला) और दिन शुक्लपक्ष आदि कैसे होजाते हैं,

क्योंकि-बुद्धिमान् मनुष्य ध्यान देने पर जान सकता है कि-जो लकड़ी आगमें जलाई जाती है वह वास्तवमें आग बनती जाती है. इसका प्रमाण यह है कि-ज्यों ज्यों लकड़ी ज्यादा लगाई जाती है, अग्निकी ज्वाला भी अधिक होती चली जाती है, इससे मालूम होसकता है कि-लकड़ी ज्वाला बनती जाती है।

(२)-फिर ज्वाला भी प्रकाश (दिन) बनती जाती है, क्योंकि-ज्यों ज्यों ज्वाला अधिक होती है त्यों त्यों प्रकाश भी अधिक होता जाता है और यह प्रकाश वास्तवमें दिन है और दिनका वार २ आना जाना शुक्लपक्ष और शुक्लपक्षोंका कई वार होना ही उत्तरायण (छमाही) और वर्ष है और साल वास्तवमें सूर्यकी नियत गति (गर्दिशेमुअय्यन) है जो सूर्यसे पृथक् नहीं।

(३)-सृष्टिके नियमके अनुसार हमको मालूम हुआ है, कि-जलती हुई लकड़ियोंमें जो चिकनाई है वह अग्निकी ज्वाला बनजाती है और उसका जलीय अंश (रतूबत) धुआँ बनती जाती है तथा उसका ठोस भाग (मलिनता—कसफत) जो बचता है वह भस्म बन जाता है, यही एक प्रकृतिकी शिल्पचातुरी (कीमिया कुदरती) है।

(४)-हम भी जब मृतकसंस्कारमें जलाये जाते हैं तो इसप्रकार ही ज्वाला, धुआँ और भस्म बनते जाते हैं परन्तु हममें जो भाग चिकनाईका है वह तो अग्नि, अग्निसे ज्वाला, ज्वालासे प्रकाश, प्रकाशसे दिन, दिनसे शुक्लपक्ष. शुक्लपक्षसे उत्तरायण, उत्तरायणसे वर्ष और वर्षसे सूर्यरूप होजाता है, जो देवताओंकी योनि है।

(५)-परन्तु हमारा जलीय भाग जलकर धुआँ धुएँसे अन्धकार, रात्रिका वास्तविक रूप अन्धकार ही है, और अन्धकारमयी रात्रिकी बार २ आवृत्ति ही कृष्णपक्ष है और इनकी आवृत्ति ही दक्षिणायन और साल है और यह साल चन्द्रमाकी एक नियमित गति है उससे भिन्न नहीं है। ईश्वरीय शक्तियां (कारकुनान कज़ाओं क़द्र) यदि उस समय हमारा चिकनाईके भागसे सम्बन्ध जुदा देती है तो पितृयान नामकी सड़क पर एक आकारसे अन्य आकारमें बदलतेहुए यात्रा होती है और यह सम्बन्ध हमारे कर्मोंके अनुसार होता है, इसलिये हमारे कर्म ही ऊपरी लोकोंमें जाने और वहाँसे उतरनेके हेतु हैं।

(६)-वह कर्म जो इस अधिकार (दरजे) के मिलने का मुख्य कारण हैं वास्तवमें अध्यात्मिक प्रक्रिया (कीमियाये रुहानी) है, इसको ही होम कहते हैं और क्योंकि-यह प्रकृतिकी प्रक्रिया अग्निके द्वारा होती है इस कारण अग्निमें होम करना ही इस प्रकृतिकी प्रक्रियाका अनुष्ठान है और इसकी ठीक २ विधि विद्वान् ब्राह्मणोंको मालूम होती है, जो कि-अग्नि द्वारा स्वयं इस अनुष्ठानको करते हैं और हमको (यजमानोंको) कराते हैं, स्वयं ऊपरके लोकोंमें चढ़ते हैं और हमको भी चढ़ाते हैं इसकारण आकाशीय अधिकार पानेके लिये अग्नि और ब्राह्मण हमारे पुरोहित (रसूल) हैं, हमारे लिये द्वार (वसीला) हैं। इसलिये जो मनुष्य विना सहायता अग्नि और ब्राह्मणोंके ऊपरके लोकोंका अधिकार पानेकी आशा करता है वह भूल रहा है और घमण्डी है।

(७)-यह कर्म भी दो प्रकारका होता है एक देवकर्म

और दूसरा पितृकर्म। देवकर्ममें तो अग्नि मुख्य हो
है और पितृकर्ममें ब्राह्मण मुख्य होता है। देवकर्ममें अ
को मुख्य मानकर उसमें आहुति दीजाती है और पि
कर्ममें ब्राह्मणको मुख्य मानकर उसके मुखमें आहु
दीजाती है।

(८)-जबतक हम चित्तशुद्धि होकर ब्रह्मभावना
अधिकारी नहीं होते हैं तबतक यह दोनों प्रकारका क
करना हमारा कर्त्तव्य है और मरनेतक इस दोनों प्रक
के कर्मको करते २ आखिरी आहुति हमारी उसी अ
में होती है जो हमारा सहायक (वसीला) और मा
है और उसके ही द्वारा हम ऊपरके लोकोंमें चढ़ते
सोमराज या देवता हो सकते हैं।

(९)-परन्तु जब हम चित्त शुद्ध होकर ब्रह्मकी अ
को जाने हैं और ब्रह्मविद्याको प्राप्त करते हैं, तब क
करनेका अधिकार समाप्त होजाता है और हम स्वतं
होजाते हैं तथा आकाशीय उन्नति हमको मुफ्त मिल
है। किसीकी भी सहायता नहीं लेते, इसका पूरा व
हम अगले भागमें करेंगे।

(१०)-कदाचित् कोई प्रश्न करे, कि-पितृ क्या
और देवता क्या हैं? तो हम संक्षेपमें उनका स्वरूप
कहेदेते हैं-संस्कृत कोशमें 'पितृ शब्दका अर्थ पिता पि
मह आदि (वालदैन) है और देवता शब्दका अर्थ
कर्मेन्द्रियोंके और ज्ञानेन्द्रियोंके अधिष्ठाता। जिनके द्व
हम जनेजाते हैं वे ही पितृ (वालदैन) हैं और जिन
द्वारा हम पदार्थोंका ज्ञान पाते हैं और चेष्टा (हरकत
करते हैं वे ही देवता हैं।

(११)-यह नहीं मानलेना चाहिये कि-केवल शरीरधारी माता पिता ही पितृ (वालदैन) हैं, किन्तु आत्मिक कारण (रूहानी असबाब) भी जो हमारी उत्पत्तिके हेतु आत्मिक (रूहानी) माता पिता हैं, क्योंकि-कर्मकाण्ड-विद्याके द्वारा हमको मालूम हुआ है, कि-इन सड़कों पर हमको जो सूरतें मिलती हैं वह माता पिताकी समान दो २ मिली हुई हैं। और उनसे हम बने जाते हैं तथा मृत्युके बाद उनमें ही मेल पाजाते हैं। इस लिये ही मृत्युके बाद मृतका पितृकर्म कियाजाता है।

(१२)-पहला पितृ सूर्य और चन्द्रमाका जोड़ा है जो हरारत और रतूबत (तेज और जल) से मेल पारहा है। दूसरा पितृ वर्ष है जो उत्तरायण दक्षिणायनमें मेल पा रहा है। तीसरा पितृ मास (महीना) है जो शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षसे मेल पा रहा है। चौथा पितृ दिन रात है जो प्रकाश और अन्धकारसे मेल पारहा है। पाँचवाँ पितृ भोजन है जो वीर्य और रजसे दम्पती हुआ है।

(१३)-पहले पितृमें सूर्य पिता और चन्द्रमा माता है, दूसरे पितृमें उत्तरायणरूप छः मास पिता और दक्षिणायनरूप छः मास माता है तीसरे पितृमें शुक्लपक्ष पिता और कृष्णपक्ष माता है। चौथे पितृमें दिन पिता और रात माता है और पाँचवें पितृमें वीर्य पिता और रज माता है। उत्तरायणमें सूर्यसे लेकर प्रकाश तक पितृ-पंक्ति है और दक्षिणायनमें चन्द्रमासे लेकर राततक मातृपंक्ति है।

(१४)—जो पंक्ति पितरोंकी है वह वास्तवमें प्रजापतिका तेज आत्मिक तत्त्व है और जो मातृपंक्ति है वह

प्रजापतिका जलीय शरीर (रतूवत) है, जो बदलता रह
है। जो मनुष्य पितृयान सड़क पर चलता है वह वास
में सोमराज होता हुआ शरीरकी आकाशकी ओर
उन्नति पाता है और जो मनुष्य देवयान सड़क पर चल
है वह आकाशीय आत्मिक उन्नति पाता है, जो वि
नित्य है।

(१५)-यह सब पिता और मातायें हमारी उत्पत्ति
संबंध रखते हैं। जैसे माता पिता बच्चेको गोदमें ले
पालते पोसते हैं, ऐसे ही हमको मृत्युके अनन्तर इन मा
पिताओंकी गोदमें जाना होता है और इनमें ही गर्भ
होकर ऊपरके लोकोंमें को गति या नीचेके लोकोंमें
उतरना होता है। और सब पितृ (माता पिताओं के जो
प्रजापतिकी सन्तान-प्रजापतिरूप हैं। वह प्रजाप
हमारा पितामह है। संस्कृतमें इन पितरोंको दिव्यपि
नामसे कहा है। परन्तु वह पितर जो आगमें जलने प
इनमें मेल पाते अग्निष्वात्ता कहलाते हैं, क्योंकि-जो अ
में भोजन होकर इनसे मेल पाता है वही अग्निष्वा
होता है और इनके ही नाम पिंडदान होता है।

(१६)-ये बातें जो ऊपर कही गयी हैं हम ही न
कहते, किन्तु पिप्पलाद मुनिने कात्यायन ऋषिको य
उपदेश दिया है। जब उन्होंने प्रश्न किया, कि-हे भ
वन्! हम कहाँसे जन्मे जाते हैं और हमारा बाप कौन है

(१७)-मुनिजीने उत्तर दिया, कि-सन्तानकी लाल
वाले प्रजापतिने विचार किया, कि-मैं सन्तानवाला
जाऊँ, तब उसने एक जोड़ा पैदा किया, जो हरा
(कोई Force) और रतूवत (मेटर Matter) है त

ध्यान किया, कि–यह जोड़ा मेरी सन्तानको बढ़ावेगा। सूर्य वास्तवमें ऐन हरारत (तेजोराशि) है और चन्द्रमा रतूबत है। और ये सब मूर्त्त अमूर्त्त रतूबत हैं और इनमें जो असली हरारत है वह इनका प्राण है।

(१८)–सूर्य जब पूर्वमेंको चढ़ता है तो उसकी प्रकाश-मयी किरणें पूर्व दिशामें फैलती हैं और जो प्राणी पूर्व दिशामें बसते हैं उन पर व्यापक होती हुई पहुँचती हैं और उनके प्राणोंकी रक्षा करती हैं। इसप्रकार ही दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊपर, नीचे सब ही तरफको ये किरणें फैलती हैं और उन दिशाओंमें रहनेवालोंमें पहुँच कर उनको स्वास्थ्य तथा आत्मिकलाभ पहुँचाती हैं अर्थात् उनको अपने रूपका बनाती हैं।

(१९) यह सूर्य वैश्वानर (सर्वजीवरूप) विश्वरूप (सकल प्रपञ्चरूप), प्राणरूप और अग्निरूप है और यही सबको जीवन देता है। इस ही बातको वेदके अन्य मंत्रमें भी कहा है, कि–यही सुनहरी किरणोंवाला विश्व रूप आदित्य सबकी आँख, तथा सबका जीवन है और अपनी सहस्रों किरणोंसे अनेकों तरह फैलता हुआ मानो हमारा प्राण बन जाता है।

(२०)–चन्द्रमा भी इसप्रकार ही चढ़ता हुआ हर-एकमें रतूबतका लाभ पहुँचाता है। वह सूर्य हरारत का तात्त्विक लाभ पहुँचाता है और यह चन्द्रमा रतूबत का तत्त्व पहुँचाता है। हरारत काम करनेवाली है और रतूबत भोजन काममें आने वाली है और यह दोनों शक्तियाँ जो प्रजापतिकी सन्तान हैं, मिल कर जगत्में काम कर रही हैं। हरारत उत्पन्न करती हैं, रतूबत

बदलती है, इसप्रकार प्रत्येक वस्तुकी उत्पत्ति और
हुआ करती है।

(२१) यदि हरारत और रतूबत जो सूर्य
चन्द्रमाका उपादान (हकीकत) है न होती तो
भी न होता, इसलिये यह चन्द्रमा और सूर्यका जो
प्रजापतिकी सन्तान प्रजापतिरूप हमारा पहला
(माता पिता) है। दूसरा पितृ सम्वत्सर (साल)
क्योंकि-सम्वत्सर सूर्य और चन्द्रमाकी गतिसे उत्प
होता है। सूर्यकी गतिसे संक्रान्तिगणनाका साल
चन्द्रमाकी गतिसे तिथिगणनाका साल (सम्वत्सर
पैदा होता है।

(२२)-सम्वत्सर वास्तवमें सूर्य चन्द्रमाकी गति
है उनसे भिन्न नहीं है, इसलिये यह दूसरा पितृ
प्रजापतिरूप और उसकी ही सन्तान है, जो उत्तराय
और दक्षिणायनके मेल पाया हुआ है। सूर्य और चन्द्र
अपनी सालाना गतिमें जो दायरा (गोलाकार-व्यास
बनाते हैं, वह दो भाग होकर दक्षिणायन और उत्तरा
यण नामके दो मार्ग (कौश-धनुषाकार) बनाता है।
इनमें उत्तरायण भाग नर और दक्षिणायन भाग नारी
है। दोनोंके मेलसे यह पितृ भी स्पष्ट दिखाई देता है।

(२३) यदि यह दूसरा पितृ सम्वत्सर न होता तो
भी कुछ न होता क्योंकि-प्रत्येक पदार्थकी उत्पत्ति और
विनाश नियत समय पर ही हुआ करते हैं, इसलिये
समय भी माता पिताका दूसरा जोड़ा है। जब ये सूर्य
और चन्द्रमा छः महीने उत्तरी भागमें विचरते हैं जो
कि पितारूप भाग है उस समय तो उनके लिये कर्प उा

सनासे प्यार करते हैं वे उनके देवयान मार्ग (सड़क) की रक्षा करते हैं और अपनी प्यारी सन्तानको मरण होने पर गोदमें लेकर देवलोकमें पहुँचा देते हैं और फिर उनको देवताके रूपमें जनते हैं तथा ऊपरके लोकोंके दिव्य पदार्थ अर्पण करते हैं ।

(२४)–परन्तु जब ये सूर्य और चन्द्रमा दक्षिणायनमें छः मास बराबर विचरते हैं तो मातृपंक्तिमें लाभ पहुँचता है, उनके लिये जो केवल कर्म करते हैं, उनके पितृयान मार्गकी रक्षा करते हैं, और ये उनको मरणके बाद गोदमें लेकर सोमलोकमें जाते हैं, तथा सोमराज बना देते हैं एवं ऊपरके लोकमें शारीरिक भोग दिलाते हैं, जैसे कि–सुन्दरी स्त्रियें और दिव्य भवन । क्योंकि–ये भोग शारीरिक कर्मोंसे बनाये गये हैं इसलिये ये अंत में नष्ट होजाते हैं, तब जीवको यहाँसे लौटना पड़ता है ।

(२५)–परन्तु जो जप तप और ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान करते हैं और मैं आत्मदेवकी सन्तान हूँ, शरीर नहीं हूँ प्रजापतिका पुत्र प्रजापतिरूप हूँ, ऐसा विश्वास रखते हैं, वे इस प्रमाण और पहचानके कारण पिताका उत्तराधिकार पाते हैं तथा प्रजापतिकी गोदमें जा बैठते हैं और उसीसे मेल पाते हुए ऊपरके लोकोंमें तल्लीनशील होते हैं, यही अमृत है, यहाँसे वे उनकी समान जो माताकी गोदमें जाते हैं, लौट कर नहीं आते ।

(२६)–महीना वर्षका टुकड़ा है, उसकी ही सन्तान तीसरी पितृ है । उसमें शुक्लपक्ष पिता और कृष्णपक्ष माता है, इन दोनोंके मेलसे महीना समाप्त होता है । जो प्रजापतिकी सन्तान प्रजापतिरूप है, जो अपने आप

को आत्मा और प्राण मानता है, शरीर नहीं जानता। कृष्णपक्षमें यज्ञ करता हुआ भी शुक्लपक्षमें करता और जो अपने आपको आत्मा वा प्राण नहीं मानता किन्तु शरीर जानता है वह शुक्लपक्षमें यज्ञ करता हु भी कृष्णपक्षमें करता है।

(२७)–दिन रात भी महीनेका टुकड़ा, उसकी सन्तान और चौथा पितृ है। उसमें दिन पिता और रा माता है, इन दोनोंके मिथुनसे यह चौथा पितृ भी सम होता है और प्रजापतिकी सन्तान प्रजापतिरूप है। पुरुष दिनमें अपनी स्त्रीसे समागम करता है वह वास में प्राणकी हानि करता है, परन्तु जो रात्रिमें समा करते हैं वे भोग करते हुए भी ब्रह्मचर्यसे नहीं गिरते प्रकटमें समागम करते हुएसे दीखते हैं।

(२८)–अन्न भी दिन रातकी सन्तान और दिन रा का रूप है, क्योंकि–अन्नकी उत्पत्ति भी नियमित सम पर होती है, जो नियमित समय दिन रातसे प्राप्त हो है, इसलिये अन्न भी वास्तवमें पाँचवाँ पितृ है जो प्रजा पतिकी सन्तान प्रजापतिरूप है और यह अन्न (संता भी वीर्य और रजसे मेल पाया हुआ है, क्योंकि– अन्न ही भक्षण किया जाने पर पितामें वीर्यरूपसे औ मातामें रजोरूपसे प्रकट होता है और जब वीर्य त गर्भमें जाकर मिलित होते हैं तो उस मेलसे मनु पैदा होता है। इसप्रकार प्रजापति हमको इन पितरों द्वारा जनता है। इसप्रकार प्रजापति हमारा पिताम और हम उसकी सन्तानरूप हैं तो अवश्य ही उस सम्पत्तिके अधिकारी हैं।

(२९) जो मनुष्य प्रजापतिके अनुसरण पर मेल करता हुआ प्रजापतिका व्रत धारण करता है वह भी बेटे बेटी जनता हुआ प्रजापतिकी समान सन्तानवाला होता है और जो विवाह करके भी ब्रह्मचर्यसे रहते हैं तथा सत्यका पालन करते हैं वे ही सोमलोक पाते हैं, परंतु जिनमें छल कपट मिथ्याभाषण जरा नहीं होता है वे ब्रह्मलोकमें जाते हैं और ऊपरके लोकोंके स्वामी होते हैं।

(३०) इस प्रकार ये पितृ प्रजापतिके सन्तान हमारे माता पिता या हमारी उत्पत्तिके कारण हैं, उनके ही द्वारा हम संसारमें आये हैं और अन्तमें उनके द्वारा ही यहाँसे जायँगे तथा वे ही हमारे पालनकर्त्ता हैं इसलिये वेही मालिक कहलाते हैं और प्रजापति जो हमारा आदि पितृ या पितामह है उसका अनुसरण ही वास्तवमें हमारी धर्मशिक्षा है, जो कि-हवनकर्म कहलाता है और उसके भाँति२ के नियम वेदमें लिखे हैं। इसलिये जो वेदकी आज्ञाके विरुद्ध चलते हैं वे ऊपरके लोकोंमें की उन्नति कदापि नहीं कर सकते।

(३१) दिन रात नामके जो चौथे माता पिता हैं उन में दिन तो सूर्यका प्रकाश है और रात्रि पृथिवीकी छाया है, इसलिये सूर्य और पृथिवीका मेल मानो प्रकट पितृ दिखाई देता है, इसलिये भूमि माता और सूर्य पिता है क्योंकि-सूर्यकी गतिसे जल बरसता है और उसके प्रभाव तथा तीक्ष्णतासे पृथिवीमेंसे फल प्रकट होते हैं और ये पृथिवी तथा सूर्य मिलकर प्रजापतिका एक समष्टि शरीर है और शेष पितृ उसके ही शरीरके भाग एग पट्ठे (व्यष्टि) हैं और ये सब मिलकर एक विराट पुरुष है।

(३२) देवलोक उस विराट पुरुषका शिर है, नेत्र है, दिशायें हाथ हैं, पृथिवी पैर हैं, समुद्र मस है, आकाश शरीर है वायु श्वास है, अग्नि मुख है, मनुष्य उसकी ही सूरत पर उत्पन्न हुआ उसका पु जिसप्रकार हमारे हिस्से रगें पट्ठे हैं,जीवन और प्राण इसप्रकार ही विराटपुरुषके अवयव और रग-पट्ठे पितरोंमें भी जीवन और प्राण हैं,वे ही देवता कहलाते

(३३) हमारे अवयव और प्राणोंमें सञ्चार और दिमाग (मस्तिष्क) से होता है और वे इन ही कारिणी शक्तियोंके सञ्चालनसे स्वाभाविक प्राण और सङ्कल्प विकल्प आदि करते हुए जीवित हैं। प्रकार ये पितर भी देवलोक और सोमलोकसे संचा (के ज्ञान) पाते हुए जीवित होरहे हैं और हमको ज तथा पालन करते हैं। और जिसप्रकार हमारे मु खाया हुआ भोजन पहिले मेदेमें जाता है, फिर जिग तथा फिर रग पट्ठोंमें जाताहुआ स्वाभाविक प्राण कि और सङ्कल्प विकल्पोंमें जामिलता है, इसप्रकार ही भो मृतकसंस्कारके समय अग्निमें दिये हुए विराट पु का भोजन होते हैं और उसके पितर नामके रगपट्ठों द्वारा उस क्रमसे जो सड़कोंके दृष्टान्तसे प्रकट किया ग से हम देवलोक और सोमलोकमें चढ़ते हुए देवता सो राज होजाते हैं।

(३४) यह बात प्रकट है, कि-मनुष्यका खायाहु भोजन जब पचता है तो उसका सूक्ष्म अंश इन्द्रियें औ प्राणोंमें परिवर्तित होता हुआ इन्द्रियें और प्राणरूप जाता है तथा उसका स्थूल अंश अङ्गों और हड्डियोंमें प

वर्तित होता हुआ उनका ही रूप बनजाता है, क्योंकि-जब हम भोजन नहीं खाते हैं तो जैसे मांस और चमड़े में शिथिलता आजाती है, ऐसे ही इन्द्रियों और प्राणोंमें भी कमजोरी आजाती है, परन्तु जब भोजन करते हैं तब शरीर हृष्ट पुष्ट होता है तथा इन्द्रियों और प्राणोंमें भी ताकत पाते हैं। इससे मालूम हुआ, कि-भोजनके सूक्ष्म अंशसे प्राण बनते हैं और स्थूल अंशसे मांस चमड़ा आदि।

(३५) इसीप्रकार हम भी विराट पुरुषका भोजन होतेहुए क्रम २ से रूपान्तरित होकर देवलोकमें देवता और सोमलोकमें सोमराज होजाते हैं तथा प्रजापतिसे मेल पाजाते हैं यह कुछ भी मुश्किल नहीं है प्रत्युत जिसप्रकार पाचिका शक्ति भोजनको पचाकर हमारे प्रत्येक अंगमें पहुँचाती हुई और उसकी ही सूरतका बनातीहुई उससे मेल करादेती है इसप्रकार ही पाचिका शक्ति (छहेगाजिया भोजनकी प्राणशक्ति) हमको हरएक पितरमें रूपान्तरित कर उसकी ही सूरतका बनाती हुई उसमें ही विलीन करदेती है और फिर उनसे निचोड़के रूपमें पृथक् करती हुई इसप्रकार ही देवलोक और सोम-लोकमें लेजातीहै, जिसप्रकार हमारे अवयवोंसे निचोड़ करती हुई पिताके वीर्य और माताके गर्भमें लेजातीहै।

❀ पांचवां अध्याय ❀

(१) हम ऊपरके अध्यायमें पितरोंका स्वरूप स्पष्ट-रूपसे वर्णन करचुके हैं, फिर भी यह इशारा करचुके हैं, कि-यह सब जीवित हैं उनमें जो जीवन है वह देवता

कहलाते हैं जिसप्रकार मनुष्यमें जो जीवन है वह उनके शरीर और आकारसे स्वतन्त्र जान (प्राण) कहलाता है। इसीप्रकार पितरोंमें जो प्राण हैं वह उनके शरीर और आकारसे स्वतन्त्र देवता कहलाते हैं जैसे कि-अग्निमें जो प्राण है वह अग्निदेवता, दिनमें जो जान है वह दिनका देवता शुक्लपक्षमें जो जीवन है वह शुक्लपक्षका देवता, उत्तरायणका जो प्राण है षट्मासका देवता और सौर वर्षका जो प्राण है वह वह वर्षका देवता और सूर्यका जो प्राण है वह सूर्यदेवता कहलाता है और यही पितृपंक्ति है कि-जिसका पीछे वर्णन किया गया है।

(२) इसतरह ही दूसरी मातृपंक्तिमें भी रात्रि अन्धकारका प्राण रात्रिका देवता, कृष्णपक्षका प्राण कृष्णपक्षका देवता, दक्षिणायनका प्राण दक्षिणायनका देवता, और चन्द्रमाका प्राण चन्द्रमाका देवता है।

(३) इसभाँति आलोचनासे सिद्ध हुआ कि-क्या पांचभौतिक पदार्थ और क्या हरएक भूत सब ही प्रजापतिके अवयव या उसके ही टुकड़े हैं और ये हरएक इसभाँति ही जीवित हैं कि जिसभाँति हमारे अवयव जीवित हैं और वह जीवन ही उनका देवता कहलाता है। ये सकल पदार्थ क्या सूक्ष्म और क्या स्थूल असंख्य हैं और उनके प्राण भी असंख्य हैं।

(४) पदार्थ भी कोई समष्टिरूप और कोई व्यष्टिरूप है, इसलिये समष्टि पदार्थोंके जीवात्मा ईश्वरकी उच्च कोटिकी मिलितशक्तियाँ हैं उनको ही देवगण कहते हैं और व्यष्टिरूप पदार्थोंके जीवात्मा एक २ व्यक्ति हैं उनको ही एक २ देवताके नामसे बोलते हैं। ये व्यक्ति

गत देवता खलकी (प्रत्येकव्यक्ति साथ उत्पन्न होनेवाले —संसारी) ।हैं और वे मिलित देवगण अमर कहलाते हैं, इसलिये ही पूजनीय हैं ।

(५) यद्यपि समष्टिके देवगण भी असंख्य हैं, तथापि वैश्वदेव विद्यामें कुछकी गिनती आती है और उनमें भी जो वंसश्च हैं उनकी संख्या तेतीस ३३ मानी है। जिन में आठ वसु देवता ग्यारह रुद्र देवता, बारह आदित्य देवता, एक इन्द्र देवता और एक प्रजापति है ।

(६) वसु देवताओंमें पृथिवी, अग्नि, पवन, आकाश सूर्य,देवलोक और तारागण हैं। संस्कृतके कोशमें वसुका अर्थ आबादी (वसती) है, क्योंकि -इनमें प्रजायें वसती हैं, इसलिये इनको विद्वान् वसु देवता कहते हैं पञ्चतत्त्व जिनको पञ्चभूत कहते हैं इकट्ठे होकर हरएकका शरीर एक हल्का मानाजाता है और हम इन हलकोंमें तब तक आबाद रहते हैं कि-जबतक हमारे प्रारब्ध कर्मोंका फल भोग समाप्त नहीं होता है ।

(७) वसुदेवता हमारे कर्मोंका फलभोग देनेके लिये परिवर्त्तित और मिलित होकर एक शरीररूप घर उसी तरह बनाते हैं जैसे कि-लड़की, लोहा, ईंट, गारा आदि मिलकर एक हवेली तयार करते हैं और हमको उसी तरह अपनेमें बसाते हैं, जैसे कि - हमको हवेली अपनेमें बसाती है। जिसप्रकार वह हवेला हमारी आबादी या घर कहलाती है, इसप्रकार ही ये देवता भी हमारे वसु नामसे कहेजाते हैं ।

(८) इनके सिवाय पृथिवी पार्थिव शरीरवालोंके लिये वायु वायवीय शरीरवालोंके लिये, अग्नि आग्नेय शरीर

वालोंके लिये, जल जलीय शरीर वालोंके लिये, आ
गन्धर्वोंके लिये, सूर्य सौर शरीरवालोंके लिये, चन्
चांद्र शरीरियोंके लिये और सब तारागण अपनी २ प्र
ओंके लिये उनके शरीर बनाते हैं और उनका पि
बनेहुए स्थान और आराम देते हैं, इन सब ही देवता
के हम कृतज्ञ हैं।

(९) जिसप्रकार हम बालक अवस्थामें माताकी
में मल सूत्र करते हैं, उसके स्तन चूसते हैं और उस
ही बगलमें सोते हैं इसीप्रकार हम पृथिवीके पा
पृथिवी पर मलमूत्र करते हैं, उसका ही अन्न फल
खाते हैं, उस पर ही चलते फिरते हैं और उस प
आराम करते हैं। मातासे भी अधिक दया करने
देवता हमारे किसी कामसे भी रुष्ट नहीं होते,
माताकी समान हमारे ऊपर मातृप्रेमकी छाया डा
हुए हमारे अपराधोंको क्षमा करते हैं।

(१०) ज्ञानन्द्रियें जो ज्ञानकी गोलक हैं और कर्मेन्
जो चेष्टा की आधार हैं और मन जो सोचता समझ
है, ये ग्यारह रुद्र देवता हैं। ये पञ्च ज्ञानेन्द्रियें और प
कर्मेन्द्रियें मिलकर दश होती हैं। ये सब देवता ह
कर्मोंका फलभोग देनेके लिये हथियारोंकी वा द्वारों
समान शरीरमें इकट्ठे हुए हैं।

(११) आखोंके द्वारा हम देखते हैं, कानोंके
सुनते हैं, जीभके द्वारा स्वाद लेते हैं त्वचाके द्वारा छूते
और नासिकाके द्वारा सूँघते हैं। इसप्रकार ही वा
द्वारा बात चीत करते हैं हाथोंके द्वारा ग्रहण करते
चरणोंके द्वारा चलते हैं, गुदाके द्वारा मल त्यागते हैं

उपस्थ (कामेन्द्रिय) के द्वारा आनन्द पाते हैं, मनके द्वारा सोचते समझते हैं, सकल देवता हमारे भोगके लिये साधनरूप होकर हमारी इस छोटीसी हवेलीमें इकट्ठे हुए हैं। और उसप्रकार हमारे पास रहनेवाले (मुसाहिब) और सेवक हैं,जिसप्रकार कि-उच्चकोटिके देवता हमारे पिता प्रजापतिके मुसाहिब और सेवक है।

(१२) जिसप्रकार हमार पिता प्रजापति सकल ब्रह्माण्डमें राज्य करता है, इसप्रकार ही हम उसके राजकुमार भी इस छोटेसे पिण्डमें राज्य करते हैं। जिसप्रकार ब्रह्माण्ड प्रजापतिकी राजधानी है,उसी प्रकार यह छोटासा शरीर हमारी छोटीसी राजधानी है।

(१३) देखो बुद्धि हमारा चतुर मन्त्री है, मन प्रधान मन्त्री है,ज्ञानेन्द्रियें गुप्तचर (जासूस) हैं, क्योंकि-आँख रूपवान् जगत्में दौड़ती है,कान शब्द-संसारमें जाता है, नासिका सुगन्ध और दुर्गन्धका समाचार लाती है,जिह्वा मीठे खट्टे आदिको लहरें दिखाती है, त्वचा गरम और ठण्डेका विवाद खड़ा करती है। मन प्रधान मन्त्री इन सब के लाए हुए समाचारोंकों मालूम करके याद रखता है और समय २ पर हमारे आम दरबारमें पेश करता है, बुद्धिरूप मंत्री उसमेंसे भले बुरेको छाँटता है और ग्रहण तथा त्यागकी संमति देता है।

(१४) काम तहसीलदार है, क्रोध कोतवाल है, प्रकृति (कुदरत) जनरल है,मनके सङ्कल्प विकल्प असंख्य सेना हैं, इसीप्रकार यदि ध्यान दिया जाय एक २ देवताकी गिनती की जाय तो असंख्यों लश्कर,असंख्यों अधिकारी (मंसबदार) हैं और सकल मनुष्यों (राजकुमारों) के

लिये प्रजापतिकी आज्ञानुसार न्याय नीतिसे कर्म करानेको इकट्ठे होरहे हैं तथा अपने २ खास काममें लगे हुए हैं। हमको चाहिये, कि-पिता प्रजापतिका अनुसरण (तकलीद) कर हम भी उच्चासन पर बैठनेवाले बनकर हर एक कामको देखें और न्याय नीतिके अनुसार उनके साथ वर्त्ताव करें क्योंकि-काम तहसीलदार यदि प्रजापतिके नियम (कानून) के प्रतिकूल कुछ भोग भोगे तो चाहिये, कि-बुद्धि नामक मन्त्रीकी सम्मतिके अनुसार क्रोध कोतवालको उसके ऊपर चढ़ादें, जिससे कि-वह उसको धमका कर ठीक नियम पर लेआवे। और यदि क्रोधी कोतवाल इसी प्रकार नियमविरुद्ध चलना चाहे तो काम तहसीलदारको उसके ऊपर चढ़ादें, जिससे कि वह उसको भय दिखाकर निर्बल करता हुआ सन्मार्ग पर लावे। यदि ऐसा न करें तो हम परमपिता प्रजापति की आज्ञाको नहीं मानते हैं और कुमार्गके गढ़ेमें गिरते हैं।

(१५) हर हालतमें ये ग्यारह देवता अपनी असंख्य सेनाके सहित हमारे मुसाहिब, योग्य सेवक, भोग साधन भोगरूप हैं और हम उनके भोक्ता हैं। जबतक हमारे कर्म समाप्त नहीं होते तबतक उसी प्रकार भोग देते हुए इस छोटीसी राजधानीमें काम करते हैं। जब हमारे पुण्यकर्म समाप्त होते हैं तो चलदेते हैं और मृत्यु यात्राके कारण संबंधियोंको रुलाते हैं, इसकारण ही इनका नाम रुद्र देवता है, क्योंकि-संस्कृतमें उसको ही रुद्र कहते हैं, कि-जो रुलाता है। यह प्रकट है कि-इनके ही कूच करनेके कारण मृत्यु होती है और हमारे संबंधी रोते हैं

(१६)-चैत्रसे लेकर फाल्गुन तक बारह मास बारह आदित्य देवता हैं, क्योंकि-ये बारह देवता वार २ चक्कर लगाते हुए हमारे कर्मोंके भोग देने और उनको समाप्त करनेकी चेष्टा करते हैं। इनकी ही आवाजाईके कारण नियमित समय पर हमारे कर्म भोग देनेके लिये तयार होते हैं। वसु देवता परिवर्त्तित होते हुए शरीर-रूपसे हमारे भोगकी हवेली बनते हैं और रुद्र देवता भोगके साधन रूपसे इसमें इकट्ठे होते हैं और बालकसे जवान तथा जवानसे बूढे होते हैं और अन्तको इनकी ही वार वार होती हुई आवाजाईसे नियत समय पर हमारे कर्म भोग समाप्त होजाते हैं तथा मृत्यु आजाती है। क्यों कि-ये देवता हमारे कर्मोंकी रक्षा,वर्त्ताव और समाप्तिके लिये एक न्यायकी तराजू (मीजाने अदल) हैं इसकारण ही इनको आदित्य देवता कहते हैं, क्योंकि-जिस प्रकार तराजू एक वस्तुको ठीक २ लेती और देती है, इसप्रकार ही ये बारह देवता भी न्यायानुसार हमारे भोगोंको लेते और देते हैं। जो इस प्रकार लेना देना है उस को ही संस्कृतमें आदित्य कहते हैं और यही ईश्वरके न्यायालय की तराजू हैं।

(१७)बत्तीसवाँ देवता आकाशमें प्रत्यक्षविद्युत(बिजली) है। जो शक्ति और बलरूपसे हमारे शरीरमें छोटोसा प्रकट होरहा है। यही इन्द्र है, इसके ही कारणसे हम कुश्ती करते, लड़ने झगड़ने और शत्रु पर विजय पाते हैं। यही देवता आकाशमें और पृथिवी पर प्रजापतिका पुत्र, देवताओंका सेनापति और हमारी सेनाका प्रधान नायक है। हम हरकाममें इससे ही सहायता माँगते

हैं। यही हमारा पूज्य हमारी प्रार्थनाओंको सुननेवा और देवलोकमें देवराज कहलाता है।

(१८) तैंतीसवाँ देवता प्रत्यक्ष प्राण देवता है महाप्राण (रूहे आजम) है। यही प्रजापति है, सकल देवताओंकी माता है, इस कारण ही इस अदिति नामसे बोलते हैं। यही इन सबका पिता इस कारण ही इसको प्रजापति कहते हैं। सबकी मूल है। क्या देवता, क्या पितर, मनुष्य, इसकी ही शाखायें हैं और यह एक ही प्रकारका होकर सकल संसारमें फैला हुआ सबमें कुछ करता है। यही वसु देवतारूप होकर सबके भो हवेली अर्थात् पिण्ड और ब्रह्माण्डरूप होरहा है। ग्यारह रुद्ररूप होकर सबके भोगका साधन और होरहा है। यही बारह आदित्य होकर हरएकको भो देनेलेनेमें न्यायकी तुला होरहा है-और यही सबोंमेंव होकर हमारा देवराज इंद्र है। यही हममें प्राणरूप हो जीवन हमारा पिता है और हम इसकी सन्तान इस ही रूप हैं। इसप्रकार यह एक ही महाप्राण (रूहेआ परमेश्वर, तैतीस देवतारूप और पाँच पितृरूप वैश्वानर विराट भगवान् प्रकट होरहा है।

(१९) यह जो देवताओंका वर्णन ऊपर किया हमारी अपनी कपोलकल्पना नहीं है, किन्तु याज्ञव मुनिने शाकल्य ब्राह्मणके प्रश्न पर प्रकट किया है। सुना है, कि-राजा जनककी राजसभामें क्रोध और अ जलेहुए शाकल्य ब्राह्मणने जो देवताओंके विषयमें

प्रश्न किया था, याज्ञवल्क्यजीने उसका गुप्त रहस्य सभा में सर्वसाधारणके सामने प्रकट किया था।

(२०) क्रोध और डाहमें भरे हुए शाकल्यने कहा था, कि–बताओ याज्ञवल्क्य ! देवता कितने हैं ? मुनिने कहा कि–जितने वैश्वदेव निविदामें कहे हैं, उतने ही देवता हैं। शास्त्रमें उन मंत्रोंका नाम निविदा है, जो वैश्वदेव शास्त्रमें देवताओंके नाम नियत करते हैं।

(२१) फिर शाकल्यने कहा, कि–संक्षेपमें कहो। मुनिने कहा संक्षेपमें तैंतीस देवता हैं। शाकल्यने कहा, और भी संक्षेप करो मुनि ने कहा छः हैं। कहा और भी संक्षेप करो, मुनिने कहा तीन हैं। फिर कहा और भी संक्षेप करो, मुनिने उत्तर दिया, कि–दो हैं। फिर कहा और भी संक्षेप करो, मुनिने उत्तर दिया, कि–डेढ़ है। कहा और भी संक्षेप करो, तब मुनिने कहा, कि एक है शाकल्यने कहा, कि-निविदा रूपमें गिनने पर कौन २ हैं ? मुनिने उत्तर दिया, कि–यह सब इन ही तैंतीसका प्रकाश है। शाकल्यने कहा–तैंतीस कौनसे हैं ? उत्तर दिया, कि–आठ वसु देवता, ग्यारह रुद्र देवता, बारह आदित्य देवता, एक इन्द्र और एक प्रजापति है।

(२२) बूझा, कि–आठ वसु कौनसे हैं ? मुनिने उत्तर दिया, कि–अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य चन्द्रमा देवलोक और नक्षत्र हैं। इनमें ही सब बस रहे हैं इस कारण ये वसु देवता कहलाते हैं। बूझा, कि–ग्यारह रुद्र कौनसे हैं ? मुनिने उत्तर दिया कि–पाँच ज्ञानेन्द्रियें पाँच कर्मेन्द्रिय ग्यारहवां मन। जब ये शरीरमेंसे चलते हैं तब रुलाते हैं इस लिये रुद्र कहलाते हैं।

(२३) बूझा, कि–आदित्य कौनसे हैं ! मुनिने उ
दिया, कि–बारह महीने ही बारह आदित्य हैं, ये ही
की उम्रको लेते देते हैं, इसलिये आदित्य कहलाते
बूझा, कि–इन्द्र कौन हैं, मुनिने उत्तर दिया, कि जो
जता है वही इन्द्र है। बूझा गरजना कौन है, मुनि
उत्तर दिया, कि–जो चमकता है और बरसता है। बू
प्रजापति कौन है, उत्तर दिया कि–यज्ञ। कहा यज्ञ क
है, उत्तर दिया, कि–पशु ही यज्ञ हैं।

(२४) शाकल्यने बूझा, कि–छः देवता कौनसे हैं
इनका भी संक्षेप हैं! उत्तर दिया, कि—अग्नि पृथि
वायु, अन्तरिक्ष सूर्य और देवलोक हैं। कहा, कि इ
भी संक्षेप तीन कौनसे हैं उत्तर दिया, कि—तीन
हैं। देवलोक सूर्यलोक मिलकर ऊपरका उत्तम लोक
पृथिवी और अग्नि मिलकर नीचेका अधम लोक है
अन्तरिक्ष तथा वायु मिलकर मध्यमलोक है और
जगत् इनका ही प्रकाश है।

(२५) कहा, कि–संक्षिप्त दो देवता कौन हैं, उ
मिला कि—अन्न (हरारत अजीजी) और प्राण (
वत अजीजी) कहा डेढ कौन है उत्तर मिला, कि–
चलता है। कहा कि–यह डेढ क्यों है! उत्तर मिल
कि—जो आप पलवान् हो और दूसरोंके लिये सहाय
हो वही डेढ होता है। जो हरसमय भीतर जाता
और जो हरसमय बाहर आता है, इसलिये यह पवन
सहायक है और यही डेढ है, क्योंकि–इसकी सहाय
से ही सब वृद्धि पाते हैं। यदि यह न हो तो भी कु

जीवित न हो। कहा, कि–एक कौन है! उत्तर मिला, कि–प्राण। यही ब्रह्म है, यही गुप्तरूप भगवान् है इसको ही त्यत् (परोक्ष) कहते हैं।

❀ छठा अध्याय ❀

(१) अब यों समझो, कि-देवताका मूलस्वरूप वास्तव में प्राण है इस कारणको ही रूह कहते हैं एक ही महाप्राण (रूहे आजम) फैलता हुआ अनेकों प्राणात्मा (अरवाह) बनजाता है, उनको ही देवता कहते हैं इन देवताओंकी खास मूर्त्तियें देवलोकमें विद्यमान हैं परन्तु उनकी किरणें सकल संसारमें फैलती हुई सबमें सब कुछ करती हैं, उनकी मूर्त्तियें सूर्यकी समान हैं, और उनकी किरणें भी सूर्यकी किरणोंकी समान निकलकर संसारमें फैलती हैं।

(२) जिस प्रकार सूर्यकी खास मूर्त्ति आकाशमें विद्यमान है, इसप्रकार देवताओंकी खास मूर्त्तियें देवलोकमें विद्यमान हैं उन सबके आकार शास्त्रमें लिखे हुए हैं, परन्तु जिसप्रकार सूर्य अपनी किरणोंसे विकीर्ण(बिखरा) होता हुआ दुनियांमें फैलता है, इसप्रकार ही ये देवमूर्त्तियें भी विकीर्ण होकर प्राणमयी दुनियांमें व्यापक हो रही हैं

(३) प्राणसमष्टिकी फैलावट जो महादेव है वह दो प्रकारकी है, पहली फैलावट उनकी जो सर्व साधारणमें है वह पाँच प्रकारकी है, क्योंकि-इस फैलावटमें या तो वह खेंचती है, या निकालती है, या रोकती है, या पचाती है, या बनाती है, वह खेंचती है तब प्राण, निकालती है

तब अपान, रोकती है तब व्यान, पचाती है तब समा[illegible] और बनाती है तब उदान कहलाती है। ये ही पञ्चप्रा[illegible] कहलाते हैं और ये पञ्चप्राण सकल संसारमें, क्या मनु[illegible] क्या पशु, क्या पक्षी, क्या आकाशमें रहनेवाले औ[illegible] क्या भूतल पर रहनेवाले सबमें सब कुछ करते हैं।

(४) देखो, जब हम अन्न खाते हैं, तब प्राणवा[illegible] उसको निगलती है, उस निगले हुए अन्नको व्यानवा[illegible] मेदेमें रोकता है, समान वायु उसको पकाता है अपा[illegible] वायु उसके स्थूलभागको जोकि-विष्ठा मूत्र होता[illegible] उसको बाहर निकालता है और उदान वायु उसके सू[illegible] निचोड़को रुधिर, मांस हड्डियें बनाती हुई हमारे र[illegible] मांस, हड्डियोंमें मिलादेती है।

(५) फिर क्योंकि-हममें क्षण २ में श्वास चलते[illegible] उन श्वासोंको भीतर खेंचनेवाला प्राण, बाहर निका[illegible] वाला अपान है, परन्तु हम किसी नियमित समय[illegible] श्वासको रोक सकते हैं उस रोकने वालेको व्यान [illegible] हैं और यह प्रकट है कि-हम श्वासके द्वारा पवनको खाते[illegible] हैं उस पवन को जो पका कर साफ करता है वह समान[illegible] और जो उस पवनको खाती है वह उदान है। दूसरे[illegible] प्रकारसे भी प्रकट है, कि-हमारी नसें (नबजें) बराबर[illegible] चलती हैं, जब वे खुलती हैं तब अपान काम करता है[illegible] जब ये मिलती है तो प्राण काम करता है और यह प्रकट[illegible] है कि-हम जब कभी जोरका काम करते हैं, तब [illegible] खुलती हैं न मिलती हैं उस समय व्यान काम करता है[illegible] जैसेकि-जब कठोर कमानको जोरसे खेंचते हैं तब श्वास[illegible] और नबजें बन्द होजाती हैं, वह जो बन्द करता है यही[illegible]

व्यान है। और यह भी प्रकट है, कि-रुधिर जो नसोंमें चलता है इनमें ही हजम होता है, जो इस प्रकार रुधिरको पकाता है वह समान है। उस पचे हुए रुधिरको नसोंमें और प्रत्येक अंशोंमें जो इनका ही आकार बनाता हुआ इनमें ही मिला देता है वह उदान है। उसके स्थूल भाग मूत्र पसीने आदि मलको जो निकालती है वही अपान है।

(६) वृक्ष लता आदि वनासपतियें भी हमारी समान ही भोजन करती हैं, पवनको खाती हैं, बढ़नीं हैं, फलती है। यदि इनमें पञ्च प्राण न होते तो कैसे खाते और कैसे बढ़ते या फैलने ? देखो पौधोंमें जितना अधिक खाद और पानी दिया जाता है उतने ही अधिक फलते फूलते हैं। फिर क्योंकि-जो वस्तु भूमिमें गाड़दी जाती है, उस को भूमि खाजाती है और उसको मट्टी बनाती हुई अपने में मिला देती है। इस प्रकार ही अग्निमें होमकी हुई वस्तु भी जलती है और आग बनजाती है, पानीमें डाली हुई वस्तु गलती है और वायुमें सूख जाती है। इसप्रकार ध्यान देनेसे मालूम हो सकता है, कि-ये पञ्च प्राण ही सबमें सब कुछ करते हैं।

(७) भिन्न २ विद्वानोंने भिन्न २ कार्योंके निमित्तसे इनके भिन्न२ नाम रखलिये हैं। जैसे कि-हमारे शरीरमें काम करनेवाले उदानको जब वह वीर्यको गर्भमें भांति २ के आकारोंमें बनाता है तब, गर्भपोषक कहते हैं और वही जब मरणकालमें मनको उड़ाकर लेजाता है और पीछे बताभी हुई सड़कों पर भांति२ के आकारोंमें बद-लता हुआ पितरोंमें लेजाकर मिलाता है तब काल

(मलकुलमौत) कहलाता है,इसको ही संस्कृतमें उदा
प्राण कहते हैं ।

(८) यही उदान भोजनको हमारे शरीरकी धातु
में उनका ही रूप बनाता है और फिर उनमेंसे निचोड़
वीर्यरूप बनाता है, फिर यही नियमित समय पर
वीर्यको गर्भाशयमें लेजाता है,यहां लोथड़ा,बुदबुद,
कल बनाता हुआ दशवें महीनेमें मनुष्य बना देता
तथा मनुष्यलोकके भोग दिलाता है, परन्तु जब उस
यहांके भोग समाप्त होजाते हैं, तब यही उसको यहां
उड़ा लेजाता है, तब या तो पृथिवीमें मेल दिलाता
पृथिवीसे वनस्पति,वनस्पतिसे अन्न,अन्नसे रुधिर
रुधिरसे वीर्य बना उसको नर नारीमें निकालता
कीट पतङ्ग या चरन्द परन्दकी योनिमें दिलाता है ।

(९)-फिर जब हमारे आकाशीय भोग होते हैं
यही उदान प्राण हमको आग बनाता है,आगसे दिन
प्रकाश (राज रोशन) और दिनके प्रकाशसे शुक्लपक्ष
प्रकार देवयान सड़क पर देवलोकमें लेजाता है इसप्र
पितृयान सड़क पर लेजाता हुआ सोमलोकमें सोम
बनाता है इसप्रकार यह उदान कर्त्ता हर्त्ता है और यह
हमारा इष्ट फल है । उसके ही चुङ्गलमें हम अपने क
के कारणके कुछ बन जाते हैं । कभी भूतल पर चरन्द
होकर चरते हैं और कभी परन्द होकर उड़ते है, कभी
गधा ऊँट होकर लादे जाते हैं और मार खाते हैं कभी
हम आकाशमें विचरने वाले सत्यसंकल्प बन जाते
हैं और ज्योतिर्मय चोलेको धारण कर सकल
संसारके स्वामी बन जाते हैं संसारमें जितने आश्च

हैं इस ही उदान प्राणके चमत्कार हैं, जो प्रकृति (कुदरती) काम कहलाते हैं और यह एक ही महादेव पञ्चप्राणरूपसे संसारमें व्यापक हो संसारका राज्य करता है

(१०) चराचर वह अकेला ही महाप्राण पञ्चप्राणरूपसे संसारमें व्यापक हो सबमें सब कुछ करता है तो विद्वानों ने विश्वासके साथ आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इसको तीन प्रकारोंमें बांटा है, क्यों कि-इसका कुछ भाग शरीरोंमें और और इन्द्रियोंमें विद्यमान है उस को अध्यात्मिक प्राण (रूहे नफसी) कहते हैं उसका जितना भाग देवमूर्त्तियोंमें पहुँचा हुआ है उसको अधिदैविक (रूहे इलाही) कहते हैं और उसका जितना भाग पञ्चभूत (आफाक) में पहुँचा हुआ है उस को आधिभौतिक प्राण (रूहेआफाकी) कहते हैं।

(११) आध्यात्मिक प्राणके पञ्चप्राण शरीरों और इन्द्रियोंमें व्यापक मालूम होते हैं। आधिभौतिक प्राणके पञ्चप्राण पञ्चभूतोंमें रहते हैं, और आधिदैविक प्राणके पञ्चप्राण देवलोकमें व्यापक हैं। परन्तु उनमेंसे कितने ही अतिप्रकट हैं और कितने ही अत्यन्त गुप्त हैं। जहां २ अतिप्रकट हैं वहां वहां ही उसके मुख्य स्थान नियत किये गये हैं। जैसे कि-आध्यात्मिक प्राणका मुख और नासिका हैं, अपानका गुदा, व्यानका रगपट्ठे, समानका पेटमेंका मेदा और उदानका स्थान वह रग है, जो ऊपर मस्तिष्क (दिमाग) मेंको जाती है और जिसको सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं।

(१२) इसप्रकार ही आधिभौतिक प्राण और यद्यपि सब ही पञ्च भूतोंमें व्यापक हैं, तथापि आधिभौतिक

प्राणका मुख्य स्थान सूर्यमण्डल है, क्योंकि-वही सं
का केन्द्र (मरकजे आलम) और सब उसकी ही आ
र्षण शक्तिसे खिंचे हुए अपनी २ कीली पर चक्कर ल
हैं और यही देवता आंखके ऊपर कृपा करता है-उस
देखनेमें सहायता देता है।

(१३) पृथिवीमें जो प्राणशक्ति है वही महा अप
है, क्योंकि-यही पार्थिव शरीरधारीओंको सूर्यकी ओर जा
से रोकती और अपनी ओरको बुलाती है। इस ही म
अपान (अपाने आजम) में आध्यात्मिक अपान उ
प्रकार सहायता पाता है, जिस प्रकार एक डेरेकी चो
को चारों ओरकी डोरियें खड़ा रखती हैं और वायु
झोके से रोकती हैं।

(१४) यह प्रकट है, कि-पृथिवी हमको चारों ओ
से एक बराबर इसप्रकार खेंचती है, जिसप्रकार डोरि
डेरेकी चोबको बाहरसे एक बराबर खेंचती हैं, औ
इस पृथिवी देवताकी कृपासे आध्यात्मिक अपान उस
प्रकार ही ठहरनेका केन्द्र पैदा करलेता है, जैसे कि डे
की चोब उन डोरियोंके आकर्षण (खिचाव) में खड़ा
होता है और उस ही ठहरनेके केन्द्रमें हम पृथिवी पर
चलते फिरते हैं।

(१५) यदि यह आध्यात्मिक और आधिभौतिक अपान
इसप्रकार ठहरनेकी कीली (मरकजे सिक्ल) न बनाता
तो निःसन्देह हम उसी प्रकार पृथिवी पर गिर जाते जैसे
कि-एक पत्थर गिरता २ पृथिवीमें लिपटजाता है। यही
शक्ति पृथिवी पर ठहरा रखनेवाली पृथिवी देवता है।

(१६) पृथिवी और सूर्यके मध्यमें जो पोला भाग है

वही आधिभौतिक समान [हाजमा आकाकी] है, क्योंकि-हरएक वस्तुका पकना इस ही आकाशमें होता है और इसमें जो वायु है वही व्यानका मुख्य स्थान है, क्योंकि-वायुसे ही प्रत्येक वस्तुकी रोक होती है और इसमें जो हरारत है वही भौतिक उदानका मुख्यस्थान है,इसकारण ही प्रत्येक वस्तुका घटना बढ़ना हरारतसे होता है ।

(१७) ये बातें जो ऊपर वर्णनकी गयी हैं, निराधार हमारी कल्पनाकी हुई नहीं हैं, किन्तु पिप्पलाद मुनिने आश्वलायन ऋषिके प्रश्न करने पर यही उत्तर दिया था। आश्वलायन ऋषिने पूछा, कि-भगवन् ! यह प्राण कहाँ से उत्पन्न होता है और शरीरमें क्यों आजाता है ? और किस भाँति फैलता हुआ एकसे अनेक पूर्ण होजाता है और फिर किस प्रकार निकलजाता है ? तथा शरीर और इन्द्रियोंमें किस भाँति बटजाता है ?

(१८) मुनिजीने उत्तर दिया, कि तुम बड़े ही कठिन तत्त्वको जानना चाहते हो, हरएक मनुष्य इसको नहीं समझ सकता, परन्तु तुम भी तत्त्वज्ञानियोंमें श्रेष्ठ समझे जाते हो,इसलिए मैं उस गहन तत्त्वको कहता हूँ । यह प्राण परमात्मासे प्रकट होता है । इसके प्रकट होनेमें दृष्टान्त,यह है,कि-जिसप्रकार मनुष्की परछाईं मनुष्यमें से निकलती है और वह मिथ्या (हेच)होती है इसप्रकार ही प्राण परमात्मामें आरोपित है और मिथ्याभूत है ।

(१९) अपने ही मनकी सङ्कल्प-इच्छा आदि वृत्ति-योंसे किये हुए कर्मोंके फलके सांचेमें फँस कर यह प्राण शरीरमें आजाता है और उससे संबन्ध पाता है । जिस-प्रकार एक चक्रवर्ती राजा अपने भिन्न२ नगरोंमें भिन्न२

अधिकारियोंको भिन्न२ अधिकारोंके साथ नियत करता है, कि-यह २ अधिकारी (हाकिम) इस २ स्थान पर अपना इजलास करे, इसप्रकार ही यह मुख्य प्राण चक्षु आदि इन्द्रियस्वरूप दूसरे प्राणोंको नेत्र आदि भिन्न २ स्थानोंमें भिन्न २ काम करनेके लिये नियत करता है।

(२०) जैसे कि-मल मूत्रको नीचे लेजानेवाले अपान को गुदा और उपस्थमें बैठाता है। प्राणको आंख, कान, मुखमें बैठाता है। नाभिस्थानमें समानको बैठाता है, कि-जिससे यह पचाया करे यही खायेहुए अन्नको पकाया करता है। क्यों कि- यह खाये पिये अन्नादिको एकसा करके लेजाता है, इसकारण समान कहलाता है। इसके ही समान किये हुए अन्नरसरूप ईंधनवाले जठराग्निमेंसे ज्ञानरूप सात ज्वालायें उठकर सात (दो नेत्रगोलक, दो नासापुट, दो कानोंके छिद्र और एक मुख) द्वारोंमेंको निकलती हैं इनसे ही ज्ञानेंद्रयों और कर्मेन्द्रियोंकी चेष्टा होती है। येही वृत्तियें इकठा होकर इन्द्रिय सुख कहलाती हैं और यही मनुष्यका स्वरूप है।

(२१) हृदयाकाश जो जीवात्माकी मुख्य राजधानी है, उसमेंसे एक सौ एक नाड़ियें निकलती हैं और हर एक नाड़ीमेंसे फिर सौ २ सूक्ष्म नाड़ियें शाखाओंकी समान निकलती हैं और उन शाखारूप नाड़ियोंमेंकी भी हरएक नाड़ियोंमेंसे और सूक्ष्म बहत्तर २ हजार निकल कर फैलती हैं, ये सब नाड़ियें गिनतीमें बहत्तर करोड़, बहत्तर लाख दस हजार दो सौ एक ७२७२१०२०१ हैं। ये नाड़ियें (नसें) रग पट्ठेसे बनाभीगयी हैं इन सब नाड़ियोंमें व्यान वायु फिरा करता है।

(२२) उन मुख्य एक सौ एक नाड़ियोंमेंको सुषुम्ना नामकी एक नाड़ी जो ऊपरको जाती है और ब्रह्मरन्ध्र (दीमाग) तथा हृदय (दिल) से मिली हुई है उसमें उदान रहता है। जब इस शरीरमेंके कर्मभोग समाप्त होते हैं तब चक्षु आदि सब प्राण सूक्ष्मशरीरमें जो मन है उसमें लीन होजाते हैं,तदनंतर उसको यह उदान इस तरह झपट कर लेजाता है जैसे बाज चिड़ियाको झपट कर लेजाता है और फिर उसके पुण्यके अनुसार पुण्यलोकमें देवता या लोकराज बनाता है और उसका यदि पाप फल देनेवाला होता है तो पापके अनुसार पापलोकमें लेजाकर कीट पतङ्ग आदि योनियोंमें बैठा देता है और यदि पाप पुण्य दोनों बराबर होते हैं तो मनुष्यलोकमें लेजाकर मनुष्यका जामा पहनाता है।

(२३)-सूर्य वास्तवमें बाहरका प्राण है, नेत्रके ऊपर कृपा करता हुआ यही प्राणरूप प्रकट होता है, पृथिवी में जो देवता है वह मनुष्यके अपानको सम्हालता हुआ बाहरका अपान है। यह जो आकाश है यही समान है यह जो वायु है यही बाहरका व्यान है। यह जो तेज (हरारत) है यही बाहरका उदान है।

(२४)-यही कारण है, कि-जब मनुष्यमें हरारत बढ़ती है तो यह उदान ऊपरको चढ़ता है। पहले बुद्धि और बल मनमें लय होते हैं, फिर मन प्राणमें लय होता है, और प्राण उदानमें लय होता है तथा वह उदान जैसा उसका विश्वास और अनुष्ठान होता है, उसके अनुसार भोगनेको लिये हुए उनही तीन सड़कोंमेंसे एक सड़क पर, जिनका वर्णन ऊपर आचुका है, सूरतके पाद सूरत

बनाता हुआ उसकी ही इच्छा और विश्वासके अनुसार तीन लोकमेंसे एक लोकको लेजाता है और नये भोगके लिये तयार करता है।

(२५)-जो मनुष्य उस प्राणकी इसप्रकार उत्पत्तिको और उसके मुख्यस्थानोंको तथा उसके इन आश्रयोंको एवं पाँच प्रकारके और दो प्रकारके विभागको जानता है, निःसन्देह वह अमृत होजाता है और प्रजापतिसे जा मिलता है. इस बातका वेदकी श्रुति प्रमाण देती है।

❀ सप्तम अध्याय ❀

(१)-दूसरी फैलावट महाप्राण (रूहेआजम) की सोच समझरूप है, जब यह महाप्राण हृदयकमलमें इस फैलावटसे खुलता है तो इसको ही मन कहते हैं। और क्योंकि-यह मन उस पांचप्रकार वाले प्राणका पुत्र है,इस लिये उसके ही आकारमें उत्पन्न हुआ है, क्योंकि - जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसकी ही सूरत पर होता है और वह पञ्चविध प्राण वास्तवमें प्रजापतिका स्वरूप है और यह मन (अन्तःकरण) मनुष्यका स्वरूप है।

(२)-जिसप्रकार प्रजापति फैलता हुआ अनेक प्राण बनजाता है,इसप्रकार ही यह मन भी फैलता हुआ अनेक सङ्कल्प और विकल्परूप बनजाता है, जिसप्रकार देव-लोकमें प्रजापतिसे अनेकों प्राण निकलते हुए पृथक् २ रूपमूर्तियें धारण करते हैं और प्रजापतिमें एकीभूत होते हैं, इसप्रकार ही मनकी वृत्तियें भी मनसे निकलती हुईं भिन्न २ सङ्कल्पमयी मूर्तियें धारण करके मनमें एकीभूत होती हैं।

(३)-जब यह मन मस्तिष्क (दिमाग) में फैलता है तो दो भागोंमें बटजाता है, या तो इसका विभाग ज्ञानेन्द्रियोंमें होता है या चेष्टा (हरकत) में और हरएक विभाग फिर पाँच प्रकारका होता है। इन्द्रियसम्बन्धी विभागमें या तो वह देखता है, या सुनता है, या छूता है, या चखता है, या सूँघता है, जब यह देखता है तो इसका नाम चक्षु होता है, जब सुनता है तब श्रवण होता है, जब छूता है तब त्वचा होता है, जब चखता है तब रसना होता है और जब सूँघता है तब घ्राण होता है ये ही पञ्च ज्ञानेन्द्रियें हैं।

(४)-मनका दूसरा विभाग चेष्टामें होता है,या तो वह बोलता है,या पकड़ता है,या चलता है,या त्यागता है, या आराम पाता है। जब वह बोलता है तब वाक, जब पकड़ता है तब पाणि (हाथ) जब चलता है तब पाद,जब छोड़ता है तब पायु और जब आराम पाता है तब उप-स्थ कहलाता है, ये ही पांच कर्मेन्द्रियें हैं।

(५)-दर्शनेन्द्रियका खास स्थान आँख है, श्रोत्रका कान है, स्पर्शका मांस और चर्म है, रसनाको जीभ है, घ्राणका नाक है, वाक्यका स्थान वाणी, ग्रहणका हाथ गमनका पांव,पायुका गुदा और आनन्दका मूत्रेन्द्रिय है, इसकारण ही आंखसे देखता, कानसे सुनता, जीभसे चखता, मांस और चर्मसे छूता,नाकसे सूँघता, जीभसे बोलता, हाथोंसे पकड़ता, पांवोंसे चलता, गुदासे मल त्यागता और मूत्रेन्द्रियसे स्त्रीसम्भोग करता है।

(६)-यद्यपि यह मन प्रजापतिका पुत्र, प्रजापतिकी समान फैलकर पञ्चज्ञानेन्द्रियें और पञ्चकर्मेन्द्रियेंरूप

होगया है और जुदे २ स्थानोंमें इजलास करता हुआ खास २ काम करता है तो भी आप प्रजापतिकी समान हृदयकमलमें स्थित रहता हुआ ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियोंमें सोचविचार करता हुआ सबके प्रभुरूपसे सब पर आज्ञा चलाता है, जब वह चाहता है तो आँख खुलती है और देखती है, जब वह चाहता है तब वाणी बोलती है इसप्रकार प्रजापतिकी समान सब इसके अधीन हैं, और इसकी आज्ञाका पालन करते हैं।

(७)-इस मनकी फैलावट कर्मेन्द्रियेंरूप उसही फैलावट पर है जो पाँच तरहके प्राणमें प्रकट कीगयी हैं और ज्ञानेन्द्रियेंरूप फैलावट प्रजापतिके विज्ञानमय प्राणों पर है, जिसका अभी वर्णन नहीं हुआ है। इसकारण यह पुत्रभी पिताके आकार पर उत्पन्न हुआ उसका ही युवराज (शाहज़ादा) उसभाँति ही इस पिण्डमें राज्य करता है जिसभाँति प्रजापति ब्रह्माण्डमें राज्य करता है।

(८)-जिसभाँति मनुष्यका मन हृदयकमलमें खुलता हुआ सोच विचाररूप होता है, इसभाँति ही प्रजापति का मन भी उस चन्द्रमामें जो सूर्यके आसपास फिरता है सोच विचार रूपसे खुलता है। जिसभाँति हृदयकमलमें आकाश है जो हृदयाकाश कहलाता है, ऐसे ही चन्द्रमामें भी आकाश है जो चन्द्राकाश कहलाता है। जैसे हृदयाकाश (अर्श) मनुष्यके सोच विचारका खास स्थान है इसभाँति ही चन्द्राकाश भी प्रजापतिके सोच विचारका खास महल है।

(९) जिसभाँति हृदयकमलसे लेकर मस्तिष्क और नेत्र तक जो खाली स्थान (आकाश) है वह मनका दरबार

है,ऐसे इसही चन्द्रमासे लेकर सूर्य तक जो खाली भाग है वह देवलोक है,प्रजापतिका मन यहाँ फैला हुआ उस भाँति ही काम करता है,जिस भाँति हमारा मन मस्तिष्कमें फैला हुआ काम करता है ।

(१०)-इस देवलोकमें प्रजापति भी देखता, या सुनता है, या छूता या चखता है अथवा सूँघता है । जब वह देखता है तो उसका ही नाम आदित्य देवता होता है, जब वह सुनता है तो उसको दिक् देवता कहते हैं, जब वह छूता है तो उसको मरुत देवता कहते हैं, जब चखता है तो उसको वरुण देवता कहते हैं । जब सूँघता है तब उसको ही अश्विनी कहते हैं। जिस प्रकार दर्शनेन्द्रियका खास स्थान आँख है,ऐसे ही आदित्यका मुख्य स्थान सूर्य है दिक्का मुख्यस्थान दिशायें हैं, मरुत्का मुख्यस्थान पवन है, वरुणका मुख्य स्थान जल है और अश्विनीका

यस्थान अश्विनी कुमार हैं।

(११)-जिसप्रकार हमारा मन आँख नाक कान आदि जो इन्द्रियें हैं उनसे सम्बन्ध रखता है, इसप्रकार ही पतिका मन हमारे सब अंश इन्द्रियोंसे सम्बन्ध रखता क्योंकि-जब हम चक्षुसे देखते हैं तो उसी देखी हुई तुको मनसे याद करते हैं और जब हम सुनते हैं तो सी सुनी हुई वस्तुको मनसे बराबर याद करते हैं और ह प्रकट है, कि-जो देखता है वही याद करता है और ते सुनता है वही स्मरण करता है। यद्यपि आंख देखती , सुनती नहीं, यद्यपि कान सुनता है, देखता नहीं तो ती मन चक्षुकी देखी हुई वस्तुको देखता और कानकी सुनी हुई वस्तुको सुनता है, इसलिये एक ही मन सब

इन्द्रियोंसे सम्बन्ध रखता है और उनका केन्द्र है, पर
इन्द्रियें अपने २ स्वरूपमें भिन्न २ अधिकार रखती

(१२)–प्रजापतिका मन भी हमारे मनोंके सा
सोच करता है और हमारे मनोंके विचारमें विचार
है। यद्यपि संसारी प्राणियोंमें एक मनसे दूसरेका
सोच विचार नहीं करता, तथापि प्रजापतिका मन
के मनोंसे सब सोच विचार पाता है इसकारण ही
सबके मनकी बातें जानता है। और अपने खास
विचार चन्द्राकाशमें करता है

(१३)–जैसे आँखका देखना मनका देखना है
कानका सुनना मनका सुनना है, इसप्रकार ही सं
प्राणियोंका सोचना विचारना प्रजापतिका सोचना वि
रना है, और इन्द्र वरुण यम देवताका सोचना भी प्र
पतिका सोचना विचारना है, इसभाँति क्या देवता
मनुष्य, क्या पशु और क्या पक्षी सबके मन वास्तव
टुकड़े (व्यष्टि) हैं और प्रजापतिका मन उन २ टुकड़ों
का समष्टि है और यह प्रकट ही है कि-समष्टि हरएक
व्यष्टिका केन्द्र होता है, इसलिये प्रजापतिका मन हरएक
मनका केन्द्र है।

(१४)–जब कि-उसका मन हरएक मनका केन्द्र है
और हरएकका मन हरएककी इन्द्रियोंका केन्द्र है तो जो
हम देखते या सुनते हैं उसको वास्तवमें प्रजापति देखता
वा सुनता है, जो बोलते या चलते हैं वह वास्तवमें प्रजा-
पति बोलता या चलता है और जिस भाँति हमारे मन
तथा इन्द्रियोंका और प्राणोंका भी हमारे व्यष्टि
शरीरोंसे सम्बन्ध है, ऐसे ही प्रजापतिकी इन्द्रियें और

प्राणका भी हमारे शरीरोंमें सम्बन्ध है। यद्यपि हमारा शिर एक है, परन्तु सब शिर प्रजापतिके हैं। यद्यपि हमारी आंखें दो हैं, परन्तु सम्पूर्ण आंखें प्रजापतिकी हैं। यद्यपि हमारे कान दो हैं, परन्तु सब कान प्रजापतिके हैं, इसीलिये वेदमन्त्रमें कहा है कि-उसके हजारों शिर हैं, उसकी हजारों आंखें हैं, हजारों कान हैं और हजारों पांव हैं।

(१५)-इसभांति क्या देवता क्या मनुष्य क्या पशु क्या पक्षी, सकल भूत और भौतिक पदार्थोंमें सर्वरूप प्रजापति हैं। यह चराचरका समूहरूप जगत् उसका विशाल शरीर है और यही महाप्राण उसमें साक्षात् उस का प्राण है, इसलिये वही विराट् भगवान्‌की सूरतमें हम को प्रत्यक्ष आंखोंमें दिखलाई देता है, जिन पितर और देवताओंका ऊपर वर्णन किया है, वे उसके ही अवयव हैं और वह सबमें व्यापक होकर अपनी दयाका परिचय देरहा है।

(१६)-देवलोक उसका असली शिर है, सूर्य उसकी आंख है, दिशायें उसके कान हैं, पृथिवी उसके चरण हैं, समुद्र उसका मूत्राशय है, अग्नि उसका मुख है, इस भांति हरएक पदार्थ उसके ही अवयव हैं और विराट्पुरुष ही सबका पिता सबका पालनकर्त्ता संसाररूप शरीरसे प्रकट होरहा है, सब उसके ही पुत्र उसके ही अङ्ग और उसके ही उत्तराधिकारी हैं।

(१७)-वह चन्द्रलोकमें स्वयं सोच विचार करता हुआ हमारे मनोंमें भी विद्यमान होकर सोच विचार करता है। सूर्यमें विराजमान होकर सबोंको देखता हुआ भी

हमारी आंखोंमें देखता है हमारा देखना उसका ही देखना है और उसका देखना हमारा देखना है। हमारे भोग उसके ही भोग हैं, हमारे सुख उसके ही सुख हैं, हमारे पुण्य उसके ही पुण्य हैं परन्तु हमारे पाप उसको नहीं छूसकते और हमारे दुःखोंसे वह दुःखी नहीं होता क्योंकि—उसने पहले कल्पमें अपने सुकृत कर्मोंसे यह प्रजापतिका अधिकार पाया है और उन ही सत्कर्मोंके कारणसे अब समष्टि रूपमें उठा है, इसकारण सकल सुख और ऐश्वर्यके लिये वह सबका स्वरूप हुआ है, कि वह सबके पुण्य सुखोंका भोक्ता होय। हमारे कुकर्मोंके फल दुःखोंकी सूरतमें हमको व्याकुल करते हैं, परन्तु प्रजापतिमें अपना प्रभाव नहीं डालसकते, यही प्रारब्ध है।

(१८)-पञ्च प्राण और अन्य देवता, जिनका ऊपर वर्णन होचुका है यद्यपि प्रजापतिकी समान स्वतन्त्र २ कामके लिये सकल संसारमें फैले हुये उन कामोंको करते हैं तो भी वे देवलोकमें पुण्यरूप खास मूर्त्तियें धारण करके अपने २ अधिकारके अनुसार अपने पुण्यको भोगते हैं। और उन ही पुण्यके कारणसे हमारे पुण्य और सुखोंके अधिकार भी प्रजापतिकी समान पाते हैं इस लिये ही लिखा है कि—देवता पुण्यलोकमें प्राप्त होनेवाले पुण्यके भागी हैं और पापमयी योनियें केवल पापकी भागी हैं, परन्तु मनुष्य जो पुण्यपापके मेलसे बनाया गया है सुख और दुःख दोनोंको पाता है।

(१९)-इस देवताओंकी मूर्त्तियें जो देवलोकमें विद्यमान हैं, उनके लिखनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पढ़े लिखे लोग उनको पुराणोंसे जान सकते हैं।

और उन मूर्त्तियोंके इलाकेके कारण वह उसीभाँति वर्त्ताव करते हैं, जिसप्रकार हम शरीरके इलाकेके कारण इस लोकमें वर्त्ताव करते हैं, क्योंकि-वे अपने २ उत्तम पुण्य के कारणसे पुण्यलोकको पाते हैं और हमारे भोग तथा उन्नतिके लिये वे द्वार हैं, इसलिये ही बड़े और पूज्य हैं तथा उन ही शास्त्रीय मूर्त्तियोंसे ध्यानके योग्य हैं जो उनकी मूर्त्तियें देवलोकमें हैं ।

(२०)–जिसप्रकार प्रजापतिकी चित्तवृत्तियें हमारी चित्तवृत्तियोंकी केन्द्र हैं और जिसप्रकार उसकी ज्ञानेन्द्रियें हमारी ज्ञानेन्द्रियोंका केन्द्र हैं, इसप्रकार ही पञ्चप्राण हमारी कर्मेन्द्रियोंका केन्द्र हैं और ये पञ्चप्राण ही उसकी समष्टि कर्मेन्द्रियें जिस प्रकार हमारी कर्मेन्द्रियें इन जुदे २ मनोंके अधीन हैं इस प्रकार ही वे पञ्चप्राण भी उस समष्टि मनके अधीन हैं, क्यों कि हमारा जैसा सङ्कल्प होता है, उसके अनुसार ही ये कर्मेंद्रियें काम करती हैं, ऐसे ही चन्द्राकाश (अर्श) में प्रजापति जैसा २ सङ्कल्प करता है ये पञ्चप्राण वैसा २ ही काम करते हैं, और जिसप्रकार यह हमारा छोटासा शरीर हमारे भोगका साधन है ऐसे ही विराट्शरीर प्रजापतिका शरीर है तथा उसके भोगका साधन है और जिसप्रकार हमारा पृथक् २ मन ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंसे मिलकर सबका समूहरूप सूक्ष्मशरीर या अन्तःकरण कहलाता है, इस प्रकार ही वह, समष्टि (कुली) मन सकल देवताओंसे मिलकर हिरण्यगर्भ कहलाता है ।

(२१)-प्रजापति जिस प्रकार अपने विराट्शरीर और हिरण्यगर्भसे संयोग पाकर जीवित पुरुष हैं, इस प्रकार ही हम भी अन्तःकरण और इस छोटेसे शरीरसे संबंध पाकर जीवित पुरुष या जीती जागती जान हैं, जिस प्रकार वह ब्रह्माण्डमें काम करताहुआ राज्य करता है, ऐसे ही हम इस छोटेसे शरीरमें राज्य करते हैं।

(२२) देखो जब हम चाहते हैं कि-एक ॐकार लिखें, तो पहले हमारे हृदयकमलमें इच्छारूप स्फुरण होता है और फिर मस्तिष्कमें उसका आकार मानसिक आकार बनता है और फिर कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा वही विचाराहुआ ॐकारका आकार कलम और स्याही से बाहर कागज पर बनाते हैं।

(२३)—प्रजापति भी जब किसी पदार्थको बनाना चाहता है तब पहले इसकी इच्छा चन्द्रलोकमें स्फुरित होती है और उसका आकार देवलोकमें विचारा जाता है और फिर देवताओं तथा तारागणोंकी सहायतासे उसी नियमसे पृथिवी लोकमें चेष्टा (हरकत) होती है और वह विचारा हुआ आकार (पदार्थ) उत्पन्न हो जाता है। इसप्रकार ही सब पदार्थोंकी उत्पत्ति हुआ करती है और महत् देवता; पितर तथा नर नारी उस उत्पत्तिके साधन हैं, कोई पदार्थ तो केवल देवताओंकी सहायतासे बनते हैं और कोई मनुष्योंकी सहायतासे इसलिये वही प्रजापति सब साधनोंका प्रेरक कहलाता है।

(२४)-प्रजापतिका संकल्प अपने भोग और ऐश्वर्य के लिये अपने पुण्यकर्मोंके वशमें है, परन्तु दूसरोंके भोग के लिये उनके ही कर्मोंके अधीन है जैसे २ उनके कर्म

होते हैं वैसे २ ही उसके सङ्कल्प उनके दुःख और सुख के भोगके लिये उठते हैं तथा वैसा ही होता है, इसकारण से ही वह सत्यसङ्कल्प और न्यायकर्त्ता भी है और यही कारण है, कि-कर्मकाण्ड विद्या वास्तवमें न्यायकी विद्या है, जो कोई जैसा करता है वह वैसा ही फल पाता है और यही कारण है, कि-इस विद्यामें कर्मको मुख्य मानते हैं क्योंकि यद्यपि जीवन मरणके कार्यकर्त्ताओंमें ईश्वर, देवता, समय, पितर और कर्म सब मिल कर कारण होते हैं, तथापि इनमें हरएकके कर्म ही मुख्य हैं इसलिए भ्रातृगण ! यदि बुरे कर्म करने लगे तो अपने लिए, परन्तु क्या चतुर मनुष्य कभी कुएँमें कूदता है या क्या जानकर गढ़ेमें गिरता है ? किन्तु ऐसा वही करता है जो अन्धा या मूर्ख होता है। तुमको जब यह प्रकट करदिया कि-मरणके बाद क्या होगा फिर क्यों जान बूझ कर खोटे कर्म करते हो और क्यों झूँठ तथा छल कपटका व्यापार करते हो ?।

(४५)–परन्तु उस शिक्षासे जो केवल संसारी शिक्षा है, तुम गफलतमें पड़ते हो और अन्तमें क्या होगा, इस तत्त्वसे यह गाफिल रखती है और यही विश्वास दिलाती है, कि–मरा सो गया। हा शोक ! यह नहीं समझाती कि–तुम मर कर केवल वेष बदलते हो, मिट नहीं जाते, अगर मिट जाते तो छूटजाते। यह देखो नरक तुम्हारे सामने खड़ा है और उसीप्रकार खेंचता है, जिस तरह चुम्बक पत्थर लोहेको खेंचा करता है, लोहेका स्वभाव है, कि–वह चुम्बककी तरफको खिचजाता है, ऐसे ही

तुममें भी पाप है, कि जिनके कारणसे तुम नरककी ओर खिंचने चले जाओगे और यमलोकमें उसका न्याय हो।

(२६)–परन्तु जो पुण्य कर्म करते हैं और लोभ लालच को छोड़कर सत्यपर अटल रहते हैं तथा इस नाशवान संसारको झूठा मानते हैं और अपने कर्त्तव्यको याद रख कर निष्कपट भावसे बर्त्ताव करते हैं उनको स्वर्ग नाम सोमलोक बुलाता है और इस पार्थिव शरीरको छोड़ ही सोमराज बनकर स्वर्गके सुख भोगते हैं। स्वर्गमें सुन्दरियें और भाँति२ के भोजन तथा अलभ्य पदार्थ प्राप्त हैं। इसलिये आओ, समझो—दुनियांके धोखेमें न पड़ो और पश्चिमी विद्याकी चका चौंध पर मतवाले न हो जाओ, जो समय चलाजाता है, फिर हाथ नहीं आता सावधान होजाओ।

❀ अष्टम अध्याय ❀

(१)–प्राणका वास्तविक स्वरूप एक दहकती हुई अग्नि है और मन या अन्तःकरणका वास्तविक रूप एक जलती हुई अग्नि है, जिसप्रकार दहकतीहुई आगमें फूँक मारनेसे आग जल उठती है और लपटें मारती है, इस प्रकार ही प्राणोंमें फूँकसे मन पैदा होता है और लपटें मारता है, मस्तिष्क तक फैलता है और इसप्रकार ही आँख, कान, नाक, मुखमेंको निकलता है, जिसप्रकार कि जलतीहुई आग देगचीके पाँच और छेदोंमेंको निकलती है

(२)–यह प्रकट है कि–जब अंगारेके ऊपर कुछ ईंधन डालाजाता है और उस पर फूंक मारीजाती है तो धीरे२

यह आग जब उठती है और प्रकाश देती है, इसप्रकार ही प्राणमें जब भोजन दियाजाता है और खास नियम से प्रजापति फूंक मारता है तो उसमें मन भी आग उठता है तथा सोच समझका प्रकाश देता है और इन्द्रियरूप होकर मस्तिष्कमें फैलता है।

(३)-खास नियम यह है कि-जब भोजन रुधिर बन कर जिगरमेंसे हृदयमें पहुँचता है और वहीं पकता है बाहरके सांससे फूंक पहुँचती है, उससे सोच सम-झरूप प्राण उत्पन्न होता है और दिमागतक उसकी लपटजाती है तथा आंख कान नाक मुख और त्वचा में पाँच प्रकारकी होजाती है, फिर जैसे जलती हुई आग उसही दहकती हुई आगमें लीन हो जाती है उसप्र-कार ही यह मन भी उन ही प्राणोंमें मिलजाता है और सोजाता है।

(४)-क्यों कि-दहकती हुई आग उत्पत्तिस्थान है और जलती हुई आग उसकी सन्तान है, इसप्रकार ही प्राण पिता है और मन पुत्र है जिसप्रकार बालक अपने पिताकी गोदमें खेलता है और आराम पाता है, ऐसे ही मन भी प्राणकी गोदमें जागता और सोता है,ध्यान रहे, कि-जैसे बालक पिताकी गोदमें लेटा हुआ हाथ बढ़ा कर बर्ताव करता है, ऐसे ही मन भी प्राणोंकी गोदमें लेटाहुआ आँख कान नाक मुखमें फैलता हुआ भूमि और आकाशके समान (तद्रूप) होजाता है और उसका प्रकाश करता है।

(५) छोटा बच्चा जब गोदमें कोई बाहरका कष्ट देखता है तो झपटकर पिताकी बगलमें छिपजाता है,

इसप्रकार ही यदि मस्तिष्क या अन्य किसी अवयवमें चोट लगती है तो मन तत्काल भागकर अपने पिता प्राणकी बगलमें छिपजाता है, इसको ही सर्वसाधारण मूर्च्छा (गश) कहते हैं और जब अवयव उस चोटसे आराम पाता है तब फिर बगलसे निकल कर फिर जहां का तहाँ आजाता है तथा बर्त्ताव करने लगता है, परन्तु जब कोई इन अवयवोंको अधिक खराब कर देता है तो पिता प्राण भी इस छोटे बच्चे (मन) को गोदमें लेकर इस शरीररूप स्थानमेंसे उड़जाता है और दूसरा स्थान तयार करके उसकोभी इसप्रकार ही उठाता है ।

(६)–पिताने इस छोटेसे बालकके लिये शरीरको इसप्रकार ही तयार किया है, जिसप्रकार उसने रहनेके लिये ब्रह्माण्डको तयार किया है, हृदयकमलरूप आराम करनेका एक खास बँगला बनाया है, जिसमें यह मन राज्य करता है। इस बँगलेमें बड़े सुन्दर दो दरवाजे लगाये हैं जो मनके काम कहलाते हैं और उनके ऊपर बड़ी सुन्दर चिक डाली है जो मनका परदा कहलाती है तथा एक पंखा उसके ऊपर हिलता है जिसको फेफड़ा कहते हैं और यह पंखा उसके आरामके लिये हरसमय हिलता रहता है तथा उसके सुखके लिये हरसमय हवा पहुँचाता रहता है ।

(७)–इस हृदयकमलमेंसे दो लंबी रगें निकलती हैं जो मस्तिष्कमें को जाती हैं, ये रगें उसकी दो सड़कें हैं, जो देवयान और पितृयानकी समान बनायी गयी हैं और मस्तिष्क उसका खास दरबार करनेका बँगला है, जहां बैठकर यह मन सकल संसारकी–पिताके ब्रह्माण्ड

तककी शैर करता है। जब वह भीतरी बँगलेमेंसे इन सङ्कल्पोंकी सहायतासे मस्तिष्करूप बाहरके बँगलेमें आता है तब इन्द्रियरूपसे फैलता हुआ बाहरकी शैर करता है और जो कुछ देखता या सुनता है उसकी मात्राको लेकर उन ही सङ्कल्पोंमेंको होकर फिर भीतरके बँगलेमें आजाता है और उस ही मात्राके अनुसार फैलता हुआ अपने भीतरी बँगलेमें एक अद्भुत ब्रह्माण्ड प्रजापतिके ब्रह्माण्डकी समान बनाता है, जिससे सिद्ध होता है कि-यह प्रजापतिका युवराज है और वही गुण रखता है जो उसके पिताके हैं।

(८)-जब वह मस्तिष्कमें दरबार करताहुआ अपने पिताके ब्रह्माण्डकी सूरत पर फैलता है तब उसको लोग जाग्रत् (बेदारी) कहते हैं और जब यह जाग्रत् जगत् की मात्रा लेकर भीतर ही भीतर एक नया जगत् बनाता है, तो उसको स्वप्न कहते हैं और जाग्रत्में भी वह हृदयके भीतर अनेकों बातोंकी तरङ्गें उठाया करता है, जिसको काम या सङ्कल्प कहते हैं।

(९)-जब वह किसी पदार्थकी इच्छा करता है तो उसको लोभ कहते हैं, जब वह किसी प्रतिकूल पदार्थके सामने आवेशमें आता है तो उसको क्रोध कहते हैं जब वह किसी बातसे संकुचित होता है तो उसको लज्जा कहते हैं, इसप्रकार हरएक दशामें बदलता हुआ उसही दशाका रूप होजाता है, इसलिये ही श्रुति भगवती सावधान करती है, कि-क्या काम, क्या चिन्ता, क्या शोक क्या आवश्यकता, क्या विश्वास, क्या लज्जा, क्या क्रोध सब कुछ मन ही है।

(१०)-यद्यपि उस मनकी अवस्थायें और तरंगे अन-गिनती हैं तो भी विद्वानोंने उसकी मुख्य चार अवस्थायें मानी हैं, क्योंकि-जब वह किसी सत्य बातको मालूम करता और उस पर विश्वास करता है तब उसको बुद्धि कहते हैं और जब वह किसी विषयका चिन्तवन करता है और नहीं जान सकता, कि-यह सत्य है या नहीं तो उसको मन कहते हैं, और जब वह किसी देखे या सुने पदार्थका स्मरण करता है तब उसको चित्त कहते हैं तथा जब अपनी अहन्ता (खुदी) को दिखाता है तब उसको ही अहङ्कार नामसे बोलते हैं।

(११)-इसप्रकार एकही अन्तःकरण भिन्न २ वृत्तियोंके कारणसे मन बुद्धि चित्त और अहङ्कार कहलाता है, इन चारोंके ही अधीन और असंख्यों वृत्तियें हैं, जिनके नाम नहीं रक्खे जासकते तो भी सकल वृत्तियें और उनके सोच विचार दो प्रकारके होते हैं,—या तो भले (नेक) या बुरे (बद) जो भली वृत्तियें उनको देवता तथा खोटी वृत्तियोंको असुर कहते हैं। इसप्रकार एकही मन (अन्तःकरण) अनेक देवता और असुररूप होकर हृदयके भीतर प्राणरूप तारसे बँधा हुआ रहता है और उस तारकी गाँठ उसके ही कर्म हैं, जो उसको भोग देनेके लिये फलरूपमें आते हैं।

(१२)-जबतक यह अपने भोगोंको भोग नहीं लेता है, तबतक उनही कर्मोंकी जंजीरमें फँसा हुआ कभी सुख और कभी दुःखकी दशामें बदल कर आराम और कष्ट पाता है। जब उसके सुखके कर्म उठते हैं तब सुखी

होता है और जब उसके कर्म दुःखके उठते हैं तब दुःखी होता है।

(१३)–गार्ग्य ऋषिने पिप्पलाद मुनिसे बूझा, कि-हे भगवन्! इस मनुष्यमें कौन २ से देवता सोजाते हैं और कौन २ से जागते रहते हैं? कौनसा देवता स्वप्न देखता है और निद्राका सुख किसको मिलता है? तथा उस समय सब जीव किसमें एकीभूत होजाते हैं?

(१४) पिप्पलाद मुनिने उत्तर दिया, कि–हे गार्ग्य! जैसे अस्त होनेके समय सूर्यकी किरणें सूर्यमें ही लीन होजाती हैं और उससे अलग करके नहीं दिखायी जा सकतीं, तथा फिर बार २ उदय होनेके समय उसमेंसे ही निकल आती हैं, और दशों दिशाओंमें फैली हुई दीखने लगती हैं, इसप्रकार ही क्या कर्मेन्द्रियें और क्या ज्ञानेन्द्रियें रूप देवता इस परम देवता मनमें स्वप्न आदिके समय लीन होती हुई एकीभूत होजाती हैं, इस कारण ही यह मनुष्य स्वप्नकी दशामें न सुनता है, न देखता है न सूँघता है, न छूता है, न पकड़ता है और न आनन्द लेता है, उस समय मानाजाता है, कि यह सोरहा है।

(१५)–परन्तु उस अवस्थामें प्राणरूप अग्निदें जागती रहती हैं, और अपना २ काम बराबर करती हैं। अपान वायु रूप अग्नि गार्हपत्य अग्निके समान है, और आहवनीय अग्निकी समान है, जैसे विधिपूर्वक स्थापन करे हुए गार्हपत्य (घरमें भोजन आदि बनानेमें काम आनेवाले) अग्निसे अग्निहोत्रके समय आहवनीय नामका अग्नि बाहर निकाला जाता है, ऐसे ही व्यापार रहित

हुए अपानमेंसे निकलता हुआसा प्राण सोतेमें मुख
नासिकामेंको चला करता है, इसलिये अपान गार्ह
अग्निकी समान है और प्राण आहवनीय अग्नि रू
व्यानवायु हृदयके दक्षिण छिद्रमेंको निकलता है इसी
दक्षिण दिशाके सम्बन्धवाला दक्षिणाग्निरूप है,साँस
आना जाना मानो दो आहुति हैं और जो इन आहु
योंको करता है वह समान है। मन मानो यजमान
उदान इस होमका इष्ट फलरूप है क्योंकि-जैसे य
का फल यमजानको स्वर्गमें लेजाता है ऐसेही उदान
मन नामक यजमानको स्वप्नसे चलायमान करके प्रति
दिन सुषुप्तिके समय ब्रह्मरूप स्वर्गमें लेजाता है

(१६) जैसे सन्ध्याके समय सूर्य अपनी किरणों
समेट कर अपनेमें एकाकार कर लेता है, ऐसेही जाग्र
और सुषुप्तिकी संधिमें यह मनरूप देवता सब इन्द्रियों
को अपनेमें लीन करके स्वप्नमें अपनी विभूतियोंको देखता
है। जिन पुत्र कलत्र आदिको पहले देखा है उनकी वास-
नावाला होकर उन पुत्र कलत्र आदिकी वासनासे उत्प-
न्न हुए पुत्र और कलत्र (स्त्री) को अविद्यासे देखता है
पहले सुनीहुई बातको वासनाके कारण मानो सुन रहा
है ऐसा मानता है। नदीतट आदि पर बार २ अनुभव
करीहुई वस्तुओंको अनेकों दिनोंके अनेकों स्वप्नोंमें अनु-
भव करता है। अन्य जन्ममें देखेहुए और इस जन्ममें
न देखेहुए पदार्थोंको देखता है। अन्य जन्ममें सुनी हुई
और इस जन्ममें न सुनीहुई बातको सुनता है। देश और
वस्तुएं जो जानी या नहीं जानी हैं उनको जानता है।
इसप्रकार मनरूप देवता सर्वरूप बनकर स्वप्न देखता है।

(१७)—जब यह उदानकी कृपासे स्वप्नसे चलकर सुषुप्तिमें पहुँचता है, उस समय यह न कोई स्वप्न देखता है और न कुछ जानता है। उस समय अपने पिता प्रजापतिके खास आराममें जो इसका परम आनन्द है उस में पहुँच जाता है। यही इसका परम ब्रह्मलोक है उस समय जैसे चिड़ियें अपने बसेरेके समय एक वृक्ष पर इकट्ठी होकर सोजाती हैं, ऐसेही यह सब जगत् अविनाशी परमात्मामें लीन होजाता है।

(१८)—क्या पृथिवी क्या पृथिवीकी गन्धतन्मात्र। क्या जल क्या जलकी रसतन्मात्रा, क्या तेज क्या तेजकी रूपतन्मात्रा, क्या वायु क्या वायुकी स्पर्शतन्मात्रा, क्या आकाश क्या आकाशकी शब्दतन्मात्रा, चक्षु और देखनेयोग्य वस्तु, कान और सुननेयोग्य वस्तु, नासिका और सूँघनेयोग्य वस्तु, रसना (जीभ) और स्वाद लेनेयोग्य वस्तु, त्वचा और स्पर्श करनेयोग्य वस्तु, हाथ और लेने योग्य वस्तु, मूत्रेन्द्रिय और आनन्द देनेयोग्य वस्तु, गुदा और त्यागने योग्य वस्तु, चरण और चलने योग्य देश मन और मनन करनेके योग्य वस्तु, निश्चयरूप बुद्धि और जानने योग्य वस्तु, अभिमानरूप अन्तःकरण और अहङ्कार, चित्त और चिंतवन करने योग्य वस्तु रूप उसका विषय, त्वक् इन्द्रियसे भिन्न प्रकाशयुक्त चर्मरूप तेज और उससे प्रकाश होने योग्य तेज चर्मरूप वस्तु तथा सूत्रात्मारूप प्राण और उससे धारण करने-योग्य सकल कार्य करणका समूह। यही आत्मासे भिन्न और उसका उपाधिरूप नामरूप वाला सब जगत् उस सुषुप्ति कालमें परमात्मामें लीन हो जाता है।

(१९)-इस समय प्रमाणित होता है, कि-यह सा[illegible] वासनाओंसे रहित होनेके कारण अविद्यारूप का[illegible] शरीरसे रहित है नामरूप सकल उपाधिरूप सूक्ष्म[illegible] से रहित है लाल पीले आदि गुणोंसे रहित होनेके का[illegible] स्थूलशरीरसे रहित है, तीनों अवस्थाओंके मलसे [illegible] है अर्थात् यह सब विशेषणोंसे रहित असङ्ग और [illegible] है। देखता नहीं परन्तु दर्शनशक्तिका भण्डार है, सु[illegible] नहीं परन्तु श्रवणशक्तिका केन्द्र है, सूँघता नहीं [illegible] घ्राणशक्तिका मूल कारण है। ऐसे छाया-शरीर [illegible] सङ्गरहितको जो जानजाता है वही सर्वज्ञ और सर्व[illegible] हो जाता है।

(२०)-ऐसे वेदके प्रमाणसे सिद्ध होता है, कि [illegible] की दुनियामें देवलोकका दर्शन है और सुषुप्ति (गहरी[illegible] में ब्रह्मलोककी हकीकत (वास्तविक छटा) है। और [illegible] उदान प्राण प्रतिदिन (स्वप्न और सुषुप्तिकी अवस्था[illegible] इसको देवलोक और ब्रह्मलोकमें लेजाता है, परन्तु [illegible] कि-यह अपने कर्म भोग का कैदी बना हुआ है इस[illegible] लिये वहांसे फिर इस ही दुनियामेंको लौट आता [illegible] और दुःख सुख भोगता है।

(२१) परन्तु जब यह शास्त्रमें बताई हुई रीति प[illegible] चलने लगता है तो देहान्त होने पर वही उदानवायु[illegible] इसको देवयान सड़क पर एक सूरतके बाद दूसरी सूरत[illegible] में पलटता हुआ सूर्यमण्डलमें लेजाता है और वहाँसे[illegible] देवलोकमें पहुँचा देता है, तब यह सत्यसङ्कल्प होजाता है। जिसप्रकार प्रतिदिन मस्तिष्कमेंसे हृदयकमलमें[illegible] जाता है, उसी प्रकार इस देवलोकसे प्रजापतिके मनरूप[illegible]

चन्द्रलोकमें जाता है और प्रजापतिकी समान होजाता है तथा प्रजापतिमें एकीभूत होजाता है, यही कर्मकाण्ड की परमोन्नति है।

(२२)-जब यह इस लोकमें पहुँच कर पुण्यलोकमें पहुँचता है तब यही उदान प्राण उस ही प्रकार इस मन के वशमें होता है, जिसप्रकार कि-यहाँ कर्मेन्द्रियें मनके वशमें रहती हैं और यह प्रकट है, कि-मन जिसप्रकार का सङ्कल्प करता है उसप्रकार ही कर्मेन्द्रियें काम करती हैं, पुण्यलोकमें जब यह पञ्चप्राण मनके वशीभूत होते हैं उससमय हम जो कुछ चाहते हैं यही करते हैं। जब हम चाहें, कि-बाग या बगीचा देखें तो उसी समय उदान प्राण आँखकी एक झपकमें बाग या बगीचा तयार कर देता है। जब हम चाहते हैं, कि-रूपवती स्त्रियें मिलें तो तत्काल मिलजाती हैं। जब हम अच्छे भोजन, अच्छे वस्त्र और अच्छी सवारियें चाहते हैं तो वे सब सङ्कल्प से ही मौजूद होजाती हैं। यही देवलोकका अधिकार है यही तख्ते आसमानी विरासत है, इसको ही वेदवेत्ता ब्राह्मण सुषुप्ति कहते हैं।

(२३)-यह सन्देह नहीं करना चाहिये, कि-यह छोटासा मन प्रजापतिके मनसे एकीभूत कैसे होजाता है बल्कि यह जानलेना चाहिये, कि-यद्यपि मन अपने कर्मफलभोगके कारण इस छोटेसे दायरेमें कैद हुआ छोटा सा मालूम होता है, परन्तु यह वह योग्यता रखता है कि-इससे हरएकका तद्रूप होजाता है। देखो जब यह योनियें बदलता २ मच्छर या चींटीकी योनिमें कैद होता है तो चींटी या मच्छरके बराबर होजाता है और जब

यह हाथी या सिंहकी योनिमें जाता है तब यह हा[थी] या शेरके बराबर बनजाता है और इनकी ही श[क्ति] काम करता है। जब यह देवताओंकी या ऊपरके [लोकों] लोकोंकी योनियोंमें जाता है तो उनकेसे ही रूपका [हो] जाता है और उनके ही काम करता है। अधिक क्या [कहें] यह सकलके बराबर होजाता है, बल्कि प्रजापतिमें [समा] जाता हुआ प्रजापति होजाता है इसमें सबकुछ [हो] जाता है।

(२४)-इस समय भी यद्यपि कर्मफल भोगकी जं[जीर] में फँसा हुआ है, तथापि आँख कानसे निकल पृ[थिवी] आकाश और जो कुछ उसके मध्यमें है सबका [ज्ञान] (ऐन) होताहुआ सबको देखता है। स्वप्नमें सूक्ष्म[तम] सूक्ष्म छिद्रवाली रगमें पहुँचकर ब्रह्माण्डके आका[रमें] फैलजाता है और सर्वरूप होता है, ऐसे २ प्रमाणों[से] साधारण मनुष्य भी समझ सकता है, कि-मैं इस प[ञ्च]भौतिक जगत्‌से नहीं किन्तु आत्मिक शक्तिसे हूं—[इस] खिमे खलकसे नहीं बल्कि आलिमें अमरसे हूं, त[था] प्रजापतिका पुत्र प्रजापतिरूप हूं। अपने किये कर्मोंके फ[ल]से मनुष्यके आकारमें आकर दुःख सुख पाता हूँ और उसीप्रकार वेदशास्त्रोंकी शिक्षाके अधीन रहता हूँ जिस प्रकार एक युवराज (शाहजादा) जबतक समझदार नहीं होता तबतक निरीक्षकोंके वशमें रहता है।

(२५)-फिर जब समय आता है और अपने अधि[-]कारकी शिक्षा पाकर पिताका राजसिंहासन पाजाता है तो फिर शिक्षक या निरीक्षकोंके हाथमें नहीं रहता, इस प्रकार ही यह मन भी जबतक कर्मफलभोगमें बँधाहुआ

है तबतक वेद शास्त्र और ब्राह्मणोंकी मर्यादामें रहकर शिक्षा पाता है परन्तु जब यह शास्त्रके नियमोंकी शिक्षा पाता हुआ सत्कर्म करता और शास्त्रकी आज्ञानुसार चलता है तो मरणके अनन्तर देवयान सड़कसे जाकर प्रजापतिके लोक (तख्ते आसमानी) का अधिकार पा जाता है और सत्यसङ्कल्प होकर जितने भी सुखके भोग हैं उनको पाजाता है, दुःखको याद भी नहीं करता।

· भ्राताओं ! अधिकारी होकर इस राज्यको पानेकी इच्छा क्यों नहीं करते, अपने कर्मोंको ठीक करो और नादानीको दूर करके-अपनी समझके भरोसे पर न रह कर शास्त्र पर विश्वास करो तथा शास्त्रकी आज्ञानुसार चलने पर अटल होजाओ, नहीं तो यों ही मरोगे और उच्छृङ्खल युवराजकी समान गिरजाओगे !

❀ नवम अध्याय ❀

(१)-पिछले परिच्छेदोंको पढ़नेसे विश्वास होसकता है कि-मनुष्यका शरीर यद्यपि भौतिक खाकी है, परन्तु उसमें इतने देवता निवास करते हैं, इसलिये यह एक ठाकुरद्वारा या देवताओंका मोहल्ला है, क्योंकि-क्या ज्ञानेन्द्रियें क्या कर्मेन्द्रियें क्या मन क्या प्राण सब ही इसमें हैं, जो देवता कहलाते हैं और हमारे पिछले कर्मोंके भोग के लिये इसमें बसे हैं। यद्यपि हरएक अपने बड़े २ कर्मों पर अधिकार रखते हैं तो भी न्यायानुसार हमको उतना ही भोग देते हैं, जितना कि-हमारे लिये उचित है।

(२)-आँख यद्यपि सकल संसारकी सैर कर सकती

है; और हर एक रंगको देखनेकी मालिक है,तो भी हमें उतना ही दिखाती है, जितना कि–हमको चाहिये। कान सबही शब्दोंको सुन सकते हैं, और शाब्दिक जगत् पर अधिकार रखते हैं, परन्तु हमको सब नहीं सुनाते, बल्कि उतना ही जो उचित है। इस प्रकारही वाणीका सब कुछ बोलने पर अधिकार है, परन्तु हमसे सब कुछ नहीं कहलाती, किन्तु वही कहलाती है, जो उचित है।

(३)-जो लोग इन इन्द्रियोंकी महिमा या प्रभावको नहीं जानते और इस भौतिक शरीरको ही मैं समझते रहते हैं, वे इन इन्द्रियोंको भोगके साधन जानते हुए इनके वशीभूत होकर बरताव करते हैं और भला बुरा जो कुछ भी मिलता है उसमें ही देखते हैं और इन्द्रियों का व्यवहार करते हैं। यद्यपि वे इन्द्रियें कुकर्मोंसे दुःखित होती हैं तो भी नियमके वशीभूत होनेसे इनकार नहीं करती, बल्कि ऐसा बरताव करती हैं जैसा कि–बरताव एक नौकर करता है, बल्कि नौकर तो वशीभूत होकर नहीं करता, और यह वशीभूत होकर करती हैं।

(४)–जब अज्ञानी जीव इन इन्द्रियोंको कुकर्मोंमें लगाता है और भोग पाता है, तब ये उसके भोग तो लाचार होकर देती हैं, परन्तु उसके लिये एक पाप पैदा करती हैं, जिससे वह दुर्भाग्य होजाता है,और जब यह जीव उन इन्द्रियोंको सत्कर्मोंमें लगाता है, और भोग पाता है तब ये उसको भोग भी देती हैं और साथ ही पुण्य भी पैदा करती हैं जिससे वह सौभाग्यवान् (नेकबख्त) होजाता है।

(५)-पर जो उनके तत्त्व और महत्त्वको जानते हैं, उनको कुकर्मोंमें नहीं लगाते हैं, किन्तु सत्कर्मोंमें लगाते हुए उनको उपासनायोग्य समझते हैं वे इन इन्द्रियोंके द्वारा ही मुक्ति भी पाजाते हैं।

(६)-किसप्रकार इन इन्द्रियोंकी उपासना की जाती है, यह कर्मकाण्डका एक सूक्ष्म विषय है, हरएक साधारण भाषामात्र पढ़ा हुआ उसको नहीं समझ सकता, तो भी हम संक्षेपमें इशारा किये देते हैं, जिसमें सबका तत्त्व समाया हुआ है।

(७)-वाणी या आँख या नाकको जो पूजनीय मानकर सदाचरण करते हैं वे संक्षिप्त और विशेष फल पाते हैं, परन्तु जो प्राणकी उपासना करते हैं वे सब कर्त्तव्य कर्मों का फल पाजाते हैं और देवयान मार्गमें चलते हुए ब्रह्मलोकमें पहुँच कर प्रजापतिसे मेल पाजाते हैं।

(८)-कदाचित् कोई कहे, कि-यह क्योंकर हो सकता है, कि-एक प्राणकी उपासनासे सब देवताओंकी उपासना का फल मिल जाय ? तो उसको हम एक वैदिक कहानी से उत्तर देते हैं, क्योंकि यदि कर्मकाण्डके नियमोंसे उत्तर देने लगें तो कदाचित् साधारण भाषामात्र जानने वालोंकी समझमें न आवे, उचित भी यही है, कि— जहाँ तक होसके सहल करके समझाया जाय, उलझन जरा न रहे।

(९)-सुनते हैं, कि-सुरलोकमें एक समय इन इन्द्रियोंमें विवाद हुआ। वाणीने कहा-मैं श्रेष्ठ हूँ आँखने कहा मैं बड़ी हूँ, कानने कहा-मेरा बड़ा ऐश्वर्य है, मन ने कहा-मेरा बड़ा प्रभाव है, उपस्थने कहा यों चक

वक करते हो, मैं बड़ा हूँ सबको उत्पन्न करता हूँ, प्राण ने कहा–तुम सब शेखी मारते हो बैल भी आगे चले पर डकराता है, ध्यान तो दो मैं सबसे बड़ा हूँ।

(१०) ये इन्द्रियें इस प्रकार झगड़ती २ प्रजापतिके पास गयीं और कहा, कि–आप हमारा न्याय कीजिये। प्रजापतिने कहा, कि–तुममेंसे एक २ करके इस शरीरमें से निकल जाओ, जिसके निकल जाने पर सबको निकलना पड़े-और यह शरीर खराब होजाय वही तुम सब में श्रेष्ठ है।

(११)–प्रजापतिके ऐसा कहने पर पहले वाणी इस शरीरमेंसे निकल गयी और एक वर्ष तक बाहर रहकर जब आयी तो बूझने लगी कि–मेरे बिना तुम सब कैसे जीते रहे ? इस पर उन्होंने उत्तर दिया, कि–जैसे गूंगा मनुष्य वाणीसे तो नहीं बोलता परन्तु नथनोंसे साँस लेता है, आँखोंसे देखता है, कानोंसे सुनता है, मनसे समझता है, उपस्थसे सन्तान उत्पन्न करता है ऐसे ही हम जीवित रहे, तब वाणीने कहा, ठीक है और वह शरीरमें प्रवेश कर गयी।

(१२) फिर आँख शरीरमेंसे निकल कर चली गयी और साल भर बाहर रह कर लौटी तब कहने लगी, कि–मेरे बिना तुम सब कैसे जीते रहे ? तब और इन्द्रियों ने उत्तर दिया, कि–जैसे एक अन्धा मनुष्य यद्यपि आँखों से नहीं देख सकता है, परन्तु नथनोंसे साँस लेता है, बोलता है, कानोंसे सुनता हैं, मनसे जानता है और वीर्यसे सन्तान उत्पन्न करता है, ऐसे ही हम भी जीते

रहे, तब आँखने कहा, ठीक है और वह भी शरीरमें प्रवेश कर गयी।

(१३)-इसके अनन्तर कान शरीरमेंसे निकल गया और सालभर तक बाहर रह कर जब लौट कर आया तब कहने लगा कि-तुम मेरे विना कैसे जीते रहे ? इस पर इन्होंने उत्तर दिया, कि-जैसे एक बहरा मनुष्य सुनता तो नहीं है, परन्तु नथनोंसे साँस लेता है, वाणीसे बात-चीत करता है, आंखोंसे देखता है, मनसे समझता है और वीर्यसे सन्तान उत्पन्न करता है ऐसे ही हम भी जीते रहे। यह सुनकर कानने कहा-ठीक है और वह भी फिर शरीरमें प्रवेश करगया।

(१४)-फिर मन शरीरमेंसे निकलगया और एक साल तक बाहर रहा, फिर आकर बूझा, कि—मेरे विना तुम सब कैसे जीते रहे ? तब उन्होंने उत्तर दिया, कि-जैसे एक मतवाला मनुष्य मनसे समझता तो नहीं, परन्तु नथनोंसे सांस लेता है, वाणीसे बातचीत करता है, आंखों से देखता है, कानोंसे देखता है, है और उपस्थसे सन्तान उत्पन्न करता है, ऐसे ही हम भी जीते रहे। यह सुन कर मनने कहा ठीक है और वह भी फिर शरीरमें प्रविष्ट होगया।

(१५)-फिर उपस्थ शरीरमेंसे निकल गया और एक सालतक बाहर रहकर लौटा तब कहने लगा, कि तुम सब मेरे विना कैसे जीवित रहे, इस पर इन्होंने उत्तर दिया, कि—जैसे एक नपुंसक मनुष्य सन्तान तो उत्पन्न नहीं करसकता, परन्तु नथनोंसे सांस लेता है, वाणीसे बोलता है, आंखोंसे देखता है, कानोंसे सुनता है और

मनसे समझता है। इसप्रकार ही हम भी जीते रहे। यह सुनकर उपस्थने कहा ठीक है और वह फिर शरीरमें प्रवेश कर गया।

(१६) अब प्राणने भी परीक्षाके लिये शरीरमेंसे निकलना चाहा, तब तो जैसे बड़ा बलवान् घोड़ा उछलता है तब आगे पीछेके सब खूँटे उखड़जाते हैं, ऐसे ही सब इन्द्रियें प्राणके उछलते ही एकसाथ उखड़नेलगीं और उन्होंने घबड़ाकर कहा, कि–भगवन्! ठहरो ठहरो, हमें छोड़कर न जाओ, मालूम होगया, कि–तुम्हारे विना हम सब जीवित नहीं रहसकते; तुम हममें बड़े हो, तुम ही हमारे आत्मा और तुम ही पूज्य ईश्वर वा पिता हो, हमको उचित है, कि–हम तुम्हारी उपासना करें और तुममें स्थित हों। हम तब ही फल लाते हैं जब तुममें स्थित होते हैं। जैसे शाखायें जब मूलवृक्षमें लगी रहती हैं तब ही फल देती हैं।

(१७)–तबसे वाणीने निश्चय किया, कि–मैं प्राणकी सन्तान और प्राणरूप हूँ, इसप्रकार हो आँखने निश्चय किया, कि-मैं प्राणकी संतान और प्राणरूप हूँ। ऐसे ही कान, मन और उपस्थने भी निश्चय किया, कि—हम सब प्राणका ही रूप हैं।

(१८) ऐसी कहानियोंसे सहजमें ही समझमें आजाता है, कि-क्या ज्ञानेन्द्रिय क्या कर्मेन्द्रिय और क्या मन सब प्राणकी संतान प्राणरूप हैं और यही निश्चय प्राणकी उपासना है। इस लिये जो इस प्रकारकी साधना करता है वही शास्त्रकी आज्ञा पर चलने वाला कहला सकता है। जब तक वह इसको अपना अवश्यकर्त्तव्य नहीं समझना

की सन्तान नहीं है; किंतु नाशवान् शरीरकी सन्तान है और जो शरीरसे जन्म पाता है वह शरीर ही है और जो प्राणसे जन्म पाता है वह प्राण ही है।

(१९)-शास्त्रीय कर्म जो वास्तवमें कर्मकाण्ड हैं उन के ही लिये है जो प्राणसे जन्म पाता है, उनके लिये नहीं है जो शरीरसे पैदा होता है, क्योंकि-प्राणात्मा अनादि और नित्य है, शरीर उत्पन्न होनेवाला और नाशवान् है तथा कर्मकाण्डका फल मरनेके बाद पीछेसे मिलता है। शरीर यहां ही भस्म होजाता है, इसलिये जो शरीर है और शरीरका बनाहुआ है, उसके लिये कर्मकाण्ड निरर्थक हैं, कष्टमात्र हैं परन्तु जो प्राणात्मा (रूह) या प्राणसे उत्पन्न हुआ (रूहानी) है, उसके लिये अमृत और सुख है।

(२०)-यदि कर्मकाण्ड शरीर और शरीराभिमानी को भी लाभदायक होता, तो पशु पक्षियों पर प्रचलित होता परन्तु पशु पक्षियोंमें यह योग्यता नहीं होती कि अपने आपको प्राण या प्राणात्मा (रूहानी) निश्चय करें। इसी प्रकार जो मनुष्य शास्त्रीय रीति पर प्राणसे उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु अपनेको शरीर या शरीरसे उत्पन्न हुआ मानता है यह यद्यपि मनुष्यके आकारमें है, परन्तु कर्त्तव्यमें वह पशु ही है।

(२१)-जो शरीर या शरीराभिमानी (जिस्म या जिस्मानी है उसको शास्त्रमें शूद्र कहा है, उससे उसप्रकार सेवा लीजाती है जिस प्रकार पशु आदिसे सेवा लेना उचित है, परन्तु वे जो प्राणसे दूसरी बार जन्म पाते हैं, शास्त्रमें द्विजन्मा कहे गये हैं और वे ही कर्मकाण्डके अधिकारी हैं।

(२२)-इस बातका आश्चर्य न करो, कि-दुबारा जन्म कैसे होसकता है। क्या वह फिर दूसरी बार माके पेटसे निकलता है तब शरीर होता है, क्योंकि-माका पेट भी शरीर है और जो उससे निकलता है वह भी शरीर है तथा यह पहला शरीर है। इसप्रकार जो शरीर और पानीसे पैदा होता है शूद्र है और पशु आदिकीसी दशा (उफक हैवानी) में मिलता है और उसको कर्मकाण्ड का अधिकार नहीं होता। इसलिये ही आठ वर्ष तक द्विजाति अपने लड़कोंके उपनयन संस्कार नहीं करते, क्योंकि-वे लड़के इतनी अवस्था तक आत्मिकताका निश्चय करनेकी योग्यता नहीं रखते।

(२३)-परन्तु आठवें वर्षमें जब वह समझदार (बालिग) होता है और आत्मिक निश्चय करनेकी योग्यता पाजाता है तब उसका उपनयन संस्कार होता है और वह गायत्री-मातासे दूसरा जन्म पाता है इसके बाद वह शरीरीपन (जिस्मानियत) से उठजाता है और प्राणमें स्थित होता है। उस समय उसका कर्त्तव्य होता है, कि—वह कर्म-काण्डका अनुष्ठान करे।

(२४)-देखो जब लड़का माके पेटसे पैदा होता है तो उसी भाँति अहंभाव(खुदी)को स्वभाविक शरीरमें रखता है, जैसा कि-हैवान अपने शरीरमें अहन्ताका निश्चय रखता है, यदि उसको अपने असली स्वभाव पर छोड़ दिया जाय तो वह जवानीमें पहुँचने पर भी यही निश्चय रखता है, कि-मैं शरीर हूं और खाकसे निकला हूं तथा खाकमें ही मिलजाऊँगा। यद्यपि वह सुनता है, कि-शरीरमें एक आत्मा है, जिससे शरीर जीवित है और चेष्टा

करता है तथापि वह यह विश्वास नहीं करता, कि-मैं आत्मा हूँ और शरीर मेरा आश्रय है,मैं इसी प्रकार इस शरीरमें रहता हूँ जैसे यह शरीर एक हवेलीमें रहता है।

(२५)-इसप्रकार शरीर पिताके वीर्य और माताके रुधिर (रज) से बनायाजाता है। पिता उसका नरशरीर और माता उसका नारी शरीर है और यही दशा पशुपक्षी आदिकी है। खाना, पीना भोग करना जैसा पशुओंका काम है वैसा ही उसका काम है जैसेपशु भी प्राण रखता है और साँस लेता है, ऐसे ही यह भी प्राण रखता है और साँस लेता है, परन्तु मनुष्योंकी सेवा करना पशुका कर्त्तव्य है, उसमें ही उसकी श्रेष्ठता है, इसप्रकार ही शूद्रका भी कर्त्तव्य है, कि-वह द्विजातियोंकी सेवा करे, इसमें ही श्रेष्ठता और कृतार्थता है।

(२६)-परन्तु वह जो इस वाक्यसे शिक्षा पाता है, कि-'तुम आत्मा हो, शरीर नहीं हो, क्योंकि-शरीर तो वस्त्रोंकी समान बदल जाता है, परन्तु आत्मा नहीं बदलता, यदि तुम शरीर होते तो जब छोटासा शरीर जो माताके पेटसे निकला था और परिणाम (तहलील) से जाता रहा और यह दूसरा शरीर जो जवानीकी दशामें है उसीप्रकार धीरे २ बदल गया है, जैसे कि-पोशाक बदलजाती है और आगेको बुढ़ापेमें यह भी जाता रहेगा यही तुम्हारी तबदीली है' इस शिक्षासे वह निश्चय कर लेता है कि-मैं शरीर नहीं हूँ,जो प्रतिक्षण बदलता रहता है किन्तु मैं आत्मा हूँ, कि-जो कभी बदलता ही नहीं। ऐसी दशा में यह शरीरसे अलग होकर अपने आत्मा होनेका निश्चय पाता है। और प्राण तो

महाप्राणकी सन्तान महाप्राणरूप है। इसप्रकार जो वेदवाक्यके द्वारा महाप्राण वा आत्मासे जन्म पाता है यही उसका दूसरा जन्म है और ऐसे निश्चयवाला ही सच्चा द्विजाति है।

(२७)-वह वाक्य जो मनुष्यको आत्मासे दूसरा जन्म देता है वास्तवमें गायत्री मन्त्र है, जो द्विजातियों की आत्मिक (रूहानी) माता है और वह ब्राह्मण जो गायत्री उपदेश देता है वास्तवमें द्विजातियोंका आत्मिक पिता है। इसप्रकार आत्मिक जन्म ब्राह्मण और वेदसे होता है और नए जीवनमें प्रवेश करता है, शरीराभिमानियोंसे जुदा होता है। जैसे पशुओंके समूहोंमेंसे कुछ पशु चुनकर अलग कर लिये जाते हैं और इसलिये रस्सीसे बाँध दियजाते हैं कि-उनको नयी शिक्षा दीजाय इसीप्रकार बालकको उपनयन संस्कारसे चुनलिया जाता है, और यज्ञोपवीतसे कर्मकाण्डके नियमोंमें बाँधदिया जाता है जिससे कि-वह ब्रह्मलोकमें पहुंचनेकी शिक्षा पावे और आत्मिक साधनाओंसे देवयान या पितृयान-मार्गमें जानेका अधिकार पावे।

(२८)-जो इस प्रकार दूसरे नये जन्मको नहीं पाता है, किंतु शरीरमें उस प्रकार ही अहङ्कारका अभिनिवेश रखता है, जैसा कि-पशुओंमें स्वाभाविक है, तिसपर वह पश्चिमी शिक्षा से उसको और मजबूत करदेता है, यहां तक कि-यदि कोई गुरु उसको समझावे, कि-"तू शरीर नहीं है, आत्मा है," तो वह कान पर हाथ धरकर सोचा करता है, कि-आत्मा तो ईश्वर है क्या मैं ईश्वर हूँ ? मैं तो भौतिक शरीर हूं और ऐसा मानना तो घोर अप-

राध और खुदाईका दावा है। ऐसे विचारवाला मनुष्य पशुसे भी गया गुज़रा है यह केवल सूरतका ही मनुष्य है। यदि उसने कोई मनमाना सिद्धान्त बनालिया है तो उसको ब्रह्मलोककी प्राप्ति तो दूर रही स्वर्गकी प्राप्ति भी नहीं होसकती, क्योंकि-जो खाकसे निकला है वह तो खाकमें ही जायगा और जो आकाश (स्वर्ग) से उतरा है वह आकाशमें जायगा। शरीर तो भौतिक (खाकी) है और आत्मा स्वर्गीय है, इसकारण देवयान और पितृयान मार्ग तो देवताओं और आत्मोपासकोंके लिये नियत हैं-शरीराभिमानी तो खाक और गढेका भोजन है

(२९)-इसप्रकारकी आलोचनासे मालूम होता है, कि-आर्यसन्तानको पहिले यह विश्वास करना होता है, कि "मैं आत्मा हूँ और आत्मासे निकला हूँ, मैं खाक नहीं हूं।" आत्मा तेजः स्वरूप और खाक (पृथिवी) अंधेरा है।

(३०) जब उसको ऐसा दृढ़ विश्वास होजाता है और वह जान लेता है, कि-शरीर एक आश्रयमात्र है जो यहाँकी वस्तु है और प्राणात्मा जो मेरा अपना आपा है, यहाँकी वस्तु नहीं है किन्तु ब्रह्मलोककी वस्तु है इसलिये जो चाहता है, कि-मैं किसप्रकार ब्रह्मलोकको पाऊँ और मालूम करना चाहता है, कि-मैं किस कारण से इस भौतिक शरीरमें कैद किया गया हूँ ? किसप्रकार इस पार्थिव शरीरकी कैदसे छूटसकूँगा ? क्या कारण है, कि-ब्रह्मलोकमें नहीं पहुँचसकता ? अब मुझे क्या करना चाहिये, जिससे मैं ऊँचा चढ़ूँ ? ये सब बातें वेद (उपनिषद्) की शिक्षासे मालूम होसकती हैं, इसलिये ऐसा

विश्वास करलेनेके बाद उसको चाहिये, कि-वेद शिक्षा प्राप्त करे, और ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन करे। ऐसा करनेवाला ही ब्रह्मचारी कहलाता है।

(३१)-जब वह नियमित समयमें वेदकी शिक्षा पाता है तब वह आत्माके स्वरूपको भले प्रकार जान जाता है और पुण्य तथा पापके स्वरूपको भी समझ जाता है और उस कर्मकाण्ड विद्याको जानजाता है कि जिससे जीवात्मा ऊपरके लोकोंमें उन्नति करता चलाजाता है, वह कर्मकाण्ड विद्या (कीमियाए कुदरती) वास्तवमें अग्निकर्म है, इसलिये वेदकी शिक्षा पाने पर इसका कर्त्तव्य होता है, कि-अग्निहोत्र आदि यज्ञोंका अनुष्ठान करे।

(३२)-परन्तु जो यह जानता है कि--उस यज्ञमें प्रजापति का अनुकरण करना आवश्यक है और प्रजापतिने नर-नारी बनकर इस कर्त्तव्यको पूरा किया है, जिसके कारणसे उसको प्रजापतिपद तक उन्नति प्राप्त हुई है इसलिये पहलेपहल उसको एक अपने वर्णकी स्त्रीसे विवाह करना आवश्यक होता है, जिससे कि-वह प्रजापतिकी समान दम्पती होकर इस अनुष्ठान का आरम्भ करे। दम्पतीका वास्तविक तत्व आत्मिक एकता है, जिससे कि--पुरुष और स्त्री वेदमन्त्रोंसे एकप्राण होजाते हैं।

(३३)--यद्यपि उसके कारण बहुत कुछ हैं जो कि-नर नारी एक होकर यज्ञ आदि करते हैं, परन्तु मुख्य कारण यह है, कि-नर आत्मिकतेज (हरारतगरीज़ी) जिससे शरीर जीवित रहता है वह मुख्य शक्ति है और

स्त्री प्रकृतिका तत्त्व (रतूवत गरजी· वह प्रकृति जिसमें से कुछ मूर्त्तियें प्रकट होसकती हैं) और यह हम वर्णन करचुके हैं, कि-प्रकृति और पुरुष (रतूबत) और हरारत मिलकर प्रजापतिका मूल स्वरूप है क्योंकि-पुरुष (हरारत) चेतन (फयला) है और प्रकृति (रतूवत) जड़ (मुनफएला) है, इसलिये पुरुष (हरारतगरीजी·आत्मिकतेज की मुख्यता (ग़लबा) नरमें है और प्रकृतितत्त्व (रतूवत गरीबी) की मुख्यता स्त्रीमें है जब ये मिलकर कर्मानुष्ठान (अमलकीमियाई) करते हैं तो मरणके अनन्तर एक होकर, देवयान औरपितृयान नामक मार्गोंमें चढ़ते हैं। इस दशामें वह ब्रह्मचर्यसे निकलकर गृहस्थी कहलाता है और पञ्चयज्ञ आदि करना उस का कर्त्तव्य होजाता है।

(३४)- जिस प्रकार दम्पति होनेके कारण अतिसूक्ष्म हैं, ऐसे ही यज्ञकी विधि भी सूक्ष्मतत्त्वोंसे भरी हुई हैं तो भी हम भाषामात्र पढ़ेलुओंके लिये संक्षेपमें बताये देते हैं, कि--यज्ञ वास्तवमें महाप्राण वा प्रजापति (रूहे आजम) का भोजनातिथ्य (जियाफत) है, द्विजाति जिसका उत्तराधिकारी होनेका अधिकारी है और इस यज्ञमें प्रणव नामक परब्रह्म (इस्मआज़म) की उपासना होती है और प्रार्थनायें करके आशीर्वाद लिये जाते हैं, जिससे साधक असत्से सत्रूप, तमसे ज्योतिःस्वरूप और मृत्युसे अमरभावको पाता है।

(३५)-यज्ञमें चार ब्राह्मण वरण किये जाते हैं,जो कि-इस आत्मिक अनुष्ठान (कीमियाए रूहानी) को कराते हैं, उसमें एक ऋग्वेदको जाननेवाला, दूसरा यजुर्वेदका

ज्ञाता, तीसरा सामवेदमें पूवीण और चौथा इन
वेदोंका पारंगत होता है जो इन तीनोंके कामकी
भाल रखता है।

(३६) ऋग्वेदीको होता, यजुर्वेदीको अध्वर्यु
सामवेदीको उद्गाता कहते हैं तथा जो इन तीनोंके
का निरीक्षण करता है। वह ब्रह्मा कहलाता है।
का काम होम करना अध्वर्युका काम अ.स्तुतियें
करना और उद्गाताका काम सामगान करना है जि
सूत्रात्मा (रूहेआजम) पूसन्न होता है तथा ब्रह्म
काम इन तीनोंकी देखभाल करना है।

(३७) इसका तत्त्व समझनेके लिये दृष्टान्त
सहल किये देते हैं। देखो अमीरोंकी दावतमें एक
वह होता है जो भोजन बनाता है, जिसको रसोइ
कहते हैं। दूसरा वह होता है, जो उन भोजनके पदा
को परोस कर महमानके आगे धरता है और एक गवै
भी होता है, जो भोजन करते समय आनन्ददायक गी
गाता है तथा मनोरञ्जक बाजे बजाता है परन्तु वह
भोजनका पूबन्धकर्त्ता होता है सबकी देखभाल रखत
है और जो भोजन देता है वह मिजवान कहलाता है।

(३८)—इस पूकार ही सूत्रात्माका भोजनातिथ्य
करनेमें, होता भोजन परोसने वाला, अध्वर्यु रसोइया
उद्गाता गवैया और ब्रह्मा उस आत्मिक आतिथ्यका
पूबन्धकर्त्ता है और जो यज्ञ करता है वह यजमान कह
लाता है इन होता आदि चारोंको अङ्ग कहते हैं और
पाँचवां यजमान है इसपूकार आत्माका भोजनातिथ्य
अग्निके द्वारा होता है और इसमें परब्रह्मकी पूजा होती है।

(३९)—इसके बाद जिसप्रकार सूत्रात्माको बुलायाजाता है और अग्निमें होम करनेसे वह खाता है यह तत्त्व बहुत ही सूक्ष्म है, यदि उसके नियम भी दिखाने लगें तो यह पुस्तक न जाने कितनी बड़ी होजाय और हम उद्देश्यमें सफल न हों, इसलिये इतना कहदेना ही पर्याप्त समझते हैं, कि—वैश्वानरी विद्यामें हमको यह निश्चय होता है कि—अग्नि प्रजापतिका मुख है, जिसप्रकार ब्राह्मणके मुखमें दियाहुआ ग्रास उसका भोजन होता है ऐसेही अग्निमें दी हुई आहुति विराट भगवान्‌का भोजन होती है।

(४०)—यज्ञमें उद्गाता जो सामवेद गाता है, वे बारह मंत्र होते हैं और उनमें प्रार्थना की जाती है। तीन प्रार्थनायें तो यजमानके लिये होती हैं और शेष प्रार्थनायें वह अपने लिये गाता है, क्योंकि—यह ब्राह्मण आत्मिक शिक्षासे अपने अन्तःकरणको शुद्ध निर्मल कर चुका है, इसकी सब प्रार्थनायें सफल होती हैं, इसलिये यह अपने लिये या यजमानके लिये जो कुछ माँगता है वह स्वीकृत होता है।

(४१) यज्ञ करनेका प्रयोजन यह होता है, कि—मनमें जो खोटे विचार स्वयं उठते हैं वे अस्त होजायँ और सद्विचार जो शिक्षा और उपदेशसे उठते हैं वे उनको दबालें। इन खोटे विचारों को असुरनामसे बोलते हैं। और सद्विचारोंको देवता नामसे कहते हैं क्योंकि-विचार जो मनमें उठते हैं उनका कुछ कारण है और वह कारण पिछले पाप और पुण्यके संस्कार हैं। परन्तु जो खोटे विचारोंके कारण (पाप) हैं,वे असुर हैं और सद्विचा-

रोंके कारण जो पुरुष हैं वे देवता हैं। इसकारण बुरे के विचार आसुरी सम्पदा और भलाईके विचार सम्पदा कहलाते हैं।

(४२)-आत्मविचार करनेवाले मनुष्यको चाहिये कि-जहां तक होसके खोटे विचारोंको रोके और विचार उठावे, इसमें ही उसकी चतुराई है। परन्तु विचार स्वयं उठते हैं और पहले उत्पन्न होते हैं भलाईके विचार शिक्षासे पीछे आते हैं, इसलिये बड़े हैं, और देवता छोटे हैं और यह प्रकट है, कि शरीररूपी किले पर पहले अधिकार जमालेते हैं वे कठिनसे दूर होते हैं, इसलिये जबतक एक घोर असुर और देवताओंमें न हो तबतक असुर पराजित नहीं होते।

(४३)-बुद्धिमान् मनुष्यसे यह बात छुपी हुई हैं, कि-यदि वह अपने मनकी वृत्तियों पर ध्यान दे जानसकता है, कि-उसका चित्त एक किलेकी समान जिस पर असुर और देवताओंकी चढ़ाई होती है और खोटे विचार उन तीरोंकी समान हैं जो चारों ओर आते हैं और किसी समय भी ऐसा अवसर नहीं होता कि-मन विचारोंसे खाली रहना हो, इस लिए आश्चर्य है, कि जिसके शिरपर मनोराज (आलमेमलकूत) की भाँति २ की फौजें चढ़ आई हों और उसको चार अपना लक्ष्य (निशाना) बना रही हों फिर भी वह मनुष्य निश्चिन्त बैठा रहे तथा संसारकी उन्नति और घरबारकी चिंतामें ही फँसा रहे।

(४४) मनुष्यको चाहिये, कि-वह संसारके आवश्यक कार्योंसे निवट कर प्रातः और सायङ्कालके समय एकान्तमें बैठकर मनकी वृत्तियोंका विचार करे और उनको अपने दिलसे रोके, यदि न रुकें तो जो बुरे विचार हों उनको दबावे और भलाईके विचारोंको आनेदेय, क्योंकि-ऐसी दशामें ही देवताओंकी विजय और असुरोंकी पराजय होती है, तब उसका शुद्ध मन देवताओं का निवासस्थान होजाता है और वह आध्यात्मिक उन्नति पाजाता है।

(४५)-असुरोंके ये लक्षण हैं, कि-वे शरीरको आराम की तरफको लेजाते हैं और ऐसे कर्मोंकी ओरको प्रवृत्त करते हैं, कि-जिससे प्राणी मृत्युके समीप पहुँचजायँ और देवताओंके लक्षण ये हैं, कि-वे शरीरके भोगोंको तुच्छ करके दिखाते हैं तथा आत्मिक भोगोंको जो ब्रह्मलोक वा आत्मस्वरूपकी ओर को लेजानेवाले हैं उनको दृष्टिके सामने वा विचारमें लाते हैं।

(४६)-जिसके ऊपर असुर बलवान् पड़ते हैं वह संसारके दिखावटी भोगोंको पसन्द करता है और शास्त्रों को धोखादेह और ब्राह्मणोंका हीला समझता है उन्हें पोप और पीरोंका शिकारी मानबैठता है, इसलिये शास्त्रों को सुनता हुआ भी नहीं सुनता तथा उन्हें एक बनावटी किस्सा मानता है। यदि कभी २ सत्संग भी करता है तो शास्त्रको अपनी बुद्धिसे उलट पुलट करना चाहता है, और कहता कि-ऐसा लिखना पिछलोंकी भूल है, इसमें तो हानि है, कुछ भी लाभ नहीं है।

(४७)–जिसके ऊपर देवताओंकी प्रबलता रहती है वह संसारके दिखावटी भोगोंको नाशवान् और तुच्छ जानता है, उनकी अधिक चाहना नहीं करता, केवल उतना ही चाहता है, कि–जिसमें उसका जीवननिर्वाह आरामके साथ होजाय तथा आत्मोन्नति में सहायता देनेवाले भोगोंकी चाहना अधिक करता है, जो कि–अधिक समय तक रहते हैं और शास्त्रकी आज्ञाओं पर चलता हुआ ब्रह्मलोकमें पहुँचने का अधिकारी बनता है जिससे कि—ऊपरके राज्यमें पहुँचे और अपने पिता प्रजापतिकी सम्पत्ति (विरासत) प्राप्त करे।

(४८)—इस देवासुरसंग्राममें विद्याकी और साधनाकी बड़ी २ युक्तियोंसे काम लिया जाता है, जिनके द्वारा असुरोंकी पराजय और देवताओंकी विजय होती है। इस विद्याको अध्यात्मविद्या (तहजीब इखलाक) कहते हैं, सांख्ययोग आदि शास्त्रोंमें इसका ही वर्णन है तो भी मनोवृत्तियोंको वशमें करना ऐसा कठिन है कि-जैसे एक लाचार मनुष्य सकल संसारको जीतनेमें असमर्थ (कमजोर) होता है, इसलिये जबतक उसके ऊपर भगवान्की कृपा नहो तबतक मनोवृत्तियोंके ऊपर विजय नहीं पासकता, परंतु वेदोंमें इसका मुख्य साधन ज्योतिष्टोम यज्ञ और प्राणोपासना है, जिसके कारणसे असुर निर्बल होजाते हैं और देवता विजय पाजाते हैं, इसलिये मनुष्यको चाहिये, कि–शास्त्रमें लिखी हुई विधिसे ज्योतिष्टआदिक होम और प्राणोपासना करे, यही सहज उपाय है। योग आदि शास्त्रोंमें बड़ी बड़ी

युक्तियें हैं, फिर भी उनके द्वारा अवश्य ही मनोवृत्तियें वशमें होजायँ, ऐसा नहीं है।

(४६)-ज्योतिष्ट आदिक होमका स्वरूप साधारण भाषा मात्र पढे हुओंके लिये जानना आवश्यक नहीं है क्योंकि-उसको वेदवेत्ता ब्राह्मण ही करा सकते हैं परंतु प्राणोपासना आवश्यक है क्योंकि-यह उनके विश्वास की बात है और वह यही निश्चय है, कि-"मैं आत्मा हूँ, पार्थिव पदार्थ नहीं हूँ, मैं प्राण हूँ शरीर नहीं हूँ" और जब यह विश्वास पक्का होजाता है तब असुर स्वयं ही भाग जाते हैं और पराजित होजाते हैं। क्यों कि बुरे विचार वास्तवमें शरीर और इन्द्रियेंको होते हैं आत्माके नहीं होते, आत्मा तो बुराई (पाप) से निर्लेप-शुद्ध है, जिसको कि-प्राण कहते हैं। जब कि-यह आत्मासे उत्पन्न हुआ है आत्मा ही है और आत्मा ही है, इस लिये खोटे विचारों और खोटे कर्मोंसे वैसे ही निर्लेप रहता है, जैसे एक आर्यकुमार (सच्चे हिन्दूका लड़का) मुसलमानके घर पर खाना पकता हुआ देखता है, परन्तु उस खानेकी इच्छा नहीं करता किन्तु उसको देख कर भागजाता है तथा व्याकुल होता है।

(५०)-इसप्रकार ही वह द्विजन्मा भी जो आत्मा (प्राण) से जानाजाता है कुकर्मों और कुविचारोंसे घृणा करता है, फिर ज्यों २ प्राणमें युवा होता जाता है त्यों २ उनकी ओरका ध्यान भी नहीं करता, इसलिये असुर आत्मिक भावनासे सहजमें ही जीत लिये जाते हैं, इस-कारण ही द्विजाति मातायें अपने बालकों की यह ही लोरियाँ देती हैं कि-बेटा ! तू तो आत्मा, प्राण और

द्विजाति है, तू यदि शरीराभिमानियोंमें मिलारहे।। और उन की हां विद्याओंको सीखेगा तो आध्यात्मिकों और द्विजातियोंमें से गिरजायगा। ज्यों २ द्विजबालक बड़ा होता है अन्य जातिवालों (शरीराभिमानियों) से खान पान नहीं करता और उनके विश्वास तथा विद्याओं को सुनता हुआ भी उकताता है, त्यों २ अपने आत्माकी उपासनामें तरुण होता चला जाता है।

(५१) आः ! शोक है, कि-इस समय ऐसा होनेके स्थानमें आर्यबालक पश्चिमी शिक्षामें दिया जाता है और ब्रह्मचर्य तथा वेदादि संस्कृतकी शिक्षाके स्थान में शरीराभिमानियोंकी विद्याकी शिक्षा पाता है, जो संसारकी ओरको खेंच कर ले जाती है और उस को सिखाती है तू भौतिक-शरीर है। यद्यपि वह नामका द्विजाति और आर्य होता है, परन्तु वास्तव में न तो वह प्राणमें जन्म पाता है और न द्विजन्मा ही होता है। इसप्रकार शरीरमें अहम्भावका विश्वास पाता हुआ शरीराभिमानियोंके समान शरीरभिमानी बन-जाता है साधारण मनुष्योंकी समान मरजाता है और राजकुमारोंमेंसे एक राजकुमारकी समान गिरजाता है तथा ब्रह्मलोकके साम्राज्यमें नहीं पहुँचता।

(५२)-यह जो कुछ हमने कहा है अपनी कपोल-कल्पना नहीं है, किन्तु उद्गीथ ब्राह्मणसे सिद्ध है, कि-साक्षात् प्रजापतिके अनुभवसे निश्चित होचुका है, कि-जबतक आत्मिक काम नहीं करता (रूहमें शगल नहीं करता) उसको ही उद्गाता नहीं बनाता तबतक असुरों के ऊपर विजय कदापि नहीं पासकता और यह अनु-

भव जो प्रजापतिमें हुआ है, इतिहासके रूपमें उद्गीथ ब्राह्मणमें लिखा है, उसका अनुवाद भी हम यहाँ दिये देते हैं।

(५३)-यजुर्वेद आरण्यकभाग उद्गीथ ब्राह्मणमें यों लिखा है, कि-प्रजापतिकी सन्तान देवता और असुर दो सेनायें हैं जिनमें देवता छोटे हैं और असुर बड़े। पहले कल्पमें जबतक प्रजापतिने उस कल्पमें प्रजापतिका अधिकार नहीं पाया था, किन्तु मनुष्यकी सी दशामें शरीरधारी था, उनका युद्ध हुआ।

(५४)-असुरोंने उसको संसारके भोगोंका ऐश्वर्य दिखाया और संसारकी ओर लगाना चहा, देवताओंने उसको संसार त्यागके भोग दिखाये और वैराग्यकी ओरको झुकाना चहा।

(५५) इस प्रकार उन दोनोंमें जब खूब युद्ध हुआ और दोनों ओरसे बड़ी २ युक्तियें कीजाने लगीं तब देवताओंने यह संमति की, कि-आओ ज्योतिष्टोम यज्ञमें उद्गीथके प्रभावसे असुरोंको जीतें।

(५६)-तब उन्होंने वाणीसे कहा, कि-हमारे लिये उद्गायन करो, उसने कहा अच्छा तब उसने देवताओंके लिये गायन किया, परन्तु जो वाणीके भोग हैं वह तो उनके लिये गाये और अच्छा बोलना अपने लिये गाया।

(५७)-तब असुरोंने जाना, कि-यह अवश्य इस उद्गाताके कारण हमें जीत लेंगे, इसलिये उन्होंने और वाणीको छूकर अपवित्र कर दिया इसलिये ही वाणी सत्यके साथमें मिथ्या भी बोलनेलगी।

(५८)-फिर देवताओंने नासिकासे कह, कि-तू हमारे लिये उद्गायन कर, उसने कहा अच्छा, तब उसने देवताओंके लिये उद्गायन किया परन्तु जो नाकके भोग हैं वह तो उनके लिये गाये और जो अच्छा सूँघना है वह अपने लिये गाया।

(५९)-तब असुरोंने जाना कि-ये इस उद्गाताके कारणसे अवश्य ही हमें जीतलेंगे, इसलिये उठे और नाकको छूकर अपवित्र करदिया इसलिये ही नाक सुगन्धिकी समान दुर्गन्धिको भीसूँघने लगी।

(६०)-फिर उन्होंने आँखसे कहा कि-तू हमारे लिये उद्गायन कर, उसने कहा अच्छा, तब उसने देवताओंके लिये उद्गायन किया, परन्तु जो आँखके भोग हैं वह देवताओंके लिये गाए और अच्छा देखना अपने लिये गाया।

(६१)-तब असुरोंने जाना कि-यह इस उद्गाताके कारणसे हमें अवश्य ही जीतलेंगे इसलिये उठे और आँखको छूकर अपवित्र करदिया, इसलिये आँख देखने योग्यकी समान न देखने योग्यको भी देखनेलगी।

(६२)-फिर उन्होंने कानसे कह, कि तू हमारे लिये उद्गायन कर, उसने कह अच्छा, तब उसने देवताओंके लिये उद्गायन किया,परन्तु उसने कानके भोग देवताओंके लिये गाये और अच्छा सुनना अपने लिये गाया।

(६३)-तब असुरोंने जाना, कि-यह इस उद्गाताके कारण अवश्य ही हमें जीतलेंगे, इसलिये उठे और कानको छूकर अपवित्र करदियां, इसलिये कान सुनने योग्यकीसमान न सुनने योग्यको भी सुनने लग।

(६४) फिर उन्होंने मनसे कहा, कि--तू हमारे लिये उद्गायन कर, उसने कहा अच्छा, तब उसने देवताओंके लिये उद्गायन किया, परन्तु जो मनके भोग हैं वह तो उनके लिये गाये और सद्विचार अपने लिये गाया।

(६५)-तब असुरोंने जाना, कि--यह इस उद्गाताके कारण हमें अवश्य ही जीतलेंगे, इसलिये उठे और मनको छूकर अपवित्र कर दिया इसलिये मन सद्विचारकी समान खोटे विचार भी करने लगा इसप्रकार जिस २ इन्द्रियको उद्गाता वा यज्ञ आरम्भकर्त्ता बनाया सबको ही असुरोंने पापसे लिप्त करदिया और आजतक वह पापका लेप ज्ञानेद्रियोंमें चला आता है।

(६६)-अन्तको देवताओंने पवित्र प्राणसे कहा, कि-तू हमारे लिये उद्गायन कर, उसने कह अच्छा, तब उसने उनके लिये उद्गायन किया, और असुरोंने देखा, कि-अब अवश्यही इस उद्गाताके कारणसे हमें जीतलेंगे वह उठे और प्राणको लगे, परन्तु लगते ही इसप्रकार टूटगये जैसे तेज बसूला एक पत्थर पर चलायाजाने पर टुकड़े २ होजाता है, इसप्रकार देवताओंकी विजय और असुरोंकी पराजय हुई।

(६७)-इससे प्रतीत होता है, प्राण पवित्र है, वह किसी प्रकार पापसे लिप्त नहीं होसकता, इसलिये ही उसके ऊपर असुरोंका कुछ प्रभाव नहीं चलसकता, किन्तु उससे लगते ही स्वयं नष्ट होजाते हैं। अब भी जो कोई इस तत्त्वको समझता है। उसके दुर्विचार नष्ट होजाते हैं।

(६८)-फिर उन देवताओंने कहा, कि-वह कौन है जिसकी अधीनतामें रहकर हमने असुरोंके ऊपर सफलता पाई है. निश्चय होगया, कि-यही पवित्र ज्ञान है कि-जिसको प्राण कहते हैं, यही हरएकका सार और आत्मा है, यह प्रत्येक अङ्गका रसरूप है, इसलिये इसको आङ्गिरस कहते हैं।

(६९)-फिर कहा, कि-यही देवता है, कि-जिसको दूर भी कहते हैं, क्यों कि मृत्यु और पाप इससे दूर रहते हैं, जो इसमें अभेदभावन (खुदीका तसव्वुर) रखता है उससे भी मृत्यु और पाप दूर रहते हैं।

(७०)-इस ही आत्मदेव (रूहेआज़म) के निश्चयसे इन देवताओंने मृत्यु और पापसे छुटकारारा पाया, बल्कि इनके पाप लेकर उसने उन शरीराभिमानियोंमें फेंकदिए कि-जो प्राणधारी तो हैं, परन्तु प्राणमें अभेदभाव नहीं रखते, इसकारण ही संस्कृतमें उनको अन्त्यज कहते हैं। जब कि-प्रजापतिने अपने भारी पाप उनमें फेंक दिए हैं और वे वंशपरम्परासे (मौरूसी) अपराधोंमें फँसे हुए हैं, इसलिये द्विजातियोंको उनके साथ खान पान और विवाह आदिका निषेध है, जैसा कि-पशुओंके साथ मनुष्यका निषेध है।

(७१)-जब प्राणने इन देवताओंको पापसे छुटाया तो उन का मृत्युके बन्धनसे भी छुटकारा होगया, जब वाणी मृत्युसे मुक्त हुई, तो अग्नि (तेज) पागई, जो कि-उसका अधिदेव है, बस यह अग्नि मृत्युसे छुटाहुआ हरदम चमकता है, यही प्रजापतिकी वाणी है।

(७२) फिर नाककी मृत्युसे मुक्ति हुई वह मुक्त होकर अपने मूलस्वरूप वायुमें जामिली वायुरूप होगई, जो उसका अधिदेवता है, बस यह वायु मृत्युसे छूटा हुआ उत्तमतासे चलता है और प्रजापतिकी नाक है।

(७३) फिर आँख मृत्युसे मुक्त हुई वह मृत्युसे छूटकर सूर्यमें अभेदभावसे जामिली, जो कि–उसका अधिदेवता है, बस यह सूर्य मृत्युसे छूटा हुआ उत्तम-रूपसे तपता है और यही प्रजापतिकी आँख है।

(७४) फिर कानको मुक्ति मिली और वह अपने मूलस्वरूप दिशाओंमें अभेदभावसे जामिला, जो कि–उसका अधिदेवता हैं बस दिशायें मृत्युसे छूटी हुई स्पष्ट दिखाई देती हैं और ये ही प्रजापतिके कान हैं।

(७५)-फिर मनको पापरूप मृत्युसे मुक्ति मिली तब वह अपने मूलस्वरूप चन्द्रमामें अभेदभावसे जामिला जो कि उसका अधिदेवता है, बस चन्द्रमा मृत्यु से छूटा हुआ उत्तमरूपसे प्रकाशित होरहा है और यही प्रजा-पतिका मन है। इस प्रकार यह प्राण हरएकको मुक्ति देता है जो कि-उस पवित्र प्राणकी अभेद भावसे उपा-सना करता है।

(७६)-फिर प्राणने अपने लिये भक्षण करने योग्य अन्न का गान किया, इस लिये जो कुछ भी है सब प्राणका भोजन है और वही उसको खाता है तथा यही सबको खाता है इस लिये यही कालरूप है।

(७७)--तब अन्य देवताओंने उससे कहा, कि--जो कुछ है सब तुमने अपने भोजनके लिए गाया है, अब हम क्या करें, हमारे लिये भी कुछ भाग दो, उसने कहा,

कि--तुम सब मुझमें प्रवेश कर जाओ और मुझे अपना मूल-रूप जानो, तब उन्होंने कहा, अच्छा और वे सब उसमें ही प्रवेश करगए, इस लिये सबका मूलस्वरूप प्राण ही है. जो सबका पिता है, इस लिये हम जो कुछ खाते हैं उससे ज्ञानेन्द्रियें और कर्मेन्द्रियें पुष्ट होती हैं।

(७८)- जो इस तत्त्वको जानता है, कि--मैं प्राण हूँ आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ,हरएकका ईश्वर होता है, सब इसके आश्रयसे अपने जीवनको चलाते हैं। जब ऐसा साधक पहला ग्रास खाता है तो उससे प्राण बलवान् होता है और प्राणके पुष्ट होने पर आँख पुष्ट होती है, और आँखमें बल आने पर सूर्य पुष्ट होता है और सूर्यके पुष्ट होने पर सूर्यमें बसने वाली प्रजा पुष्ट होती है।

(७९)-जब वह दूसरा ग्रास खाता है तो उससे व्यान पुष्ट होता है, व्यानके पुष्ट होने पर कानोंमें बल आता है। कानोंके पुष्ट होने पर चन्द्रमा पुष्ट होता है, चन्द्रमा की पुष्टिसे दिशायें पुष्ट होती हैं. दिशाओंके पुष्ट होने पर उनमें बसने वाली प्रजा पुष्ट होती है।

(८०) जब वह तीसरा ग्रास खाता है तो पहले उसके अपानमें बल आता है, अपानके पुष्ट होनेपर वाणी पुष्ट होती है, वाणीके पुष्ट होनेपर अग्निमें बल आता है अग्नि के पुष्ट होनेपर पृथिवी पुष्ट होती है और पृथिवीके पुष्ट होने पर उस पर बसने वाली प्रजा पुष्ट होती है।

(८१)-जब वह चौथा ग्रास खाता है। तो पहले समान पुष्ट होता है। समानके पुष्ट होने पर मन पुष्ट होता है और मनके पुष्ट होने पर मेघ पुष्ट होते हैं।

मेघोंके पुष्ट होनेपर बिजली पुष्ट होती है, और बिजली के पुष्ट होने पर जो बिजलीमें बसते हैं वे पुष्ट होते हैं

(८२)-जब वह पाँचवां ग्रास खाता है तो पहले उदान पुष्ट होता है, उदानके पुष्ट होने पर पवन पुष्ट होता है पवनके पुष्ट होने पर खुला मैदान (फ़िज़ा) पुष्ट होता है, उसके पुष्ट होने पर जो कुछ उसमें रहता है सब पुष्ट होता है, जो मनुष्य पहले ऐसा निश्चय नहीं करलेता, कि-मैं प्राण हूँ, शरीर नहीं हूँ, वह जो कुछ अग्निमें होम करता है निरर्थक जाता है, मानो वह राखके ढेरमें होम करता है, परन्तु जो ऐसा विश्वास करता है और वेदके मंत्रोंसे अग्निमें होम करता है वह सब लोकोंमें, सबभूतोंमें और सबकी आत्माओंमें आहुति देता है, तथा उसको स्वयंभी खाता है, तब ही होमका वास्तविक फल पाता है और जैसे आगमें फेंका हुआ तिनका जल जाता है, ऐसे ही उसके पाप जल जाते हैं यदि उसका जूठा चांडाल भी खालेय तो पापोंसे बच-जाता है, अधिक क्या लिखें, जिस प्रकार दूधके लिये बछड़े गौओंकी ओरको टकटकी लगाते हैं तैसेही देवता और पितर देखते हैं, कि-ऐसा निश्चयवान् कब खाता है

(८३)- आश्चर्य न मानो कि-ऐसा क्योंकर होसकता है, कि-प्रजापतिकी ज्ञानेन्द्रियें और कर्मेंद्रिय ऐसे निश्चय से देवता होगई, बल्कि कारण इसका यह है कि-यह देवता जो प्रजापतिकी बाहरी इन्द्रियें हैं, यही हमारे दुष्कर्मोंके कारणसे मृत्युके कैदी होकर हमारे साथ इस छोटेसे घरमें शरीरिक इन्द्रियोंके रूपमें प्रकट हैं।

(८४)–अग्नि देवता कैद हुआ हममें बोलता जिसप्रकार वह प्रजापतिमें बोलता है और उससे निकला हुआ उसका ही रूप है। इस कारण वाणी तो मानुषी शक्ति है परन्तु अग्नि जो प्रजापतिकी बोलनेकी शक्ति उसका मूल है इस लिये ही अग्निको वाणीका अधि देवता कहा जाता है।

(८५)–इस प्रकार ही वायुदेवता वन्दी हुआ हममें उसी प्रकार सूंघता है जैसे वह प्रजापति में सुगंधि लेता है और नाक भी उसमेंसे ही निकली हुई उसका ही रूप है, इसकारण नाक तो मानुषी शक्ति है परन्तु वायु जो प्रजापतिकी नाक है उसका मूलरूप है, इस कारण ही वायुको नाकका अधिदेवता कहागया है।

(८६) इसप्रकार ही सूर्य देवता मृत्युका वन्दी हुआ हममें उसी प्रकार देखता है, जैसे वह प्रजापतिमें देखने का कारण होता है और यह आंख सूर्यसे निकली हुई सूर्यका ही रूप है जो प्रजापतिकी आँख है। वास्तवमें इसका मूल- रूप सूर्य है, इसकारण ही सूर्य आँखका अधिदेवता कहलाता है।

(८७)–ऐसे ही दिशाओंका देवता वन्दी हुआ हममें कानके रूपमें प्रकट है। जिस प्रकार दिशायें प्रजापतिके कान है और उसके सुननेके द्वारा हैं, ऐसे ही कान भी हमें सुनाते हैं ये कान दिशाओंसे निकले दिशारूप हैं, दिशायें उनका मूलरूप हैं, इस लिये ही कानोंका अधि- देवता दिक्क है।

(८८)–इसीप्रकार चन्द्रमाका देवता मृत्युका कैदी होकर हममें मनके रूपमें प्रकाशित है। जिसप्रकार प्रजा-

पति चन्द्रलोकके कारणसे सोचना समझना है, इसी प्रकार हम भी मनके कारणसे सोचते समझते हैं, इस कारण हमारा मन चन्द्रमासे निकला हुआ चन्द्रमारूप है और चन्द्रमा ही उसका मूल है और यही मनका अधिदेवता है।

(८६)–इसप्रकार ही हमारे अध्यात्म प्राण इसी अधि-दैविक प्राणके टुकड़े हैं जो प्रजापति हैं और हमारी ज्ञानेन्द्रियें तथा कर्मेन्द्रियें भी इसीकी ज्ञानेन्द्रियें और कर्मेन्द्रियोंके टुकड़े हैं, जो पापकर्मोंके कारण शुद्ध दशा से कैदमें आगये हैं। पापकर्मोंकी कैदके कारण हम पूर्ण से खण्डरूप बनगये हैं और हमारी ज्ञानेन्द्रियें भी हमारे पापकर्मोंके कारण शुद्ध दशासे बन्धनकी दशामें आगई हैं, इसकारण हम जन्मसेही शरीरमें अहम्भाव रखते हैं

(९०)–परन्तु जब हम शास्त्रकी शिक्षासे प्राण वा आत्मामें अहं निश्चय पाजाते हैं और विश्वास करते हैं कि-हम आत्मा हैं, शरीर नहीं हैं, किन्तु प्रजापतिके पुत्र प्रजापतिरूप हैं और फिर इस निश्चयसे सत्कर्मसे मित्रता करते हैं तो हमारे पाप ऐसे दूर हो जाते हैं जैसे कि— प्रजापतिके पाप पहले कल्पमें इसी निश्चयसे दूर होगए थे। यह प्रकट है, कि—जब पापोंका बन्धन टूट जाता है तो इन्द्रियें अपने २ मूल कारणमें एक होजाती हैं और हमभी प्रजापतिमें एक होजाते हैं, कैदी छूट जाता है, इसको ही मुक्ति कहते हैं।

(९१)–ऐसी बातोंसे मालूम होता है. कि-मैं आत्मा हूँ, यह विश्वास ही कर्मकाण्डका मूल है, जबतक यह विश्वास नहीं होता तबतक कर्मानुष्ठानका कुछ प्रकार

नहीं होता, इसलिये जिसको यह विश्वास नहीं है और कर्म करता है वह तो पितृयान मार्गमें चलता है, चन्द्रलोकका मार्ग पाता है. देवयानकी सड़क पर नहीं चलता।

(६२)--कोई २ यह कहते हैं, कि--यह विश्वास चाहिये, परन्तु वाणीसे इसको प्रमाणित करनेकी आवश्यकता नहीं है, यह कहना मिथ्या है, वाणीसे इसे सिंहकी गर्जनाके समान कहना चाहिये। क्यों कि ब्रह्मदत्त चैकितानेयने महर्षियोंके यज्ञमें उद्गाता बनकर सोमरसको पीते हुए इस विश्वासको सिंहकी समान गरज कर प्रमाणित किया था।

(६३)-ब्रह्मदत्तने यज्ञमें सोमरस पीतेहुए ऋषियोंमें गरज कर कहा, कि—मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ यदि मैंने आत्मस्वरूपमें उद्गायन नहीं किया हो तो यह सोमरस जिसको मैं पीरहा हूँ, मुझे ब्रह्मलोकसे गिरा देय, श्रुतियेंभी इस विश्वासकी ही स्पष्ट आज्ञा देती हैं

(६४)-जब ऋषि, मुनि, विद्वान् ब्राह्मण इस विश्वास पर स्पष्ट सम्मति देरहे हैं तो उन लोगोंकी बात ठीक नहीं है जो इस विश्वासके प्रतिकूल हैं और युक्ति भी है कि-जो कुछ मनमें होता है वही वाणीमें आता है, यदि कोई दावा करे, कि-मैं उसका विश्वास तो रखता हूँ परन्तु वाणीसे नहीं कहता तो मालूम होता है, कि-अभी उसका विश्वास कच्चा है और परलोकके कर्मोंमें उसका कुछ प्रभाव नहीं है।

(६५)--वेदोंका अभिप्राय यह है कि-विश्वास और अनुष्ठान (अमल) दृढ होते हैं तो वे ही मृत्युकालमें

फल देते हैं और यह स्पष्ट ही है, कि—जैसी मति होती है, वैसी ही गति होती है 'याऽन्ते मतिः स गतिः' क्योंकि-भङ्गी जब स्वप्नमें पहुँचता है तो यद्यपि अपने विचारमें पृथिवी और आकाश, राजा और प्रजा सब कुछ रखता है, परन्तु आप अपने विश्वासके अनुसार भङ्गी की सूरतमें ही उठता है और टट्टियोंको साफ करता है और राजा जब स्वप्नमें जाता है तो अपने राजापनके विश्वासके कारण राजाके रूपमें ही उठता है भंगी के रूपमें नहीं उठता।

(६६)—इसलिये जिसको पक्का विश्वास होता है कि-मैं आत्मा हूँ और प्रजापति हूँ वह मृत्युमें आत्म-स्वरूपसे और प्रजापतिके रूपसे उठता है और जिसका यह विचार रहेगा कि-मैं शरीर हूँ दुःखी अपराधी प्राणी हूँ वह उसप्रकार ही शरीरके बन्धनमें पड़ा हुआ दुःखी रूपमें उठेगा इसलिये मुक्तिकी इच्छा वाले मुमुक्षुको पहले यही विश्वास पक्का करना चाहिये कि-मैं आत्मा हूँ और प्रजापतिका पुत्र प्रजापतिरूप हूँ जब तक ऐसा विश्वास नहीं पाता नये जीवनमें नहीं पहुँचता है किन्तु शूद्र या शरीराभिमानी है और उसको वैदिक कर्मोंका भी वास्तविक अधिकार नहीं होता, क्योंकि—शरीर तो नाशवान् है, यहाँ ही जला दिया जाता है, फिर कर्मोंका फल किसको मिलेगा ? परन्तु जो आत्मा है, वह तो मरता ही नहीं, उसको कर्मोंका फल अवश्य ही प्राप्त होगा, इसलिये आत्मका विश्वास कर्मोंके अधिकार का मूलकारण है।

(९७)-साधारण पढेलिखोंको इस विश्वासकी ब
ही आवश्यकता है इसलिये हमने उसके नियम
करके लिखदिये हैं, परन्तु कर्मोंका स्वरूप वर्णन क
आवश्यक नहीं हैं,क्योंकि ब्राह्मण उसके स्वरूपको जा
हैं और उनके द्वारा वह यज्ञ आदि कर्म कर सकता

वेदोंका अभिप्राय यह है, कि-ब्राह्मण दूसरोंके
दलालकी समान है । जिसप्रकार देहाती आदमी व्याप
नहीं कर सकता, इसलिये वह यदि खरीदना और बेच
चाहे तो उसको चाहिये, कि-वह दलालके द्वारा ख
और बेचे तो उसको हानि नहीं उठानी पड़ेगी।

(९९)-जैसे दलालकी दृष्टिसे देहाती आदमीका का
चलता है,ऐसेही यज्ञ करानेवाले ब्राह्मणकी दृष्टि पर य
मानको फल मिलता है और यह ब्राह्मण जिसप्रकार
शास्त्रीय विश्वास रखता है, उसके अनुसार प्राय य
मानमें दृष्टि रखता है और मुक्तिका कारण होजाता है

(१००)-राजा जनककी सभामें अश्वल ब्राह्मण
याज्ञवल्क्य ब्राह्मण मुनिसे प्रश्न किया,कि-हे याज्ञवल्क्य
यह जो उद्गीथ ब्राह्मणमें मालूम हुआ है, कि-यजमा
की इन्द्रियें पापोंके लगजानेसे मृत्युकी कैदी हो रही हैं
कौनसी दृष्टि रखनेसे यह मुक्त होसकती हैं ? मुनि
उत्तर दिया, कि-जब होता, यजमानकी वाणीको अ
देवता और आनेसे एक करके देखता है तो इस हो
की दृष्टिसे उसकी इन्द्रियें मृत्युके बन्धनसे छूट जाती
और परिच्छिन्न (महदूद) गोलोकोंसे स्वतन्त्र होती
अपने २ अपरिच्छिन्न (गैरमहदूद) अधिदेवताओंसे मि
जाती हैं ।

(१०१)-चतुर होताका यज्ञमें यह निश्चय होता है, कि-यजमानकी वाणी वास्तवमें होता है और यह वास्तव में अग्नि है और यही होता है, बस उसकी यह दृष्टि ही यजमानकी मुक्ति है, जो ब्राह्मण इस तत्त्वको नहीं जानता और यज्ञ कराता है वह अनजान है।

(१०२)-फिर उसने प्रश्न किया, कि-जो समय बीतता जाता है, वह या तो तिथिरूप है या दिनरातरूप है और यजमानके जीवनका समय नियमित है,कौनसी दृष्टिसे यजमान समयकी कैद दिनरातसे छूटता है ? मुनिजीने उत्तर दिया, कि-जब अध्वर्यु यजमानकी आंखको सूर्य और अपनेसे एक देखता है, तो दिनरातके बन्धनसे छूट जाता है, उसकी दृष्टि यह होती है, कि-यजमानकी आँख वास्तवमें सूर्य है और यही यज्ञका अध्वर्यु है तथा यह दृष्टि ही उसकी मुक्ति है

(१०३)-फिर उसने प्रश्न किया, कि-तिथिरूप बन्धन से यजमानकी मुक्ति यज्ञमें कैसे होती है ? उन्होंने उत्तर दिया, कि-जब उद्गाता यजमानके प्राणको महाप्राण (वायुदेवता) और अपनेसे एक देखता है तो तिथिरूप बन्धनसे छूट जाता है और उसकी दृष्टि यह होती है, कि-जो यह यजमानका प्राण है यही प्रजापतिका प्राण है और यही उद्गाता है तथा इस विश्वाससे ही उसकी मुक्ति होती है।

(१०४)-फिर उसने प्रश्न किया कि-यजमान ऐसे अनुष्ठान और विश्वासको करके किसकी शरण लेताहुआ मरनेके बाद सुरलोकमें जाता है ? मुनिजीने उत्तर दिया, कि-जो ब्रह्मा इसके मनको चन्द्रमासे एक देखता है, यह

दृष्टि ही इसके कर्मों का अवलम्ब होती है और यह दृष्टि इस प्रकार होती है, कि–यजमानका मन वास्तवमें ब्रह्मा है और वही चन्द्रमा है तथा यह विश्वास ही मुक्ति है।

(१०५)–इन प्रश्न और उत्तरोंका अभिप्राय यह है कि–यजमानकी जो छोटी २ इन्द्रियें और शक्तियें हैं, वे सब अपने अपने पूर्णरूप अधिदेवताओंसे टुकड़े २ होकर निकली हैं और मृत्यु तथा समयके बन्धनमें बँधीहुई हैं। यज्ञमें मनको अपने २ मूल कारणमें एक करके देखते हैं और कर्मकाण्ड आत्मिकभावसे कराते हैं,ब्राह्मणोंकी इस दृष्टिसे खण्डसे अखण्ड होजाते हैं, बद्धसे मुक्त होजाते हैं। इसप्रकार साधारण पढ़े लिखोंके लिये ऐसी उपासनामें ब्राह्मण यज्ञके समय दलाल बनजाते हैं। परन्तु जो स्वयं ही ऐसा विश्वास रखता है वह और भी अच्छा है।

(१०६)–साधारण पढेलिखेको चाहिये, कि-जहाँतक संभव हो पहले इस विश्वासको पक्का करे,कि-"मैं शरीर नहीं, किन्तु आत्मा हूँ और मनुष्य नहीं,किन्तु प्रजापति-पुत्र प्रजापतिरूप हूँ" फिर विद्वान् ब्राह्मणोंको इस विषयमें दलाल बनाकर उनसे यज्ञका कर्मानुष्ठान करवावे तो वह भी मरनेके बाद देवयान मार्गमें चलता हुआ ब्रह्मलोकमें सत्यसङ्कल्प, सत्यकाम प्रजापतिसे जामिलेगा और ब्रह्मलोकके सिंहासनको अपनी पैतृकसम्पत्ति रूपसे पावेगा। सेवक (गुलाम) चाहे सेवा और उपासना करे उसको राजसिंहासन नहीं मिल सकता, निःसन्देह मजदूर मजदूरी पानेका अधिकारी है, इसलिये शुभकर्मोंसे स्वर्गके भोग तो मिलेंगे, परन्तु मुक्त नहीं होगा–सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प नहीं होगा, किन्तु पितृयान

मार्गसे चन्द्रलोकमें पहुँचकर देवताओंके भोग पावेगा और उनको भोगकर फिर गिर जायगा।

(१०७)–इसलिये हे भ्राताओं! हम तो शूद्र नहीं हैं, किन्तु द्विजाति हैं, शरीर नहीं है, किन्तु आत्मा हैं। सेवक नहीं है किन्तु ब्रह्मलोकके युवराज हैं, फिर क्यों दूसरी बार गुलामीके जुएके तले आते हो? हमारा काम सेवा नहीं है किन्तु उपासना करना है, अशुभ कर्म करना नहीं, किन्तु शुभ कर्म है। विषयभोग करना शरीरका काम है। शुभ कर्म, होम यज्ञ और माता पिता आदि गुरुजनोंकी भक्ति करना आत्मिक कर्म है। योग्य पुत्र वही होता है जो पिताकी प्रतिष्ठा करना सीखता है। हवन आदि सत्कर्म करना परमपिताकी प्रतिष्ठा करना है और उनके स्वभाव उपासना आदिका विश्वास है। परमपिताकी जिस सन्तानमें ऐसा पूतिष्ठा करनेका भाव और उपासनाका विश्वासरूप स्वभाव नहीं है वह ब्रह्मलोकके सिंहासनके उत्तराधिकारसे गिरजाता है और उस राजसिंहासनको नहीं पाता है।

(१०८)-जबतक तुम बालक हो, यद्यपि उत्तराधिकारी हो तो भी जिसपूकार बालक (नाबालिग) युवराज अपने गुरुजन और विद्या पढ़ानेवालोंके बन्धनमें सेवककी समान रहता है तैसे ही तुम भी रहते हो, फिर जब समय आता है और पैतृकसम्पत्तिका मालिक होता है, ऐसे ही तुम भी जबतक संसारमें शरीरका बन्धन है तब तक ब्राह्मण और शास्त्रोंके बन्धनमें हो। खूब विद्या पढ़ो प्रजापतिकी उपासना तथा भक्ति करना सीखजाओ तो ब्रह्मलोकका साम्राज्य तुम्हारे समीप ही है। शरीराभि-

मानियोंकी शिक्षा और विचारोंसे दूर रहो, क्योंकि-उनके विचार और विश्वास गुलामोंके हैं, शाहजादोंके नहीं हैं। भौतिकोंके हैं आत्मिकोंके नहीं हैं।

(१०९)-हम कर्मकाण्ड विद्याके इतने नियम ही भाषामात्र जाननेवालोंके लिये पर्याप्त (काफी) हैं जिनको इससे अधिक वृत्तान्त जानना हो वे वेदभगवान्की शरण लें, परन्तु हम सूचित किये देते हैं, कि-यद्यपि कर्मकाण्डविद्याकी चाहे जितनी उन्नति करलो परन्तु वह भी नाशवान् (फानी) है, अविनाशी नहीं है, क्योंकि-जो जो कर्मोंसे बनता है वह एक दिन नष्ट होजाता है पुण्यलोक भी पुण्यकर्मोंसे बनाया जाता है, इसलिये उसका स्वरूप भी अमृत नहीं है।

(११०)-क्योंकि-यह उन्नति वास्तविक और आत्मिक नहीं है इसलिये वेदभगवान्ने अन्तमें इसकी बड़ी अप्रतिष्ठा की है, क्योंकि-कर्मकाण्डमें बड़ा परिश्रम है तथा जैसा करता है वैसा पाता है, इसलिये ही मृत्युके अधीन रहता है। परन्तु ज्ञानकांडमें कुछ भी करना नहीं पड़ता और जो कुछ भी मिलता है वह नकद और और मुफ्त मिलता है तथा उसमें मृत्युका अधिकार नहीं है, इसलिये ही वेदभगवान् सदा कर्म ही करते रहनेकी प्रेरणा नहीं करते, किन्तु उनसे उपराम कराते हैं जिससे कि-आर्य पुरुष अन्तको उसमें आसक्त न हों और निष्काम कर्म करते हुए परमपिताके खास आराम परमानन्दको भी पाजायँ।

(१११)-इस ज्ञानकांडमें सबसे बड़ी बात यह है, कि-खास आराम (सुख) जो स्वभाविक है वह तो

नक़द यहाँ ही मिल जाता और सत्यसङ्कल्पता और सत्यकामता आदि मृत्युके अनन्तर छायाकी समान मुफ्त ही मिलजाते हैं, इसलिये हम भीअब कर्मकांडके विषयको समाप्त करते हैं और अपने प्यारे पाठकोंको मङ्गलमय मार्गमेंको घुलाते हैं, ईश्वर परमात्मा इस पुस्तकके पढनेवालोंको अपना ज्योतिर्मय दर्शन दें।

"तथास्तु"

❀ ज्ञानकाण्ड ❀

❀ प्रथम-अध्याय ❀

(१)-हम पिछले उपदेशमें इन्द्रियोंका स्वरूप अच्छे प्रकारसे बताचुके हैं और उनके खास २ काम भी बताचुके हैं, कि आँख देखती है, कान सुनता है, जीभ चखती है, मन सोचता और समझता है। हाथ पकड़ने हैं, पाँव चलते हैं, वाणी बोलती है।

(२) इन्द्रियें जब मिलकर शरीरमें काम करती हैं तो उनके मिलेहुए समूहको मनुष्य कहाजाता है और उनके काम वास्तवमें मनुष्यके काम हैं। उनके कोई भीतरी हैं और कोई बाहरी ये इन्द्रियें जब भीतरका काम करती हैं तब अन्तःशक्तियें कहलाती हैं और जब बाहरका काम करती हैं तब बाहरी गोलक होती हैं।

(३) क्योंकि वास्तवमें ये इन्द्रियें ही सब कारोबार करती हैं। क्योंकि–नियम यही है, कि–जो करता है वही पाता है, इसलिये ज्ञानकाण्डमें इस विषयकी ही आलोचना है, हमने भी पहली शिक्षामें इस विषयको ही लिया है।

(४)–अब जानलो कि–जो कारबार होता है वह किसी प्रकाश (नूर) में होता है, अन्धेरेमें नहीं होता, किन्तु जब अन्धेरा होजाता है कारबार तत्काल बन्द होजाता है। इन इन्द्रियोंके कारोबार भी जिस प्रकाश में होते हैं वह आत्मप्रकाश है, उसका वर्णन हमने कर्मकाण्डविद्यामें नहीं किया था क्योंकि–वह प्रकाश उनसे अलग अकर्त्ता अभोक्ता द्रष्टा (तमाशाई) है, इसलिये कर्मकाण्डसे उसका कुछ संबन्ध नहीं है।

(५)–पूर्ण मुक्ति इस ही आत्मप्रकाशकी पहचान पर निर्भर है,इसकारण इसका वर्णन ज्ञानकाण्डमें होता है बल्कि जिस विद्याके द्वारा इस आत्मप्रकाशकी प्राप्ति होती है वह विद्या ही ज्ञानकाण्ड है और यह प्रकाश ही परमात्माका वास्तविक आराम है और यही मुमुक्षु पुरुषोंका परमधाम है इसको जानता हुआ ही मनुष्य कल्याणमार्गमें पहुंचता है इसके प्रतापसे ही इस सृष्टिके सब प्राकृतिक पदार्थ मुफ्तमें मिलजाते हैं।

(६)–आत्मप्रकाश वास्तवमें सबका भीतरी प्रकाश है, बाहरी प्रकाशमें छिपाहुआ दिखाई नहीं देता बाहर के प्रकाश बहुत हैं जो इस प्रकाशके आवरण होरहे हैं अज्ञान मनुष्य बाहरी प्रकाशों पर दृष्टि डालता हुआ

इसको देखता हुआ भी नहीं देखता है इस कारण ही वह इस परम कल्याणको नहीं पाता है।

(७)-बाहरी प्रकाशोंमें सबसे बड़ा और प्रसिद्ध प्रकाश सूर्य है क्योंकि-जब सूर्योदय होता है तब मनुष्य उठता है बाजारमें जाता है अपना कार्यव्यवहार करता है और लौट आता है। सूर्यके प्रकाशमें मनुष्य अपना कार्यव्यवहार अच्छी तरहसे करता है, इसकारण सूर्य मनुष्यका प्रकाश (नूर) है।

(८)-जब सूर्य नहीं होता है तो चन्द्रमा मनुष्यका प्रकाश (ज्योति) होता है, क्योंकि-उस समय मनुष्य चन्द्रमाके सहारे उसी प्रकार कार्यव्यवहार करता है, जैसे सूर्यके द्वारा करता था और चन्द्रमा भी नहीं होता तो दीपक मनुष्यका प्रकाश होता है, क्योंकि-फिर वह दीपकके सहारेसे उस ही प्रकार अपना कार्यव्यवहार चलालेता है। जब दीपक भी नहीं होता तो वाणी मनुष्यका प्रकाश होती है, क्योंकि-अंधेरी रातमें जहाँ हाथ पसारा भी नहीं दीखता तहाँ बुलाने पर मनुष्य पहुंच जाता है, जहाँ कोई कुत्ता भौंकता है या गधा रेंकता है वहाँ चलाजाता है।

(९)-यद्यपि वाणी मनुष्यका प्रकाश प्रसिद्ध नहीं है परन्तु प्रकाश का कार्य उसमें पायाजाता है क्यों कि-जिसप्रकार सूर्य या चन्द्रमा या दीपक मनुष्यकी आँख में ज्योति देते हैं, उसके मनको ज्ञान देते हैं और उसको कार्यव्यवहारके लिये उभारते हैं, इसीप्रकार वाणी भी उसके कानमें प्रकाश डालती है मनको ज्ञान देती है

और उसको कार्यव्यवहारमें उभारती है, इसकार
वाणी भी मनुष्यका प्रकाश है।

(१०) मनुष्यका अप्रसिद्ध प्रकाश केवल वाणी
नहीं है किन्तु गन्ध, रस (स्वाद), शीत उष्ण (स्पर्श
भी उसके प्रकाश हैं। प्रकाश भी नासिका जीभ औ
शरीरमें प्रकाश डालते हुए मनमें ज्ञान उत्पन्न करते
और मनुष्यको कार्यव्यवहारके लिये उभारते हैं इस
मालूम होता है, कि जो वस्तु किसी प्रकाशसे मन
ज्ञान (तमीज) उत्पन्न करती हुई मनुष्यको कार्यव्यव
हारके लिये उभारती है वही उसका प्रकाश होती है।

(११) जान लो कि-यह सब प्रकाश पहले किसी
बाहरी इन्द्रियमें चमक देते हुए मनको उभारते हैं
बाहरी इन्द्रियगोलकोंकी सहायताके विना भीतरी कार
और ज्ञान प्रकाशके स्थान मनको नहीं उभारते, इस
लिये ये बाहरी प्रकाश हैं, परन्तु विचार और चिन्ता
(जिक्र फिक्र) में जो मन (चित्त) स्वयं ही उठता है
इन प्रकाशोंसे नहीं उठता, किन्तु भीतरी प्रकाशसे जो
कि-आत्मज्योति-आत्मप्रकाश है, उसके द्वारा उठता
है। क्यों कि-जब हम चाहते हैं, कि-किसी पदार्थका
ध्यान करें तो हमारा मन आत्मप्रकाशसे उजाला पाता
हुआ ध्यानके रूपमें ज्ञान पाता है और भीतरी कार्यव्य-
वहार करता है।

(१२)-इस भीतरी ज्योतिका वास्तविक दर्शन स्वप्न
में होता है. जब हम स्वप्नावस्थामें सैर करते हैं क्यों
कि-वहाँ निद्राके कारण बाहरकी इन्द्रियें बेकार होती
हैं। न तो वहाँ सूर्य चमकता है, न चन्द्रमाकी चाँदनी

होती है और न दीपक ही जलता है, प्रत्युत वाणी आदि बाहरी इन्द्रियें भी नहीं होतीं तो भी हम अपने आत्मप्रकाशमें एक स्वप्नकी एक अद्भुत दुनियाँ देखते हैं और उसमें ऐसा ही कार्यव्यवहार करते हैं जैसा कि-जाग्रत्में बाहरी इन्द्रियोंकी सहायतासे करते हैं।

(१३)-हम सिद्ध करचुके हैं; कि-जिसमें मनुष्य नियमानुसार सब कार्यव्यवहार करता है वही उसका प्रकाश होता है और स्वप्नावस्थामें मनुष्यका कार्यव्यवहार अपने आपमें स्पष्ट मालूम होता है। इससे मालूम हुआ, कि-उसका आत्मा भी उसका प्रकाश है और वह सब इन्द्रियोंके भीतर है इसलिये भीतरी प्रकाश कहलाता है।

(१४)-स्वप्नमें हमारे आत्मप्रकाशकी चमकसे पाँव स्वयं चलते हैं, हाथ पकड़ते हैं, आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं हम घोड़े पर सवार होते हैं बहुत दूर तक चलेजाते हैं मित्रोंसे मिलते हैं, बाजारोंमें जाते हैं, कार्यव्यवहार करते हैं और फिर लौट आते है, सुन्दरी स्त्रियोंके पास रहते हैं और छेड़छाड़ करते हैं। यह सब वर्त्ताव आत्मप्रकाशमें होता है जो मनुष्यका भीतरी प्रकाश है।

(१५)-जबहम जागते हैं तब भी इस ही आत्मप्रकाशमें वर्त्ताव करते हैं और ये सूर्य चन्द्र दीपक आदि प्रकाश तो उसकी सेवा करते हैं, क्योंकि-यदि जाग्रत् में आत्मप्रकाश न हो तो फिर क्या सूर्य क्या चन्द्रमा क्या दीपक सब अस्त होजायँ। इसीकारण मुरदेके लिये ये सब अँधेरा हैं। इससे मालूम हुआ कि-वास्तविक

प्रकाश यही आत्मा है। वे बाहरी प्रकाश वास्तवमें प्रकाश नहीं हैं, किन्तु इन्द्रियोंके उभारनेके कारण हैं, परन्तु सर्व साधारण अपनी कल्पनासे उनको भी प्रकाश मानते हैं।

(१६)-जब हमारा आत्मा आँख आदिमें ज्योति देता है तो आँख देखती है, कान सुनते हैं, नाक सूँघती है, जीभ चखती है और त्वचा गरम ठण्डेको पहचानती है, इसको ही बाहरी बुद्धिमान् जाग्रत् कहते हैं। बाहरी प्रकाश तो उनके खास २ कामोंमें द्वार (वसीला) होते हैं। जैसे कि-सूर्य या चन्द्रमा या दीपक तो अन्धेरेको दूर करनेकी सेवा करते हैं जिससे कि-आँख अपना पूरा और ठीक काम करे इसलिये ये सब बाहरी प्रकाश अपना २ कार्य करनेमें आत्मप्रकाशके अधीन (मुहताज) हैं।

(१७)-परन्तु आत्मप्रकाश अपने प्रकाशमें उनका मुहताज (मुख देखनेवाला) नहीं है, क्योंकि-स्वप्नमें बिना आँखोंके देखता है, बिना कानोंके सुनता है, बिना पैरोंके चलता है और बिना हाथोंके पकड़ता है। बाहरी प्रकाश जो इन्द्रियोंके चाकर हैं बहुत दूर रहते हैं, उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते, इससे सिद्ध हुआ, कि-आत्मप्रकाश अपने स्वरूपमें बलवान् है, और स्वतन्त्र है उनको मुहताज नहीं है।

(१८)-बाहरी प्रकाश यद्यपि इन्द्रियोंकी सेवा करते हैं और उनमें अपनी चमक मारते हुए उभारते हैं परन्तु वे न अपनेको जानते हैं न इन्द्रियोंको जानते हैं और न अपनी सेवाको जानते हैं, इसलिये जड़ हैं। आत्मप्रकाश मनको, मनके विचारोंको, इन्द्रियोंको और सूर्य चन्द्रमा

तथा दीपक इन सबको जानता है, इसलिये स्वप्रकाश और ज्योतियोंका ज्योति है उसको चैतन्य कहते हैं।

(१६)-बाहरी प्रकाशमें तो केवल इन्द्रियोंकी चेष्टा होती है किसी दिव्य वस्तुका दर्शन नहीं होता और आत्म-प्रकाशमें चेष्टाके साथ २ दर्शन भी होता है। इस लिये बाहरी प्रकाश तुच्छ है और यह आत्मप्रकाश प्रभाव-शाली और उनकी चेष्टा (चेतनता) भी थोड़ी है क्योंकि-सूर्य चन्द्रमा या दीपक केवल आँखमें ही चेतनता देते हैं कान या नाकमें चेतनता नहीं देते और आत्मप्रकाश तो क्या आँख, क्या नाक, क्या कान सबमें चेतनता देता है और इन्हें देखता है, इसलिये व्यापक है।

(२०)-बाहरी प्रकाशसे आत्मप्रकाशके बड़ा होनेका यह भी कारण है, कि-बाहरी प्रकाश तो किसी कारण से मनुष्यके बाहरी कामोंमें सहायता देते हैं तो भी उस के कामोंमें अभिमान (तशर्रुफ) नहीं करते और आत्म-प्रकाशका तो उसके कार्यव्यवहारमें एक प्रकारका अभि-मान भी पाया जाता है, क्योंकि-जब तक इन्द्रियोंमें उस का अभिमान नहीं होता तब तक वे सब इन्द्रियें बेकार और चेष्टाहीन होती हैं।

(२१)-देखो जब यह आत्मा मनमें और इन्द्रियोंमें अभिमान करता है तो जाग्रत्के सब कार्यव्यवहार होने लगते हैं और जब इन्द्रियोंमेंसे अभिमानको हटाता हुआ केवल मनमें अभिमान रखता है, तब स्वप्नका कार्यव्यव-हार होता है और स्वप्नावस्थाके भोग दिलाता है और जब मनसे अभिमानको हटा लेता है तब केवल पञ्चप्राण में अभिमान रखता है तब सुषुप्ति (गहरीनींद) होजाती है

केवल पञ्चप्राण ही कार्यव्यवहार करते हैं और जब उ
पञ्चप्राणोंसे भी अभिमानको हटा लेता है तब मृत्यु
होजाती है।

(२२)-ऐसा विचार करनेसे मालूम हुआ, कि-जब आत्मप्रकाशका अभिमान उनमें होता है तब वे कर्त्ता भोक्ता होते हैं और अपने कार्यव्यवहार करते हैं परन्तु बाहरी प्रकाश उन इन्द्रियोंमें अभिमान नहीं करसकते, इसलिये वे तुच्छ जड़ हैं और यह महान्-चेतन है।

(२३) यह नहीं समझ लेना चाहिये, कि-आत्मप्रकाशका अभिमान वास्तविक (जाती)है,वह तो कल्पित है, क्योंकि-जैसे जैसे मनुष्यके कर्म उसके भोगके लिये उन्मुख होते हैं वैसे उसका कल्पित अभिमान उनके वर्त्तावके लिये होता है, जब वे कर्म समाप्त हो जाते हैं तब वह इसप्रकारके अभिमानसे भी रहित अपने स्वरूप में पवित्र दिखाई देता है।

(२४) देखो, जब उसके कर्म जाग्रत्के भोगोंके फलरूप होते हैं तब उसका अभिमान इन्द्रियोंमें प्रकट होता है;जब वे पूरे होजाते हैं और स्वप्नके भोगोंके कर्म फलरूप होते हैं तब उसका अभिमाम इन्द्रियोंमें नहीं केवल मनमें होता है तथा जब जाग्रत् और स्वप्नके भोग भी समाप्त होजाते हैं तब सुषुप्ति (गर्कनींद)होती है, उस समय मनमें भी अभिमान नहीं करता। अधिक क्या लिखें जब जीवनके कर्म भी समाप्त होजाते हैं तब पंचप्राणमें भी अभिमान नहीं करता और मृत्यु होजाती है।

(२५) ऐसीआलोचना और अनुभवसे मालूम होसकता है, उसका अभिमान वास्तविक नहीं, है किन्तु कल्पित

है और कल्पना मनुष्यके कर्मोंके कारणसे उसमें होती है। जिसप्रकार सूर्यकी चमकके लिये आंखका नीरोग होना आवश्यक है, इसप्रकारही उसके प्रकाशके अभिमानके लिये भी मनुष्यके भोगके कर्मोंकी आवश्यकता है

(२६)-यह प्रकट है, कि-जब आंखमें नीरोगता होती है तो सूर्य उसमें अपनी चमक मारता हुआ उसको कार्यव्यवहारके लिये उभारता है। इसप्रकारही जब मनुष्य के भोगके कर्म फलरूप होते हैं तब आत्मप्रकाश उसमें अभिमानकी चमक मारता है और उसको कार्यव्यवहार मेंको प्रेरणा करता है। परन्तु जैसे सूर्यका प्रकाश आंख में चिपट नहीं जाता, किन्तु पवित्र और अलग ही रहता है, इस भाँति ही आत्मप्रकाश किसी इन्द्रियादिसे संपृक्त नहीं होता, किन्तु पवित्रका पवित्र ही रहता है।

(२७)-इस सब कथनका संक्षिप्त सार यह है, कि आत्मप्रकाशमें कभी जाग्रत्, कभी स्वप्न और कभी सुषुप्ति होती है और जैसे मनुष्यके कर्म फलोन्मुख होते हैं, तैसे ही तैसे उसकी अवस्थायें बदलती जाती हैं और उसके भोग उसके सब कार्यव्यवहार इस आत्मप्रकाश में ही होते रहते हैं।

(२८) मृत्युमें भी जो कार्यव्यवहार होते हैं वे सब भी इस आत्मप्रकाशमें ही होते हैं, क्यों कि-मृत्युमें वह या तो देवयान और पितृयान मार्गमें चलता है या बहुत नीचे पृथ्वी पर गिरता है तो यद्यपि वहाँ उदान प्राण कर्त्ता है तथापि जैसे कोई कारीगर दीपकके प्रकाशमें काम करता है तैसे ही वहां यह उदान प्राण भी इस

आत्मप्रकाशरूप भीतरी दीपकके सहारेसे कार्यव्यवहा
करता है ।

(२६) देवयान मार्गमें उदान प्राण इस ही आत्म
दीपकके प्रकाशमें पहले उसकी अग्नि, अग्निसे लपट
लपटसे दिनका प्रकाश बनता है, जैसा कि-कर्मकाण्ड
विद्यामें बताया गया है अथवा पितृयान मार्गमें पहले
धुआँ, धुएँसे अन्धकार और नीचे पृथ्वी पर पहले भस्म
फिर, धूलि, वनस्पति आदि बनता हुआ स्त्रीके गर्भमें
लेजाता है ।

(३०)-फिर देवलोक और पितृलोकमें सोमराज
देवतारूपसे उठता हुआ भूलोकमें स्त्रीके गर्भमेंसे पशु
परन्द या मनुष्यकी योनिमें उत्पन्न करता हुआ सुरलोक
और चन्द्रलोकके तथा भूलोकके भोग देता है। यह सब
कार्यव्यवहार क्या ऊपरके और नीचेके, क्या आत्मिक
और क्या सांसारिक, क्या मानुषी और क्या दैवी
सब उसके कर्मोंके फल हैं और उदान प्राण उनका कर्ता
है; इसलिये इन्द्रियें वास्तवमें कर्मोंके बन्धनमें बँधी हुई
कर्ता व भोक्ता ही हैं, परन्तु उनका भोग और कार्य
व्यवहार इस आत्मप्रकाशकी ही रक्षामें होता है, इस
लिये यह सकल कार्यव्यवहारका संरक्षक है ।

(३१)-जहाँ दिव्य और पार्थिव सड़कों पर केवल
उदान प्राण कार्यव्यवहार करता है तो इस आत्मप्रकाश
के अभिमानसे ही करता है और इस अभिमानके कारण
ही जगत्स्रष्टा (खालिक) नाम पाता है जब देवलोक
या पितृलोकमें यही प्राण अनेकों देवतारूप होकर दिव्य-
भोग पाता और ऊपरके लोकोंके कार्य्यव्यवहारको करता

है तब इस ही आत्मप्रकाशके अभिमानके कारण देवता नामोंको पाता है और यही मानवसंसार या पशुपक्षियों में जीवनाम पाता है। दिव्यलोकोंमें पुण्यकर्मोंके कारण स्वतन्त्र होता है और यहाँ पापकर्मोंके कारण परतन्त्र होता है।

(३२)-इसप्रकार क्या दिव्य और क्या पार्थिव सब संसारचक्र इस आत्मप्रकाशमें अनादिकालसे चलरहा है और अपने २ कर्मोंके कारणसे ये जीव कभी ऊपरके लोकोंमें और कभी नीचेके लोकोंमें यात्रा करते हैं और यह आत्मप्रकाश इन सब कामोंका आधार है तथा इनसे अलग अकर्त्ता अभोक्ता है, क्यों कि-करना या पाना वास्तवमें इन्द्रियोंका काम है, आत्मप्रकाशका नहीं है, इसलिये वह असङ्ग है।

❀ दूसरा अध्याय ❀

(१)-इसप्रकार विचार करनेसे सिद्ध हुआ, कि-यद्यपि सब कार्य्यव्यवहार आत्मसत्ताके बल पर होता है परन्तु आत्मा स्वयं कर्त्ता नहीं है, बल्कि उसका कार्य्य-व्यवहारसे-प्रकाशके सिवाय कुछ भी संबन्ध नहीं होता देखो सूर्य या चन्द्रमा अथवा दीपकके प्रकाशमें हम कार्य्यव्यवहार करते हैं, क्यों कि-उजालेमें हम बाजार जाते हैं और वहाँसे काम करके फिर लौट आते हैं उन कामोंका करना वा उसका हानि लाभ उठाना मनुष्यसे सम्बन्ध रखता है, सूर्य, चन्द्रमा या दीपकसे नहीं।

(२)-हम ऊपरके परिच्छेदमें आत्माको सब प्रकाशों का प्रकाश वा सर्वोपरि प्रकाश सिद्ध करचुके हैं और सब

कार्यव्यवहार क्या भीतरी क्या बाहरी, क्या दिव्य पार्थिव, क्या मनुष्योंके क्या अन्य प्राणियोंके,इस आ प्रकाशमें ही सिद्ध होते हैं और कर्त्ताभोक्ता वे ही इन्द्रि हैं जो कार्यव्यवहारके द्वार हैं बस उनका करना धर्म उनके फलोंका भोगना भी उनका ही धर्म है, आत्म प्रकाशका नहीं, बल्कि वह तो अकर्त्ता, अभोक्ता अस नित्यमुक्त है।

(३)-हम इसके विषयमें एक दृष्टान्त लिखते हैं और उसको इसमें घटाकर दिखाते हैं, जिससे पाठकोंको इ विषयको समझनेमें सरलता होजाय। वह दृष्टान्त यह है-मानलो, कि-एक राजाके दरबारमें रातको तमाशा होरहा है।

(४)-वहाँ एक बहुत बड़ा महल है, जिसमें वह तमाशा होता है और एक कोनेमें लैंप लटक रहा है जिसकी रोशनी चारों तरफ पड़रही है और एक राज सिंहासन पर राजा बैठा है, अपनी२ योग्यताके अनुसार स्थानों पर राजाके दरबारी भी बैठे तमाशा देख रहे और एक वेश्या उसके सामने नाचरही है और मिरासी उसको गागा कर नचाते हैं और वह वेश्या उन्हीं बातों पर उनके नचानेके अनुसार नाचती है।

(५)-इस दृष्टान्तमें स्पष्ट है, कि-जिसप्रकार मिरासी उसे नाचते हैं, उसी प्रकार वह वेश्या नाचती है, जब वह नियमसे मुजरा करती है तब राजा और उसके दरबारी प्रसन्न होते हैं परन्तु जब वह बेसुरी या बेताल होजाती है तो उनको बुरा मालूम होता है और लैम्पका प्रकाश क्या, वेश्या, क्या मिरासी, राजा क्या दरबारी

और क्या महल सबको चमकाता हुआ प्रकाशित होरहा है और सब तमाशा उसके ही आधार पर होरहा है, क्यों कि-यदि लेम्प न हो तो तमाशा बन्द होजाता, तो भी वह लेम्प न तो तमाशा ही करता है और न उस तमाशेके कारणसे हर्ष या खेद पाता है।

(६)-फिर जिस समय वह वेश्या और मिरासी कुछ आराम करनेको बैठ जाते हैं उनके आरामको भी उसी तरह जतलाता है, कि जिस तरह उनके नाचनेको प्रकाशित करता था, जब वे सब तमाशा करनेवाले औरदेखने सुननेवाले चलेजाते हैं तो केवल महलोंको और उनके न होनेको प्रकाशित करता है। न उनके होनेकी उसको कुछ परवाह है और न उनके न होनेसे ही उसको कुछ दुःख होता है, बल्कि इन सबोंसे असङ्ग रहता है।

(७)-ऐसा ही हमारा शरीर एक शाही महल है, जिसमें इन्द्रियें आबाद हैं अहङ्कार उसमें राजाकी समान है और भीतरी इन्द्रियें दरबारियोंकी समान हैं, बुद्धि एक तमाशा करनेवाली वेश्या है बाहरकी इंद्रियें मिरासी हैं बाहरी विषयोंमें आसक्ति इन मिरासियोंके साज व गान हैं और आत्मप्रकाश लेम्पकी समान है, जो मनके कुण्डेमें टँगा हुआ बराबर जलरहा है।

(८) ज्यों २ बाहरी इन्द्रियें जो मिरासियोंकी समान हैं बाहरी विषयोंसे सुरताल मिलाती हैं त्यों २ बुद्धि नाचती है, क्योंकि जैसा २ इन्द्रियें बताती हैं उसके ही अनुसार बुद्धिको अनुभव होता है और वह कार्यव्यवहार करती है, यदि अच्छा करती है तो अहङ्कार अपने

दरबारियोंके सहित प्रसन्नताका भोग पाता है और बुरा करती हैं तो दुःखका भोग पाता है।

(६)-यह सब तमाशा उस आत्मदीपकके प्रकाशमें ही होता है, यदि यह दीपक न होता तो क्या इन्द्रियें क्या बुद्धि क्या अन्तःकरण और क्या अहङ्कार सब बेकार होते इससे मालूम हुआकि-उसके ही प्रकाश,और उसकी ही शरणमें ये सब तमाशा होता है।

(१०)-आत्मप्रकाश इन्द्रियोंको रोशनी देता है और इन्द्रियोंके कार्यव्यवहारको प्रकाशित करता है और फिर उनके बाहरी विषयोंको जो उनके साज हैं प्रकाशित करता है और उनके कार्यव्यवहारको भी प्रकाशित करता है, बुद्धिको प्रकाशित करता है और जिस २ प्रकारसे बुद्धि सोचती या समझती है उसको भी प्रकाशित करता है।

(११) फिर जिस २ प्रकार उसमें कार्यव्यवहारसे अहङ्कार प्रसन्नता या खेद पाता है उसको तथा अहङ्कार को भी प्रकाशित करता है न तो इन्द्रियोंके कर्त्तव्य या बुद्धिके विचारसे उसको कुछ लगावट है न अहङ्कारकी प्रसन्नता और खेदसे कुछ सम्बन्ध है किन्तु सबके कार्यव्यवहार और सबोंके स्वरूपसे अलग असङ्ग सब प्रकाशोंका प्रकाश है।

(१२)-जब जागृत् अवस्था होती है और वे सब मिलकर जाग्रत्का तमाशा करते हैं तो यह आत्मप्रकाश जाग्रत् अवस्था और उनके जाग्रत् कार्यव्यवहारको प्रकाशित करता है और जब वे स्वप्नमें जो स्वप्नका तमाशा करतेहैं तो वह प्रकाश स्वप्नका तथा स्वप्नावस्थाके तमाशे को भी उस प्रकार ही प्रकाशित करता है जैसा कि—

जाग्रत्‌में करता था और जब वे सब सुषुप्ति (गर्क नींद) में वेखबर (न होनेकी समान) होजाते हैं तो केवल शरीररूप महलको और उन सबोंके न होनेको प्रकाशित करता है।

(१३)–न तो उसको जाग्रत् और स्वप्नके तमाशेकी कुछ परवाह है और न उसको सुषुप्तिकी वेखबरी और सबके न होनेसे कुछ सम्बन्ध है। किन्तु जैसा होता है वैसा दिखाता है। इसलिये वह कर्त्ता भोक्ता नहीं है, किन्तु प्रकाशोंका प्रकाश असङ्ग आत्मा है।

(१४)–यह आत्मप्रकाश दृष्टान्तरूप दीपकसे भी बढ़कर है, क्योंकि दीपकका प्रकाश तो अपनी रोशनीसे दूसरोंको ही सहायता देता है, स्वयं उस तमाशेको नहीं देखता, परन्तु यह आत्मप्रकाश सब तमाशेको देखता भी है और उसकी साची भी देता है, क्योंकि-यह चेतन है और यह प्रसिद्ध है, कि-जो किसी बातको देखता है वह उसका कर्त्ता नहीं, किन्तु साची (गवाह) होता है, और साची सदा विवादसे अलग होता है, किसी अदालतने गवाहको उस बादका कर्त्ता भोक्ता नहीं माना है।

(१५)–जब वह प्रकाश साची है मुद्दई या मुद्दायले नहीं है, तो उसके ऊपर अपराध भी नहीं आता, इसी लिये वह इस लोककी या परलोककी किसी बातमें बँधा हुआ नहीं है, किन्तु असङ्ग और स्वतन्त्र है, इसीलिये वेदान्तके ग्रंथोंमें आत्माको 'साची चेता केवलो निर्गुणश्च' कहा है।

(१६)–भारतवर्षमें रीति है, कि–जब कोई मरजाता है, तो स्त्रियें स्यापा करती हैं और नायन उस स्यापेसे अलग होकर उलाहनी बोलती है और सब स्यापा करने वाली स्त्रियें उसकी उलाहनीके अनुसार रोती पीटती हैं। इसप्रकार ही सब इन्द्रियें उस साक्षी आत्माके आधार पर बर्त्ताव करतीं हैं और स्वयं स्यापेकी नायन की समान इन्द्रियोंके वर्त्तावसे अलग रहता है शोकमग्न नहीं होता है।

(१७)–जबतक मनुष्य शरीर या इन्द्रियोंके भोगमें अहंभाव रखता है तबतक उसके फलमें बँधा रहता है और कर्त्ता भोक्ता कहलाता है और जब इस साक्षीको पहचान जाता है, इसको ही अपना स्वरूप समझता है तब असङ्ग होता हुआ द्रष्टा (तमाशाबी) बनजाता है और मुक्ति पाजाता है।

(१८)–कर्मेन्द्रियें तो स्वयं तमाशा है, क्योंकि–उन के जो २ काम ऊपर वर्णन किये गये हैं, उनको ही वे करती हैं, परन्तु जो उनकी कर्त्तव्यतामें अभिमान रखता है वह भी तमाशा होता है, परन्तु जो अपने आत्माको उनसे अलग मानता है वह स्वयं तमाशा नहीं होता, बल्कि तमाशा देखनेवाला होता है अपनी इन्द्रियोंके कर्मोंका साक्षी होकर रहता है, इसकारण वह अपनी करतूतोंका बदला भी नहीं पाता, क्योंकि गवाह या साक्षी मुद्दई मुद्दायले नहीं होता, बदला तो वही पाता है जो मुकद्दमा चलाता है।

(१९)–बस आओ भाइयों! तुमभी गवाह (साक्षी) बनो, विषयोंके सम्बन्धी न रहो। भीतरी और बाहरी

इन्द्रियाँ जो कुछ करें उसको देखो, यह देखनाही साधना का द्वार है इससे ही मुक्ति मिलती है। जो देखनेवाला (द्रष्टा) है वही सत्य है और जो दिखाई देते हैं (दृश्य हैं) ये न होनेकी समान मिथ्या हैं।

* तीसरा-अध्याय *

(१) आत्मप्रकाश सर्वथा असङ्ग है उन इन्द्रियोंसे जो कर्त्ता हैं, अलग है, तो भी जिसप्रकार दीपकका प्रकाश तमाशे पर चमक मारता है, हरएककी सूरतपर स्थित होकर उसके ही रूपका दिखाई देता है, इसप्रकार आत्मप्रकाश भी हरएक भीतरी बाहरी इन्द्रिय और विषयों पर चमक मारता हुआ उसके ही आकारका सा दिखाई देता है।

(२)-वास्तवमें यह आत्मप्रकाश अपना कोई आकार नहीं रखता, किन्तु निराकार निरवयव है, तो भी जिनपर प्रकाश डालता है उनके ही आकारको धारण करता हुआसा मालूम होता है, इसलिये साधारण बुद्धियोंमें उसका असली स्वरूप भासित नहीं होता। इससे इन्द्रियादिके स्वरूपका तो पता चलजाता है, परंतु आत्मप्रकाशका ज्ञान एकाएकी नहीं होता।

(३)-इस आत्मप्रकाशकी मिलावट ऐसी होती है, जैसे कि-साफ दूधमें एक लालड़ी डालदी जाय तो वह दूध भी लाल मालूम होता है, ऐसे ही आत्मप्रकाशमें मिलीहुई इन्द्रियादि भी जीवित और चेतन मालूम होते

हैं। यद्यपि जैसे वास्तवमें दूध श्वेत है उसमें लालड़ी रङ्गत नहीं आजाती है, इसप्रकार ही सब इन्द्रियें भौतिक पार्थिव हैं प्रकाशस्वरूप नहीं हैं परन्तु इस आत्म प्रकाशके सम्बन्धको पाकर चेतनसी दिखायी देती हैं, इस लिये इस प्रकाशके सम्बन्धवाला इसके ही रूपका होजाता है।

(४)-इन्द्रियें जो कार्यव्यवहार करती हैं, सूक्ष्म परन्तु दर्पणकी समान स्वच्छ भी हैं, इस कारणसे इनमें यह प्रकाश प्रतिबिम्ब (अक्स) की समान दिखाई देता है। पहले उसका प्रतिबिम्ब अन्तःकरण पर पड़ता है, और फिर जब अन्तःकरण विचाररूपमें परिणाम पाता हुआ मस्तिष्कमें पहुँचता है तो उसका दूसरा प्रतिबिम्ब मस्तिष्कमें पड़ता है और मस्तिष्कसे नसोंके द्वारा यह विचार आँख, नाक, कान, और मुखमें उतरता है तो तीसरी चमक वहाँ पड़ती है, फिर जब आँख, नाक, कान आदिसे विचार निकलता है तो जिस २ पर लगता है उसका आकार धारण करता हुआ उस २ वस्तुको प्रकाशित करता है, इस प्रकार यह मनुष्य देखता-कार्यव्यवहार करता है।

(५)-इसको दृष्टान्त यों समझो, कि-शरीर एक मन्दिर है और हृदयकमल उसमेंका आला (ताक) है और मानो उसमें एक कण्डील रक्खा है, जिसमें यह प्रकाश एक दीपककी समान चमकरहा है, मस्तिष्क छतकी समान है, जिसमें पांच छिद्र हैं और पांचों इन्द्रियें उन छिद्रोंमें मानो दूसरे शीशे लगाये हैं।

(६)—अन्तःकरणका शीशा एक ऐसा बदलनेवाला शरीर है, कि—जो हरसमय विचारके आकारमें उभार मारता रहता है। जिसप्रकार सूर्यमेंसे किरणें निकलती हैं, ऐसे ही अन्तःकरणमेंसे भी बराबर किरणें निकलती हैं और मस्तिष्कमेंको जाती हैं और आत्माका प्रतिबिंब उनमेंभी ऐसे ही पड़ता है, जैसे कि—अन्तःकरणमें पड़ता है और उन ही किरणोंको हम विचार नामसे कहते हैं और संस्कृतमें इसको अन्तःकरणकी वृत्तियें कहते हैं।

(७)—जब ये मनोवृत्तियें (मनके विचार) मस्तिष्क में जाते हैं, तो मस्तिष्कमें फैलती हुई उस प्रकाशसे मस्तिष्कको इसप्रकार प्रकाशित करदेती हैं, जिसप्रकार एक दीपक जिस२ जगह लेजाया जाय उसी२ जगहको प्रकाशित करदेता है फिर मस्तिष्कमेंसे नसोंके द्वारा ये वृत्तियें सब शरीरमें फैल जाती हैं और सब शरीर प्रकाशित होजाता है फिर जब उस मनकी कुछ किरणें पाँच गोलकोंमें जाती हैं, जहाँ कि—इन्द्रियोंके आइने लगे हुए हैं तो उनमें भी उस प्रकाशका प्रतिबिम्ब पड़ता है और उनको भी प्रकाशित करता है। इसको ही सर्वसाधारण जाग्रत् अवस्था कहते हैं।

(८)—फिर ज्यों२ इन्द्रियोंके द्वारा मनके विचार निकलकर पदार्थों पर लगते हुए उनका आकार धारण करते हैं, त्यों२ सब पदार्थ भी उसी प्रकाशसे प्रकाशित होते हुए दिखाई देते हैं। इसप्रकार यह प्रकाश मनके भीतर प्रतिबिम्बित होरहा है, इसकारण ही इसको भीतरी प्रकाश कहा करते हैं और फिर योग्यतानुसार

क्रम २ से सब संसारको प्रकाशित करता है तथा स
कार्यव्यवहारका कारण होता है।

(९)-क्योंकि-पहला प्रतिबिम्ब उस प्रकाशका म
या विचारमें पड़ता है, इसकारण उसके अनुभवके लि
मन या विचार ही नियत हुआ है। जिस प्रकार राहु
दर्शन चन्द्रमा या सूर्यमें होता है, इसप्रकार ही उस
दर्शन मन या विचारमें होता है, परन्तु हम लिख आ
हैं, कि-इसप्रकारका अपना वास्तविक कोई रूप नहीं
किन्तु जिसमें प्रतिबिम्बित होता है, उसके आकार
दिखाई देता है। इसकारण विचारमें विचारके आका
का मस्तिष्कमें मस्तिष्कके आकारका, इन्द्रियोंमें इन्द्रि
के आकारका अनुभव (मालूमात) में अनुभवके आका
का दिखायी देता है।

(१०)-इसप्रकारकी आलोचनासे मालूम होसकता
है, कि-विचार जिस२ के आकारको धारण करता है
उस२ ही आकारमें वह प्रकाश प्रकट होता है। जिस
प्रकार बाहरका प्रकाश भी जिसपर पड़ता है उसके
आकारका दिखायी देता है, जैसे कि- लालको प्रकाशि
करता हुआ लाल दिखाई देता है और कालेको प्रका
शित करता हुआ काला दिखाई देता है ऐसे ही य
भीतरी प्रकाश भी विचारमें विचारूप हुआ दीखता है

(११)-परन्तु जिस प्रकार बाहरका प्रकाश लालमें
लाल और कालेमें काला होकर दीखता है तो भी वह
लाल या काला नहीं होजाता है, किन्तु लाल और काले
से अलग अरूप (बेरङ्ग) रहता है। इसप्रकार ही आत्म-
प्रकाश भी विचारमें विचाररूप और इन्द्रियोंमें इन्द्रिय-

रूप होता हुआ भी, न तो विचार है और न इन्द्रिय है किन्तु इनसे अलग केवल प्रकाशरूप है।

(१२)-विवेकी पुरुष जानता है, कि-प्रकाशित करने वाला प्रकाशित होनेवालेसे पृथक् है। आत्मा तो प्रकाशित करता है और मन तथा इन्द्रियें प्रकाशित होती हैं इसलिए आत्मा क्या मन, क्या विचार, क्या इन्द्रियें क्या शरीर इन सबसे अलग और सबमें सर्वरूप है।

(१३)-जब वह सबमें सब कुछ है तो वह उनसे अलग करके किसी आकारमें भी नहीं दीखता, क्योंकि वह अपने स्वरूपमें असङ्ग निर्लेप केवल शुद्ध प्रकाश है। जिसप्रकार बाहरी प्रकाश भी लालमें लाल, कालेमें काला पीलेमें पीला दिखायी देता है, परन्तु वास्तवमें वह न लाल न काला और न पीला है, इसप्रकार ही आत्मा भी सबमें सब कुछ दिखायी देता है, परन्तु वास्तवमें सबसे अलग है भीतरी प्रकाशमात्र होता है।

(१४)-जिज्ञासुको चाहिये, कि-आत्मदर्शनके लिए पहले इन्द्रियोंको वशमें करे—विषयोंसे लौटाकर अपने विचारोंको भीतर देखता रहे। इस दशामें भाँति २ के विचार उठेंगे और विलीन होंगे। जो इन विचारोंके उठने को विलीन होनेको तथा इनके भेदोंको देखता है और प्रकाशित करता है वही आत्मप्रकाश है।

(१५)-इस दर्शनमें विचार शीशेकी समान होते हैं, जैसे देखने वालेके सामने एक शीशा रखदें और फिर उसको उठालें और दूसरा रखदें, फिर उसको भी उठा लें, तीसरा रखदें। ऐसे ही करते चले जायँ तो वह

है और यह भीतरी प्रकाश उसपर चमक मारता हुआ उसको प्रकाशित करता और देखता है।

(२१)–देखो जब कोई वस्तु हमारी आंखोंके सामने आती है तो हमारी मनोमयी किरणें आत्मप्रकाशकी किरणोंसे मिली हुई आँखोंसे बाहर निकलती हैं और उस वस्तु पर उसप्रकार ही जापड़ती हैं, जैसे, कि-उसके ऊपर सूर्यकी किरणें पड़ी हैं और फिर जिस भाँति सूर्यकी किरणें उस वस्तुके आकारको धारण करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं, इसप्रकार ही ज्ञानमें जो विचारका भाग है वह वस्तु के आकारको धारण करता है, और आत्मप्रकाश उसको प्रकाशित करता है,उसको ही ज्ञानी लोग देखना कहते हैं।

(२२)–परन्तु जब हम किसी वस्तुका ध्यान करते हैं तो विचार जो वास्तवमें मन है हमारे भीतर उसी वस्तु के आकारका बनजाता है और उसमें जो प्रकाश है उस को देखता है तो विवेकी यहाँ जानता है, कि-मनका भाग ज्ञानमेंसे अलग होकर वस्तुके आकारमें दीखरहा है और आत्मप्रकाश अलग होकर उसको देखरहा है, इस को संस्कृतमें साक्षी कहते हैं।

(२३)–जबकि-वृत्ति दिखाई देनेवाली वस्तुके आकार की है और आत्मा उसको देखनेवाला है इसलिये जिज्ञासु को चाहिये कि–इस विवेकको पानेके लिये पहले अपने विचारको किसी वस्तुके आकार पर ठहराकर जब वह वृत्ति उस वस्तुके तद्रूप होजाय तो फिर ध्यानमें जो दिखाई देता है और वह जो देखनेवाला है उन दोनोंके स्वरूपको समझे तो आत्मा इस रीतिसे बिजलीकी चमककी समान अनुभवमें आवेगा।

(२४)-फिर जब ऐसा अनुभव होनेलगे तो उसका अभ्यास करता रहे, परन्तु यह स्मरण रक्खे, कि-इस अभ्यासमें साक्षी दृश्य और ज्ञान विद्यमान हैं अर्थात् भीतरी या बाहरी किसी वस्तुका ध्यान किया जाय परन्तु त्रिपुटी (ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता) यह बनी रहती है। इस प्रकार कुछ समय तक अभ्यास करते २ वह ध्यानकी विषयीभूत वस्तु और उसका ज्ञान विलीन होना आरंभ होजायँगे, यहाँतक कि-निर्विकल्प समाधिकी दशा होने लगेगी। जिसमें, कि-किसी वृत्तिका उदय अस्त रहता ही नहीं, जिस दशामें अन्तःकरण चेष्टारहित होकर वे मालूम होजाता है। जिस दशामें आत्मप्रकाश ऐसे अङ्गारे की समान होजाता है, कि-जिसमें धुआं, लपट या चिनगारी आदि कुछ नहीं होता और ऐसी दशाका ज्ञान भी इस निर्विकल्प समाधिसे उठनेपर होता है. समाधिकी की दशामें नहीं होता। मुक्तिका प्राप्त होना भी इस निर्विकल्प समाधि पर ही निर्भर है। इस समाधिकी दशाको ही साक्षात् आत्मदर्शन कहते हैं और इस दर्शनसे ही कल्याण होता है।

(२५)-जानलो कि-जबतक विचार विद्यमान है तब तक इस आत्मप्रकाशके प्रकट होनेका स्थान है, चाहे वह किसी भी वस्तुका आकार बन गया हो, प्रकृतिने उसको ऐसा बनाया है, कि-वह हरएक वस्तुके आकार में बदलजाता है, परन्तु अभ्यास करते २ निर्विकल्प समाधिकी दशा उत्पन्न होजाती है, जिसमें किसी वस्तुका विचार नहीं रहता अर्थात् अन्तःकरणमें कोई चेष्टा नहीं होती। जैसे वायुकी चेष्टा बन्द होजाने पर पानी ठहरा

हुआ होजाता है या आगका अंगारा दहकता होता है इस निर्विकल्प समाधिकी दशा निस्पन्द और अकर्मण्य होती है। यद्यपि मनकी तरङ्गे उस समय बिल्कुल बन्द होजाती हैं, परन्तु मन उस समय लय नहीं होजाता सुषुप्तिकीसी दशामें होता है। अपनी सत्तामें होता है परन्तु निश्चेष्ट होता है।

(२६)-परन्तु जब यह बुद्धिगम्य विषयोंकी शिक्षा सूक्ष्म विषयोंकी आलोचनाके अभ्यासमें लगाया जाता और तपस्याके अनुष्ठानके द्वारा अभ्यस्त विषयोंकी आसक्तिसे छुड़ायाजाता है तब ज्ञानकाण्डके विचारका अधिकारी होता है और ज्ञानकाण्डमें आत्माका विचार होता है तब सङ्कल्प विकल्पशून्य निश्चेष्ट होने लगता है और और आत्मदर्शन पाता है।

(२७)-क्योंकि-जब वह निश्चेष्ट होता है तो उस समय भी उस आत्मप्रकाशके प्रकाशित होनेका पात्र रहता है, उसमें आत्मप्रकाशका साक्षीरूपसे दर्शन होता है, इसको ही समाधि कहते हैं।

(२८)-अब मालूम हुआ, कि—मन और आत्मप्रकाशका सम्बन्ध आपसमें प्रकाशित होनेका है। बिना आत्मप्रकाशके मन और बिना मनके आत्मप्रकाश प्रकट नहीं होता और मन तथा आत्मज्योति आपसमें प्रकाशित होकर ज्ञान कहलाता है। इसी कारणसे श्रुति प्रमाण देती हैं, कि—आत्मप्रकाश भौतिक प्रकाश नहीं है, किन्तु ज्ञानमय प्रकाश है, क्योंकि-ज्ञानमें उसको निवास माना है।

(२९)–और यह मन जो ज्ञानमें अन्धकारमय भाग है। वास्तवमें सब कार्यव्यवहारका कारण है, क्योंकि— हर एक वस्तुको जाननेमें भी यही मन कारण होता है, आत्मा तो अपने स्वरूपमें देखनेवाला साक्षीहै,जो आत्मा में किसी कारणसे एक होता है वही जाना जाता है। और यह हम लिखचुके हैं, कि–विचार–मन आत्माके प्रकाशका स्थान और आत्मा मनके प्रकाशित होनेके कारण है, इसलिये इन दोनोंका प्रकाशित होना परस्पर के आधार पर है। बस मन ही किसी कारणसे आत्म-दर्शनका बाधक है और मन ही दूसरे कारणसे आत्मदर्शन का कारण है "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो"

(३०)–जब यह मन किसी पदार्थके आकारका बनता है, तो वह पदार्थ भी मनमें उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होता है, जिसप्रकार आत्मा मनमें प्रतिबिम्बित है, और इस दशामें बिम्बरूप पदार्थ भी आत्माके साथ एक होता है और आत्मामें वह प्रत्यक्ष होता है, इसलियेभी मन साक्षात्कारका द्वार होता है।

(३१)–सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींदमें अन्तःकरण लह-राने नहीं पाता है या मन किसी आकारका नहीं बनता है या किसी वस्तु पर अधिकार नहीं करने पाता है,उस दशामें मन ही उसके साक्षात्कारका बाधक होता है। इसलिये मन ही वास्तवमें सब कार्यव्यवहारका साधक होता है और इन्द्रिय तो उसके आने जानेके द्वार हैं कि– जिनमेंको निकल कर वह खास २ कार्यव्यवहार करता है और मन ही इस आत्मप्रकाशके लहरमें लहराता हुआ ज्ञान कहलाता है।

(३२)-अब यों समझो, कि-ज्ञानमें जो निश्च[illegible] त्मिका वृत्ति वा विचारकी लहर उठती है वह तो मन[illegible] निजी काम है, परन्तु इसमें जो अनुभव होता है [illegible] आत्मप्रकाशका निजी काम है, तो भी मनके कार्य[illegible] द्वार आत्मामें और आत्माके अनुभव मनमें प्रका[illegible] होतेहैं। इसकारण ही अनजान मनुष्य आत्माको निश्च[illegible] और असङ्ग नहीं जानसकता, किन्तु मनके कार्यव्यव[illegible] को भ्रमवश आत्मामें मान बैठता है। इसका कारण[illegible] है, कि-जो२ कार्य मन करता है वे आत्मामें प्रतीत [illegible] हैं, जैसे कि-बादल चलते हैं तो चन्द्रमा चलता हु[illegible] दीखता है।

(३३)-इसीप्रकार मन, बुद्धि, इन्द्रियें और देह [illegible] चलते हैं, परन्तु आत्मा चलता हुआ सा दीखता है [illegible] आत्मा किसी विषयका सङ्कल्प करता है तो आत्मा स[illegible] ल्प करता हुआसा दिखाई देता है। जब मन किसी [illegible] ध्यान करता है तो आत्मा ध्यान करता हुआसा होजा[illegible] है। जब मन कुछ दूसरी लीला करता है तो आत्मा [illegible] वही लीला करता हुआ सा दिखाई देता है।

(३४)-इसी कारणसे श्रुति भगवती उपदेश दे[illegible] कि-वह मनमें प्रतिबिम्बित होकर मनोरूपसा हु[illegible] दोनों लोकोंकी सैर करता है, वास्तवमें तो सैर न[illegible] करता, परन्तु सैर करता हुआसा होजाता है, ध्यान [illegible] नहीं करता परन्तु ध्यान करता सा होजाता है, लीला [illegible] तो नहीं करता परन्तु लीला करता सा होजाता है।

(३५)-जब यह मन उठता है और इन्द्रियाँ [illegible] फैलता है और बाहरी पदार्थोंके आकारका होता है [illegible]

उस ही परमात्मामें जागनेका आरोप (व्यवहार) होता है और जब वही मन इन्द्रियोंतक न फैलकर इन्द्रियोंको निश्चेष्ट करता हुआ हृदयके भीतर स्वप्नका तमाशा करता है तो इसी आत्मामें स्वप्न (नींद) का आरोप (व्यवहार) होता है ।

(३६)-और जब यह मन इस शरीरसे सर्वथा संबन्ध छोड़ता है और पिता माताकी गोदमें बैठ कर इस मन्दिरमेंसे निकल जाता है, तो मृत्युका आरोप इसी परमात्मामें लगाता है और जब यह फिर किसी दूसरे शरीरमें संबन्ध पाता है तो जन्मका आरोप इस ही आत्मामें दिखाता है, इसलिये जागना, सोना, जन्मना और मरना आत्मामें आरोपित हैं, वास्तविक नहीं हैं।

(३७)-आश्चर्यकी बात है, कि-जब यह मन उठकर कुछ करता है और फिर उसी समय हटजाता है तो उस का संस्कार (तासीर) चित्तमें रहता है और उसी संस्कारके कारणसे वह दुसराकर उठता है और फिर संस्कार उत्पन्न करता है, इसप्रकार वह एक अद्भुत जञ्जीर बनालेता है, कि जिसके आदि अन्तका पता नहीं चलता, इसको ही पुण्य-पाप कहते हैं, क्यों कि-जब वह अच्छे विचार और अच्छे काम करता है तो चित्तमें अच्छेका संस्कार बैठता है और जब वह बुरे विचार करताहुआ बुरे काम करता है तो उसमें बुराईका संस्कार जमता है । इनमें पहले खोटे संस्कारका नाम पाप और दूसरे अच्छे संस्कारका नाम पुण्य है ।

(३८)-इसकारणसे पुण्य और पाप वास्तवमें मनके धर्म हैं। जाग्रत् और स्वप्नमें तथा जन्म और मरणमें

ये पाप पुण्य ही भोगके कारण हैं ।उत्तम जन्म और उत्तम भोग पुण्योंके कारणसे होते हैं और नीच जन्म तथा दुःखभोग पापोंके कारणसे होते हैं। वार २ जाग्रत और स्वप्न तथा जन्म और मरण इन ही कर्मोंके कारण से मनमें हुआ करते हैं परन्तु ये सब कार्यव्यवहार उस आत्मप्रकाशमें ही होते हैं और उसके ही अभिमान सेहोते हैं परन्तु मनके विचारसे अनजान मनुष्य अपने आत्मामें पुण्य पापका आरोप कर लेता है। वास्तवमें आत्मा तो असङ्ग है न तो पुण्य ही उसमें छूते हैं। और नपाप ही उसको मलिन करते हैं जैसे दीपक या सूर्यका प्रकाश क्या गङ्गाजल और क्या शौचालय सब जगह चांदनी करताहुआ उनको प्रकाशित करता है तो भी वह शौचालय पर चमक मारनेसे अपवित्र नहीं होता और गङ्गाजल पर चमकता हुआ पवित्र नहीं होता है।

(३९)–ऐसे ही जब अन्तःकरण पुण्य सञ्चय करता है तब सत्यकर्मी होता है और जब पापकर्म करता है तब पापी होता है, परन्तु भीतरी प्रकाश जो मनमें चमकता है वह न सत्कर्मोंसे सत्यकर्मी होता है और न कुकर्मोंसे पापी होता है, किन्तु वह तो अन्तःकरणको और पुण्य पापको और उनके आश्रयको प्रकाशित करता है तथा उनकी विचित्रताओंका साक्षी होता है, सदा ज्योंका त्यों निर्लेप रहता है। इसकारण ही वेदकी श्रुतियें उसको पवित्रात्मा कहती हैं।

(४०)–इस प्रकार वह सब ही गुणोंके लेपसे रहित पवित्र है, तोभी मनके कारणसे अनेकों गुण उपाधियों से उसमें कल्पित होते हैं। जिस प्रकार बिल्लौरके सफेद

गिलासमें जब लाल शराब भरदी जाती है तो वह भी लाल कल्पना कर लिया जाता है। इसप्रकार ही मनके पुण्य और पाप भी यद्यपि मन या अन्तःकरणमें होते हैं तो भी वे आत्मप्रकाशमें कल्पना करलिये जाते हैं। जिसप्रकार नासमझ बालक धोखा खाकर गिलासको लाल मानलेता है, इसप्रकार ही अज्ञानी मनुष्य भी भ्रमवश पुण्य और पापको अपने आत्मामें देखता है और मनसे मिलाहुआ जन्म और मरणके संस्कारको भी अपनेमें देखता है, यही बन्धन है।

(४१)-परन्तु विवेकी मनुष्य जानता है, कि-गिलासमें लाली वास्तवमें शराबका धर्म है, गिलासमें उसका कुछ भी सम्पर्क नहीं है, किन्तु वह तो अपने वास्तविक स्वरूपमें उस समय भी सफेद है इसप्रकार ही ज्ञानी जानता है, कि-क्या पाप और क्या पुण्य अन्तःकरण और मनके धर्म हैं, आत्माके नहीं हैं, आत्मा तो पवित्र असङ्ग और नित्यमुक्त है. बस हे भाइयों! हम भी अपराधियोंकी समान हैं परन्तु वास्तवमें निरपराध हैं। पुण्य कर्मोंसे ही मालूम होते हैं, परन्तु पुण्यकर्म करनेवाले नहीं हैं।

(४२)-क्या मन क्या विचार क्या पुण्य क्या पाप,सब अंधकार हैं और आत्मा एक प्रकाश है जो उनमें चमकता है परन्तु प्रकट है,कि-अंधकारका प्रकाशसे क्या सम्बन्ध। झूठका सत्यमें क्या साझा? परन्तु जैसे चिमगादड़की आँखोंको सूर्यमें अन्धेरा और दिनमें रात दीखती है, तिसी प्रकार अज्ञानी पुण्य और पापको अपने आपमें देखता है, यही अविद्या है और इसीके कारणसे वह

जन्म मरणकी कैदमें रहता है। परन्तु वह, क्या मन क्या विचार क्या इन्द्रियें, क्या शरीर क्या पुण्य और क्या पाप, सबसे अलग और इनका साक्षी आत्मप्रकाश अपने आपको देखता है और सत्यस्वरूपमें विराजता है और इस सत्य मार्ग पर आने पर ही वास्तविक मुक्ति मिलती है और वह स्वराज्य जो प्राजापतिका है और ज्ञानके द्वारा मिलता है, इसको यों ही प्राप्त होजाता है।

(४३)–इसका कारण यह है, कि–वह उस साक्षात्कारके कारणसे उस गलती वा अज्ञानको दूर करता है जो संसारका मूल है या सृष्टिका आदि कारण है जैसे कि–एक वृक्षकी जड़ उखाड़ दीजाय तो यद्यपि वह कुछ समय तक हरा रहता है, परन्तु अन्तको वह सूख ही जाता है इसी प्रकार साधक उस अज्ञानको जो भ्रमरूप है ज्ञानके द्वारा दूर करदेता है और वह चक्र जो कर्मकाण्डविद्यामें दिखायागया है, कल्पित ही है, वास्तविक नहीं है, भ्रान्तिवश है स्वरूपतः नहीं है, यह भ्रान्ति इस पवित्र आत्माको पहचाननेसे दूर होती है, कर्मसे नहीं जाती। कर्मसे तो पुण्य और पाप पैदा होते हैं, भ्रान्ति दूर नहीं होती। क्यों कि–कोठरीमें जो अंधेरा होता है किसी क्रियासे नहीं निकाला जासकता, परन्तु दीपकसे जरा देरमें उड़जाता है, इसीप्रकारका है, प्राकृतिक भ्रम भी एक प्रकारका अन्धकार है और जन्म मरणरूप संसार चक्र भ्रम वा अन्धकार ही है और वह किसी कर्म वा क्रियासे दूर नहीं होसकता चाहे वह सत्कर्म हो या असत्कर्म, किन्तु वह आत्मप्रकाशसे ही दूर होता है। आत्मा प्रकाश है, उसमें पुण्य और पापको देखना

नासमझी है और अविद्या है तथा ऐसा समझना ही संसार वा सृष्टिका कारण है। परन्तु इस असङ्ग आत्म-प्रकाशकी पहचान ज्ञान है, इससे ही वह भ्रम वा अविद्या दूर होती है। इसप्रकार वास्तविक मुक्ति आत्मज्ञानसे ही होती है।

(४४)-अब यों समझो, कि-जिस प्रकार एक देव-दत्तके भीतर अन्तःकरणमें यह भीतरी पवित्र प्रकाश प्रतिबिम्बित होकर चमक रहा है, इसी प्रकार दूसरे यज्ञदत्तके अन्तःकरणमें भी यह प्रतिबिम्ब चमक रहा है और जिस प्रकार यज्ञदत्तके मन, मस्तिष्क और इन्द्रियों को प्रकाशित करता है। इसी प्रकार देवदत्तके अवयवों को भी प्रकाशित करता है। और जिस प्रकार देवदत्त इसीके अभिमान और इसीकी चाँदनीमें अपने सब कार्य-व्यवहार करता है इसीप्रकार यज्ञदत्त भी इसीके अभि-मान और इसीके प्रकाशमें अपना कार्यव्यवहार करता है क्या यज्ञदत्त और क्या देवदत्त तथा क्या अन्य कोई सब प्राणियोंके भीतर एक यही दीपक प्रकाशित होरहा है और इसके प्रकाशमें ही उनके सब कार्यव्यवहार क्या व्यक्तिगत और क्या समष्टिगत होरहे हैं।

(४५)-यद्यपि यज्ञदत्त देवदत्त आदि सब मनुष्य कर्त्ता और भोक्ता बनेहुए अपने २ शरीर और इन्द्रियों के कारणसे अलग २ प्राण रखते हैं. परन्तु इस आत्म-प्रकाशमें सब एक हैं और यही सबका आत्मा है, और इतना ही नहीं, कि-केवल मनुष्योंके भीतर ही प्रतिबिंब होरहा हो, किन्तु पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि सबके

अन्तःकरणोंमें भी इसी प्रकार चमकता है, जिस प्रकार कि-मनुष्योंके भीतर चमकता है.इसी लिये आत्मा सब में एक है और सभी आपसमें एक हैं।

(४६)-यह गुमान नहीं करना चाहिये,कि-यह प्रकाश केवल पशु, पक्षी या मनुष्योंमें ही चमकता है किन्तु जिस प्रकार इनके भीतर चमकता है इसी प्रकार देवता और पितरोंके अन्तकरणोंमें भी चमकता है और उनके सकल निवासियोंके अपने दिव्य (आसमानी) कार्य-व्यवहार और तहाँके भोग इस प्रकाशमें ही होते हैं। इस लिये क्या पार्थिव और क्या दिव्य (क्या खाकी और क्या नूरानी) सब इसमें एक हैं।

(४७)-अधिक क्या लिखें, प्रजापतिके अन्तःकरणमें भी यही प्रकाश इसी प्रकार चमक रहा है, इसी प्रकार उसकी इन्द्रियोंको और उसके लोकको भी प्रकाशित करता है जैसे कि-मनुष्यके अन्तःकरण, मन मस्तिष्क और, इन्द्रियोंको प्रकाशित करता है और जिस प्रकार मनुष्यके कार्यव्यवहार इसी दीपकके प्रकाशमें होते हैं। ऐसे ही प्रजापतिके कार्यव्यवहार भी इसी दीपकके प्रकाशमें होते हैं। जो मनुष्यका आत्मप्रकाश है वही प्रजापतिका आत्मप्रकाश है। जो मनुष्यादि प्राणियोंका आत्मा है वही प्रजापतिका आत्मा है,इसकी ही पहचान में साधक निश्चय कर सकता है, कि-मैं और प्रजापति एक हैं।

(४८)-यह गुमान नहीं करना चाहिये, कि-यदि यज्ञदत्त और देवदत्तका आत्मा एक है तो यज्ञदत्तके अनुभव (मालूमात) देवदत्तके अनुभव क्यों नहीं होते

और यज्ञदत्तके दुःख सुख देवदत्तके दुःख सुख क्यों नहीं होजाते ? प्रत्युत हम सिद्ध कर आये हैं कि—यह पवित्र प्रकाश ज्ञानस्वरूप है दुःखसुखका अनुभव तथा दूसरे विषयोंके अनुभव मनकी चेष्टा है, मनमें होतेहुए औपाधिकरूपसे इसमें भी कल्पना करलिये जाते हैं जिस२ मन विचारमें ये सब अनुभव होते हैं, उसी उसी विचार और मनमें उन्हें यह प्रकाशित करदेता है। स्वयं उनसे सम्पर्क नहीं पाता, किन्तु यज्ञदत्तके अनुभव जो यज्ञदत्तके मन के नक्स हैं उनको उसके ही मन प्रकाशित करता है, देवदत्तके मनमें उनका प्रकाश नहीं करता तथा देवदत्तके अनुभव जो कि देवदत्तके मनके नक्स हैं, उनको उसके ही मनमें प्रकाशित करता है, यज्ञदत्तके मनमें नहीं।

(४९) देखो जब यज्ञदत्त और देवदत्त एक कमरेमें दीपक बालकर अलग २ पुस्तकोंको पढ़ते हैं तो जो एक दीपक देवदत्तके पुस्तकको प्रकाशित करता हुआ देवदत्तको समझनेमें सहायता देता है परन्तु यज्ञदत्तको नहीं और वही दीपक यज्ञदत्तकी पुस्तकको प्रकाशित करता हुआ यज्ञदत्तको समझनेमें सहायता देता है परन्तु देवदत्तको नहीं इसीप्रकार देवदत्तके अनुभवोंको जो देवदत्तके मनमें होते हैं उनको उसका ही अहङ्कार जान पाता है यज्ञदत्तका नहीं और यज्ञदत्तके अनुभवको जो यज्ञदत्तके मनमें होते उनको उसका ही अहंकार जान पाता है देवदत्तका नहीं यद्यपि दोनोंके अनुभव और उनका जानना एक आत्मप्रकाशमें होता है।

(५०)—इसीप्रकार प्रजापतिकी जानकारियें (दानिस्तें) और हिकमतें मनुष्यकी जानकारी और हिकमतें नहीं

होजातीं, यद्यपि वह भी इसी आत्मप्रकाशमें स्वरूप लाभ करती हैं। परन्तु मनुष्यकी जानकारियें प्रजापतिकी जानकारियें होजाती हैं। इसका कारण यह है, कि-प्रजापतिका अन्तःकरण मनुष्योंके अन्तःकरणोंसे बल्कि सब ही भूतोंके अन्तःकरणोंसे सम्बन्ध रखता है, जो सम्बन्ध कि-उनका अन्तःकरण उनकी इन्द्रियोंसे रखता है। जिस प्रकार आँखका देखना कानका देखना नहीं होजाता और कानका सुनना आँखका सुनना नहीं होजाता, तो भी आँखका देखना और कानका सुनना मनका देखना और सुनना होजाता है। इसीप्रकार ही देवदत्तका जानना यज्ञदत्तका जानना नहीं होजाता और यज्ञदत्तका जानना देवदत्तका जानना नहीं होजाता, परन्तु क्या यज्ञदत्त तथा क्या देवदत्त अन्य कोई, सबका जानना प्रजापतिका जानना होजाता है।

(५१)-जिसप्रकार आंखका देखना, कानका सुनना और मनका उस सबको जानलेना एक ही प्रकाशके द्वारा होता है और वह प्रकाश उनसे असङ्ग रहता है। इसी प्रकार देवदत्त और यज्ञदत्तका जानना प्रजापतिका जानना इसी प्रकाशके द्वारा होता है, तो भी यह प्रकाश प्रजापति की जानकारीसे असङ्ग-निर्लेप रहता है, बल्कि उसका भी साक्षी या गवाह उसी भाँति रहता है, जिसप्रकार मनुष्य के कर्त्तव्योंका साक्षी रहता है।

(५२)-जिस भांति आंखका देखना और कानका सुनना और उनकी देखी सुनी बातोंको अन्तःकरणका जानलेना सब इस ही आत्मप्रकाशमें कल्पित या आरोपित होता है इसीभांति प्रजापतिके कर्त्तव्यों और जान-

कारियोंका भी इसमें आरोपण होता है, उनमें यह अपराधी या बद्ध नहीं होजाता है, इसकारण ही आत्मा सर्वथा स्वतन्त्र असङ्ग और नित्यमुक्त स्वरूप सिद्ध होता है।

(५३)-वास्तवमें अपने स्वरूपसे आत्मा सर्वथा स्वतन्त्र निर्लेप और असङ्ग है तो भी क्योंकि-वह अन्तः-करणोंमें विचारोंमें तथा इन्द्रियोंमें चमकता है और उन को प्रकाशित करता है, वे भी अपनी कामनाओंसे इस को अपराधी-मलिन करते हैं,इसभांति पारस्परिक वर्ताव के कारणसे उनके कार्यव्यवहार आत्मामें कल्पित होते हैं और आत्माका प्रकाश उनमें कल्पित होता है। विचारा अज्ञानी इस तत्त्वको न जानता हुआ आत्माको अन्तः-करणों विचारों अर इन्द्रियोंसे जुदा नहीं करसकता इस इसलिये उसको देखता हुआ भी नहीं देखता,उसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता और उसे जानता हुआ भी नहीं जानता।

(५४)-अब यों समझो, कि-उस प्रकाश (ज्योति) में एक आदि भेद (परदा) रहता है, जो अन्धकारमय है जब उसमेंसे बहुत होनेके संकल्प (एकोऽहं बहु स्याम्) उठते हैं तो एक संसार दिखाई देता है। सब जगत्, क्या लोक, क्या परलोक उसकी ही झलक है, यद्यपि ये झलकें अनन्त हैं तो भी समष्टिरूपमें तीन हैं, एक तो वह कि-जो इसको ढकलेता है और जिसके कारणसे यह प्रकाश छुपा रहता है। दूसरा वह परदा है, कि-जिसमें यह छुपा हुआ भी दीखता है और तीसरा वह परदा है, कि-जिसके कारणसे वह कुछका कुछ होकर

दिखाई देता है। ढक लेनेवाले परदेका नाम तमोगुण है जो परदा छुपेहुये आत्मनिधिको प्रकट करता है उसका नाम सत्त्वगुण है और जो परदा कुछका कुछ करके दिखाता है उसको रजोगुण कहते हैं। इन तीन गुणोंको अव्यक्तदशामें प्रकृति या ईश्वरी माया कहते हैं और इसके कारणसे ही वह परमात्मा मायापति कहलाता है

(५५)-जब कभी हरएकके कर्म हरएकको भोग देनेके लिये तयार होते हैं तो उस प्रकृतिमें चेष्टा (हरकत) होती है और उन गुणोंकी छांट होती हैं। जब सत्त्वगुणकी पूर्ण छांट होती है तो उसको ही हम विद्या कहते हैं, परन्तु मलिन सत्त्वगुणको अविद्या कहते हैं, सत्त्वगुणमें, वह छिपा हुआ प्रकाश प्रतिबिम्बके रूपमें प्रकट होता है, वही विद्यामें पड़नेवाली उसकी चमक है, इसके ही कारणसे विद्यामें जो अभिमान होता है, उसको ईश्वर कहते हैं और जो चमक अविद्यामें पड़ती है और उसके कारणसे अविद्यामें जो अभिमान होता है उसको जीव कहते हैं।

(५६)-क्योंकि-विद्या वास्तवमें ज्ञानमयी है और उस गुणसे जो ज्ञानको ढकलेता है वह बिल्कुल स्वच्छ है और उस आत्मप्रकाशका द्वार है, इसलिये ईश्वर नित्यमुक्त है और सर्वज्ञ भी है। जो कुछ चाहता है करसकता है क्योंकि- वह स्वतन्त्र है।

(५७)-परन्तु अविद्या वास्तवमें मलिनशक्ति है क्योंकि-तमोगुण से पूरी २ साफ नहीं होती है, इसलिये वह उस आत्मप्रकाशसे संबंध नहीं रखती, इसलिये जीव अविद्याके बन्धनमें पड़ाहुआ उलटा पुलटा उसके ही

विचारमें उलझा रहता है, इससे वह अपने स्वरूपमें न रहकर परतन्त्र बना रहता है, बस वह उतना ही कर-सकता है, कि-जो कुछ उसके कर्म उसको भोग देनेके लिये तयार होते हैं, इसलिये परतन्त्रता और अज्ञानके बन्धनमें फँसाहुआसा होता है।

(५८)-और यह प्रकट है, कि-ठीक २ (पूर्ण) छाँट एक होती है और अपूर्ण छाँट अनेकों होती हैं, इसलिये ईश्वर एक और जीव अनेक। परन्तु अविद्या जो जीव-भावको प्रकट करती है, वास्तवमें मन और इन्द्रियोंकी मूल है और परिछिन्न मन तथा इन्द्रियोंके जो कार्य व्यवहार हैं वे जीवमें कल्पित हैं और अन्तःकरणसे जिस का बीज अविद्या है उसके कर्मोंके भोगके लिये उसको संसारचक्रका बन्धन होता है। वह जैसा करता है वैसा पाता है यही नियम है, जिसका वर्णन कर्मकाण्डविद्यामें करचुके हैं।

(५९)-कर्म या तो शुभ होते हैं या अशुभ। शुभ-कर्मोंके फलसे वह देवयान और पितृयान मार्गोंके द्वारा ऊपरके लोकोंमें जाता है और वहाँके भोग पाता है। जब ये कर्म समाप्त होते हैं तो फिर लौट आता है। इसीप्रकार कभी ऊपर कभी नीचे चक्कर लगाता है, इसको ही जन्म मरण वा आवागमन और संसारचक्र कहते हैं।

(६०)-परन्तु कर्मोंके कारणसे वह परदा जो अविद्यामें पड़ाहुआ है दूर नहीं होता, क्योंकि-अविद्या तो विद्यासे ही दूर होती है, जबतक जीव विद्या नहीं पाता कर्मकांड विद्यामें वह चाहे जितनी उन्नति कर लेय, उससे अविद्या

दूर नहीं होसकती इसलिये मुक्तिको चाहनेवाले आत्म-ज्योतिकी पहचानमें लगते हैं आत्मस्वरूपका ज्ञान होनेपर ही विद्या मिलती है उससे अविद्या दूर होजाती है मन तथा इंद्रियोंकी बीजरूप अविद्याके दूर होजाने पर मरणके अनन्तर उसके सब कार्य दूर होजाते हैं और वह विद्या ईश्वरका प्रकाश करनेवाली है इसलिये वह ईश्वरसे एक होजाता है और उसको इस सम्बन्धसे ऊपरके लोकों का सब राज्य मुफ्तमें ही मिलजाता है ।

(६१)-तात्पर्य यह है, कि-पवित्र प्रकाशरूप आत्मा सर्वथा सबसे अलग, सर्वरूप और असङ्ग है । अन्तःकरण के सम्बन्धसे ध्यान करता हुआसा और लीला करताहुआ सा प्रतीत होता है, परन्तु वास्तवमें न तो वह ध्यान ही करता है और न लीला ही करता है । जब अन्तःकरण स्वप्नावस्थामें बदलता है तो सोताहुआसा, और जब जाग्रत अवस्थामें बदलता है तो जागताहुआसा होजाता है ।

(६२)-जब यह अन्तःकरण शरीरसे सम्बन्ध छोड़ देता है तब यह मरताहुआसा दिखाई देता है, जब यह दूसरे शरीरसे सम्बन्ध जोड़लेता है तब यही जन्मतासा मालूम होता है, वास्तवमें यह जीव न मरता है, न जन्मता है, सब भेद इसके ही हैं और इसमें ही कार्यव्यवहार करते हैं और सब भ्रमसे उत्पन्न और संकल्पसे होते हैं। और उन ही कर्मोंके भोगके लिये यहअन्तःकरण प्राणोंके तारसे बँधा हुआ हृदयकमलमें कैद है, जो पहले जन्मसे उसके पापोंकी जञ्जीररूप हैं।

(६३)-जब कि-कर्मोंकी जञ्जीरसे प्राणोंके तारके कारण यह अन्तःकरण हृदयकमलमें बँधाहुआ है, और

उस आत्मज्योतिका प्रकाशक है, उसके विश्वाससे (साथ से) आत्मप्रकाश स्वतन्त्र होकर भी हृदयकमलमें कैद हुआसा प्रतीत होता है। यह पहचान ही वास्तवमें भेद की पहचान है और इसको पानेका स्थान भी यही अन्तःकरण है।

❀ चौथा-अध्याय ❀

(१) हमने जो कुछ ऊपरके परिच्छेदोंमें लिखा है वह हमारी निजी कल्पना नहीं है ऋषि मुनियोंके आत्मिक के विचारसे ऐसा ही निश्चय हुआ है। स्वयंज्योति ब्राह्मण में हम सुनते हैं, कि-एक दिन याज्ञवल्क्य मुनि योंही राजा जनकके यहां जा निकले तो राजाने बूझा, कि-हे याज्ञवल्क्यजी! मनुष्यकी ज्योति (प्रकाश-नूर) क्या है? उन्होंने उन्होंने उत्तर दिया, कि-हे राजन्! सूर्य इसकी ज्योति है क्योंकि-इसके प्रकाशमें ही यह प्राणी उठता है, बाज़ार जाता है, अपना कारोबार करता है और फिर लौटकर आजाता है तथा यह सूर्य उससे और उसके कार्य व्यवहारसे अलग असङ्ग रहता है।

(२)- राजा जनकने फिर कहा, कि-जब सूर्य अस्त होजाता है तो उसका प्रकाशक कौन होता है? मुनिने उत्तर दिया, कि-हे राजन्! उस समय उसकी ज्योति चन्द्रमा होता है, क्योंकि-चन्द्रमाके प्रकाशमें यह उठता है, बाज़ार जाता है, और काम काज करके लौट आता है। यह चन्द्रमा उससे और उसके कार्यव्यवहारसे अलग और असङ्ग रहता है।

(३)-राजाने फिर बूझा, कि-जिस समय सूर्य और चन्द्रमा दोनों अस्त हुए होते हैं तब उसका प्रकाशक कौन होता है ? मुनिने कहा हे राजन् ! उस समय दीपक उसका प्रकाशक होता है, क्योंकि-उस समय दीपकी रोशनीमें यह अपना कार्यव्यवहार करलेता है तथा दीपक उससे और उसके कार्यव्यवहारसे असङ्ग रहता है।

(४)-राजाने फिर बूझा, कि-जब सूर्य चन्द्रमा अस्त हुए होते हैं और दीपक भी बुझादिया जाता है उस समय उसका प्रकाशक क्या होता है ? मुनिने उत्तर दिया, कि हे राजन् ! उस समय वाणीरूप प्रकाशकी सहायतासे यह अपना काम करता है। और यह वाणी उसके कार्यव्यवहारसे अलग असङ्ग रहती है। देखो जहां कहीं ऐसा अन्धकार हो, कि-जिसमें किसीका हाथ तक न दीखे तो जिधरका शब्द सुनता है उधरको ही चलाजाता है।

(५)-राजाने फिर बूझा, कि—जब सूर्य चन्द्रमा अस्त होगए हों, दीपक भी न हो और कोई शब्द भी सुनाई न आवे उस समय प्राणीका प्रकाश क्या होता है ? और यह प्रकट है, कि-जब यह प्राणी स्वप्नमें होता है, तब शब्द भी नहीं सुनता। मुनिने कहा, कि-हे राजन् ! उस समय यह आत्मप्रकाशकी सहायतासे कार्य व्यवहार करता है,और यह आत्मा उसके कार्य वयवहारसे अलग तथा असङ्ग रहता है, और यह प्रकट है कि-मनुष्य स्वप्न में भी उसी प्रकार काम काज करता है, जिस प्रकार जागतेमें किया करता है।

(६)-हे राजन् ! सूर्य चन्द्रमा दीपक और शब्द उस के बाहरी प्रकाश हैं, और यह आत्मा उसकी भीतरी

ज्योति है, जिस प्रकार वह बाहरके काम काज बाहरी प्रकाशकी सहायतासे करता है, इसी प्रकार भीतरका कार्यव्यवहार उस भीतरी ज्योतिमें करता है बल्कि बाहर का कार्य व्यवहार भी उस भीतरी ज्योतिकी सहायता के बिना नहीं होता। बाहरी प्रकाश केवल उसके द्वार हैं। जिस प्रकार बाहरकी ज्योतियें प्राणियोंसे अलग हैं और उनके कार्यव्यवहारसे कुछ सम्बन्ध नहीं रखती ऐसे ही आत्मप्रकाश भी प्राणीसे अलग है और उसके कार्यव्यवहारसे कुछ सम्बन्ध नहीं रखता।

(७)-राजाने बूझा कि-हे महाराज! बुद्धि आदि बहुत से पदार्थोंमें आत्मा कौनसा है? मुनिने उत्तर दिया कि-यह जो ज्ञानमें प्रकाश बुद्धि इन्द्रियें और अन्तःकरणमें चमकता है वह ही अन्तर्ज्योति पुरुष है और अन्तःकरण में इसप्रकार पहुँचाहुआ है जिस भाँति दर्पणमें मुख पहुँच जाता है। यद्यपि मुख दर्पणके भीतर कहा जाता है परन्तु वास्तव उसके भीतर नहीं होता बल्कि दर्पणके भीतर चमक जाता है और फिर बुद्धि इन्द्रियें आदि दर्पणोंमें क्रमसे आजाता है।

(८) मुनिने फिर आप ही कहा कि—जिसप्रकार दर्पणके हिलनेसे मुख भी हिलता हुआ सा दिखाई देता है परन्तु वास्तवमें हिलता नहीं है, इसी प्रकार बुद्धिकी चेष्टासे यह ज्योति-पुरुष भी चेष्टा करता हुआसा दिखाई देता है,परन्तु चेष्टा नहीं करता है। बुद्धिकी चेष्टायें सोच विचार रूप हैं (संकल्प विकल्प रूप हैं) इसलिये आत्मा संकल्प विकल्प करताहुआसा होजाता है परन्तु संकल्प विकल्प नहीं करता, ध्यान करता हुआ सा मालूम होता

है परन्तु ध्यान नहीं करता, लीला करता हुआसा मालूम होता है परंतु लीला नहीं करता, बल्कि सब चेष्टायें और विचार मनके धर्म हैं परन्तु सब आत्मज्योतिमें हैं।

(९)-हे राजन् समष्टि (मजमूई) मनकी चेष्टायें दो प्रकारकी हैं। या तो वह हृदयमेंसे फैलता हुआ मस्तिष्क (दिमाग) और इन्द्रियोंमें आजाता है उस दशाको सब लोग जाग्रत् अवस्था (जाग जाना) कहते हैं। समेटा हुआ इन्द्रियों और मस्तिष्कसे लौटकर हृदयके भीतर जहां वह अपना मूलस्थान रखता है चलाजाता है, उस को नींद कहते हैं। यह जागना और नींद वास्तवमें मन के धर्म हैं परन्तु ज्योति-पुरुष न तो फैलता है और न सिमटता है तो भी बुद्धिसे सम्बन्ध होनेके कारण जागने और सोनेवाला मान लिया जाता है।

(१०)-जब बुद्धि या मन जाग्रत् अवस्थामें बदलता है तो ऐसा भान होता है कि-मैं जागता हूँ, और जब नींदकी हालतमें बदलता है, तो यह भान प्रबल होजाता है कि-मैं सोता हूँ, इसभांति वह ज्योति पुरुष मनके समान हुआ जागता सोता सा प्रतीत होता है वास्तव में न वह जागता है न सोता है, बल्कि योंही सङ्कल्पके कारणसे उसमें यह दशायें बनावटी होती रहती हैं।

(११)—हे राजन्! यह मन पञ्चभूतोंके सत गुणी अंशोंसे बनाया गया है और अपने कर्मोंके भोगके लिये हृदयकमलमें कैद होरहा है। जब जाग्रत्के भोग देने के लिये इसके कर्म होते हैं तो यह जाग्रत्की दशामें बदलजाता है और जब स्वप्नके भोग देनेको तयार होते हैं तो निद्राकी दशामें बदलजाता है, जब तक वह कर्म

समाप्त नहीं होते हैं तब तक इस शरीरसे सम्बन्ध रखता है यह आत्मज्योति यद्यपि वास्तवमें कर्मोंकी कैदसे और शरीरके सम्बन्धसे रहित-शुद्ध है, तो भी उनकी कैद और उनके भोग इसमें मान लिये जाते हैं।

(१२) जब यह कर्म समाप्त होते हैं और दूसरे कर्म भोग देनेको तयार होते हैं तो यह मन इस शरीरसे जो उन दूसरे कर्मोंने बनाया है सम्बन्ध पाजाता है। इसप्रकार यह ज्योति पुरुष मनके साथमें होकर दोनों लोकोंमें शैर करता है परन्तु वास्तवमें शैर करनेवाला नहीं है।

(१३) हे राजन्! अब यों समझो कि-मनुष्य क्या प्रकट और क्या अप्रकट जो शरीर मन और इन्द्रियें हैं और सब कर्मोंके बनेहुए हैं वे कर्म वास्तवमें पाप हैं इस कारणसे वे भी जो इससें बनाये गये हैं पापरूप हैं और यह आत्मा उनसे असङ्ग होता हुआ भी मनसे सम्बन्ध पाने पर शरीरसे सम्बन्ध पाकर जन्म लेने वालासा प्रतीत होता है और पापोंसे लगाहुआ सा दिखाई देता है और जब मराहुआ सा होकर उनको छोड़ता है तो छोड़ने वाला सा दिखाई देता है।

(१४) इसलिए इस ज्योतिपुरुषके दो स्थान होते हैं एक यह लोक और दूसरा परलोक। इस पापरूप शरीर में जबतक सम्बन्धसा पाए हुए रहता है तब तक इस लोकमें माना जाता है और जब इन पापोंको छोड़ देता है तो पुण्यरूप परलोकके शरीरसे सम्बन्ध पाकर परलोकवासी मान लिया जाता है परन्तु स्वप्न इन दोनों

से अलग तीसरा स्थान है तहाँ आने पर मनुष्य दोनों स्थानोंको देखता है।

(१५) स्वप्नका लोक दोनों लोकोंके बीचका परदा है इसका कारण यह है कि–यहाँ मनुष्य प्रायः जाग्रत अवस्थाके देखे सुने पदार्थोंसे ऐसा लोक देखता है, कि-जो यहाँ देख लिया है।

(१६) जब कभी इसके कर्म दूसरे भोगके लिये तयार होते हैं तब वे प्रायः भविष्यत् वाणीके रूपसे उनका चित्र दिखाते हैं। इसी कारणसे कभी २ स्वप्नमें अद्भुत घटनाएँ दीखती हैं जो इस लोकोंमें देखी हुई या सुनी हुई नहीं होती हैं। इस लिए जब यह मनुष्य इस लोकसे जानेको तयार होता है उन्हीं बातोंको लेकर स्वप्नमें दोनों लोकोंकी झाँकी करता है, जो कि–पाप-रूप और आनन्दरूप हैं और यही झाँकी दोनों लोकोंके होनेका पक्का प्रमाण है।

(१७)–परन्तु जब गर्क नींदमें जाता है तो दोनों स्थानोंसे निकल जाता है। बल्कि सबको छोड़ताहुआ भी सबके संस्कार साथ लेजाता है और दूसरोंमें अभि-मानको छोड़कर अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित होता है और उन संस्कारोंको धरोहड़ रखनेवालेकी समान देखताहुआ भी उससे अलग देखनेवाला (द्रष्टा) रहता है, यहाँ यह स्वयंज्योति होता है।

(१८)–देखो वहाँ न तो गाड़ियें होती हैं, न गाड़ि-योंके घोड़े और न उनकी सड़कें होती हैं। परन्तु गाड़ी घोड़े और उनकी सड़कोंके। झट पट उन्हीं संस्कारोंसे रचलेता है। न वहाँ शोक होता है, न राग, न द्वेष,

परन्तु शोक और रागद्वेषको भी रचलेता है। न वहाँ। बगीचा न बगीचेमें चलती नहरें और न कोठियाँ होती हैं परन्तु बागीचे,उनमें चलती हुई नहरें और कोठियोंको रचलेता है। वहाँ। यही कर्त्तासा होता है।

(१९)-परन्तु वहाँ भी इस कर्त्तापनका लगाव उन ही संस्कारोंके कारणसे होता है। क्यों कि-घोर नींदमें उसका स्वरूप संस्कारोंसे अलग देखनेवाला सिद्ध होता है, इसलिये वह कर्त्ता होकर भी नहीं करता है, क्यों कि-जो धर्म निजी नहीं होते हैं वे ही वस्त्रोंकी तरह उतरजाते हैं परन्तु जो निजी धर्म होता है वह कभी दूर नहीं होता क्यों कि-सब करतूतें दोनों स्थानोंमें जुदी २ होती हैं और गहरी नींदमें वस्त्रोंकी समान उतरजाती हैं, इसलिये वे सब अनात्मा हैं।

(२०)-मगर ध्यान रखना, उसका प्रकाशस्वरूप न तो दोनों स्थानोंमें भिन्न २ प्रकारका होता है और न वस्त्रोंकी तरह उस परसे उतरता है, किन्तु वही गहरी नींदमें साक्षीरूपसे रहता है,यदि वह भी उतरजाता तो गहरी नींदकी साक्षी कौन देता इससे सिद्ध होता है, कि-उसका स्वरूप प्रकाश-अकर्त्ता-अभोक्ता है और वही आत्मा है।

(२१)-हे राजन्! जो धर्म धर्मीसे कभी भी अलग न हो वही उसका स्वरूप है। देखो दीपककी रोशनी दीपकसे कभी उतारी नहीं जासकती, इसलिये दीपकमें प्रकाश कहलाता है। आत्माका प्रकाश भी न जाग्रत्में न स्वप्नमें और न सुषुप्ति अवस्थामें उतरता है इसलिये

से अलग तीसरा स्थान है तहाँ आने पर मनुष्य दोनों स्थानोंको देखता है।

(१५) स्वप्नका लोक दोनों लोकोंके बीचका परदा है इसका कारण यह है कि—यहाँ मनुष्य प्रायः जाग्रत् अवस्थाके देखे सुने पदार्थोंसे ऐसा लोक देखता है, कि-जो यहाँ देख लिया है।

(१६) जब कभी इसके कर्म दूसरे भोगके लिये तयार होते हैं तब वे प्रायः भविष्यत् वाणीके रूपसे उनका चित्र दिखाते हैं। इसी कारणसे कभी २ स्वप्नमें अद्भुत घटनाएँ दीखती हैं जो इस लोकोंमें देखी हुई या सुनी हुई नहीं होती हैं। इस लिए जब यह मनुष्य इस लोकसे जानेको तयार होता है उन्हीं बातोंको लेकर स्वप्नमें दोनों लोकोंकी झाँकी करता है, जो कि—पापरूप और आनन्दरूप हैं और यही झाँकी दोनों लोकोंके होनेका पक्का प्रमाण है।

(१७)—परन्तु जब गर्क नींदमें जाता है तो दोनों स्थानोंसे निकल जाता है। बल्कि सबको छोड़ताहुआ भी सबके संस्कार साथ लेजाता है और दूसरोंमें अभिमानको छोड़कर अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित होता है और उन संस्कारोंको धरोहड़ रखनेवालेकी समान देखताहुआ भी उससे अलग देखनेवाला (द्रष्टा) रहता है, यहाँ यह स्वयंज्योति होता है।

(१८)—देखो वहाँ न तो गाड़ियें होती हैं, न गाड़ियोंके घोड़े और न उनकी सड़कें होती हैं। परन्तु गाड़ी घोड़े और उनकी सड़कोंको झट पट उन्हीं संस्कारोंसे रचलेता है। न वहाँ शोक होता है, न राग, न द्वेष,

परन्तु शोक और रागद्वेषको भी रचलेता है। न वहाँ। बगीचा न बगीचेमें चलती नहरें और न कोठियाँ होती हैं परन्तु बागीचे,उनमें चलती हुई नहरें और कोठियोंको रचलेता है। वहाँ। यही कर्त्तासा होता है।

(१९)-परन्तु वहाँ भी इस कर्त्तापनका लगाव उन ही संस्कारोंके कारणसे होता है। क्यों कि-घोर नींदमें उसका स्वरूप संस्कारोंसे अलग देखनेवाला सिद्ध होता है, इसलिये वह कर्त्ता होकर भी नहीं करता है, क्यों कि-जो धर्म निजी नहीं होते हैं वे ही वस्त्रोंकी तरह उतरजाते हैं परन्तु जो निजी धर्म होता है वह कभी दूर नहीं होता क्यों कि-सब करतूतें दोनों स्थानोंमें जुदी २ होती हैं और गहरी नींदमें वस्त्रोंकी समान उतरजाती हैं, इसलिये वे सब अनात्मा हैं।

(२०)-मगर ध्यान रखना, उसका प्रकाशस्वरूप न तो दोनों स्थानोंमें भिन्न २ प्रकारका होता है और न वस्त्रोंकी तरह उस परसे उतरता है, किन्तु वही गहरी नींदमें साक्षीरूपसे रहता है,यदि वह भी उतरजाता तो गहरी नींदकी साक्षी कौन देता इससे सिद्ध होता है, कि-उसका स्वरूप प्रकाश-अकर्त्ता-अभोक्ता है और वही आत्मा है।

(२१)-हे राजन्! जो धर्म धर्मीसे कभी भी अलग न हो वही उसका स्वरूप है। देखो दीपककी रोशनी दीपकसे कभी उतारी नहीं जासकती, इसलिये दीपकमें प्रकाश कहलाता है। आत्माका प्रकाश भी न जाग्रत्में न स्वप्नमें और न सुषुप्ति अवस्थामें उतरता है इसलिये

हम कहसकते हैं,कि–आत्मा प्रकाशरूप, साक्षीरूप और असङ्ग है।

(२२)–मुनिने फिर कहा कि–हे राजन्! इस विषयमें हमारे पास वेदके मन्त्र हैं। हम सुनते हैं, कि–स्वप्नमें आत्मा शरीरको चेष्टारहित करके अलुप्तप्रकाश होनेके कारण न सोताहुआ सोतेहुओंको देखता है अर्थात् अन्तःकरणकी वृत्तिके आश्रित सब पदार्थोंको आत्मदृष्टिसे प्रकाशित करता है और स्वप्नके भोगका क्षय होजाने पर वह चैतन्यप्रकाशरूप और एक ही जाग्रत् आदिमें तथा लोक परलोकमें जानेवाला पुरुष इन्द्रियादिके शुद्ध तेजोमय मात्रारूपको लेकर कर्मवश फिर जाग्रत् अवस्थामें आजाता है वह जो इन स्थानोंमें फिरता है इनसे अलग एक हंसपुरुष है।

(२३)–वह पुरुष प्राणोंसे अपने शरीरकी रक्षा करताहुआ शरीरसे बाहर निकलजाता है और मरणधर्मरहित होताहुआ अपनी इच्छासे फिर शरीरमें आजाता है, यह शरीरोंमें फिरनेवाला एक हंस पुरुष है।

(२४)–स्वप्नमें यही महान् देव उच्च और नीच भावमें आया हुआसा भाँति २ के रूपोंको धारण करता है, देवता पशु पक्षी आदिके वासनामय बहुतसे शरीरोंको रचलेता है, कभी स्त्रियोंसे प्रेम करता हँसता हुआ लीला करता है। कभी सिंह व्याघ्र आदिको देखकर डरता है। ओः! शोक है कि–मनुष्य स्वप्नमें उसकी लीलाको अर्थात् वासनासे रचेहुए स्त्री पुत्र आदि क्रीड़ाके साधनोंको तो देखते हैं परन्तु उस आत्मदेवको नहीं देखते।

(२५)-वैद्य लोग कहते हैं, कि-सोतेहुएको एकायकी नहीं जगाना चाहिये, नहीं तो कभी २ वह आत्मा इन्द्रियदेशको नहीं पाता और कभी २ उलटे ही प्रकारसे पाता है, इस दशामें अन्धा आदि होजाता है और फिर उस रोगका दूर होना कठिन होजाता है। इससे सिद्ध है, कि—वह जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिमें फिरताहुआ उन अवस्थाओंसे और उनके कार्यव्यवहारसे अलग देखनेवाला साक्षी पुरुष है। हे राजन्! इसप्रकार वहाँ सुषुप्तिमें वह स्वयंज्योति होता है। तब राजाने आत्माकी पहचान पाकर कहा, कि-हे भगवन्! मैं एक हजार गौएँ दक्षिणा में देता हूँ, परन्तु मेरी मुक्तिके लिये अभी कुछ और उपदेश दीजिये। राजाको अभी आत्माके शुद्धस्वरूपका अच्छे प्रकारसे ज्ञान नहीं हुआ, इसलिये और अधिक उपदेश चाहता है।

(२६) मुनिने कहा, कि-देखो राजन्! यह आत्मा स्वप्नमें नाना प्रकारकी लीलायें करके और पापपुण्यको देखकर सुषुप्ति अवस्था (आलिसे आराम) में आजाता है, वहाँ न कोई भय है, न कोई शोक है बल्कि अपना खास आराम पाता है, इसलिये ही सुषुप्तिका दूसरा नाम संप्रसाद है, क्योंकि-यह उसके खास आरामका स्थान है। यहां वह अच्छे प्रकारसे अद्वितीय और ऐश्वर्यवान् सिद्ध होता है और जाननेमें आता है, कि—जिसप्रकार वह प्रकाशरूप है ऐसे ही आत्माराम भी है। पहले स्थानोंमें जाग्रत् और स्वप्नमें जो दुःख आदिका अनुभव करता है वह अन्तःकरणके धर्म हैं, यदि इसके ही धर्म होते तो

यहां कैसे दूर होजाने, जब वे अन्तःकरणके विलग होने के साथ ही दूर होगये तब तो वे अन्तःकरणके ही धर्म हैं, उसके नहीं हैं। जब वह जाग्रत् और स्थानोंमें अन्तःकरणको वस्त्रोंकी तरह पहनता है तब उसके वे सुख दुःख आदि भी उसमें कल्पित होजाते हैं।

(२७)-हे राजन्! यह शुद्ध आनन्दस्वरूप आत्मा इस सम्प्रसाद सुषुप्ति अवस्थासे नियमानुसार फिर स्वप्न में को लौटता है और यह आत्मा स्वप्नस्थानमें जो कुछ पुण्य पापके फलका अनुभव करता है उससे बन्धनमें नहीं पड़ता, क्योंकि-यह असङ्ग पुरुष है। प्रकाशका अन्धकारके साथ क्या सम्बन्ध? आनन्दका दुःखसे क्या सम्पर्क देखनेवालेका दिखाई देनेवालेसे क्या बिगड़ता है? साक्षी को मुकदमेसे क्या हानि लाभ? राजाने कहा-हे मुने! आपका कहना ठीक है। मैं दक्षिणामें एक हजार गौएँ और देता हूँ, अभी मुझे और उपदेश दीजिये कि-जिससे मैं मुक्ति पाजाऊँ।

(२८)-मुनिने कहा, कि-हे राजन्! शुद्ध आनन्दस्वरूप आत्मा स्वप्नमें भी लीला करतासा और विलास करतासा पुण्य पापको देखता हुआ फिर उसी नियमसे जाग्रत्के लिये चलदेता है, जो कुछ वहाँ अनुभव करता है उससे बन्धनमें नहीं पड़ता, क्योंकि-असङ्ग है। राजा ने कहा-ठीक है, दक्षिणामें एक हजार गौयें और देता हूँ। मुझे अभी और उपदेश दीजिये, जिससे मैं मुक्ति पाजाऊँ।

(२९)-हे राजन्! शुद्धस्वरूप सब स्थानोंका साक्षी, आनन्दस्वरूप आत्मा इस जाग्रत्में भी लीला करतासा विलास करतासा, पुण्य और पापको देखता उसी नियम

से फिर स्वप्नमें चलाजाता है। जो कुछ जाग्रत्में देखता है उससे बन्धनमें नहीं पड़ता। जिसप्रकार मुरगाबी कभी पानीमें गोता मारती है और कभी उड़ जाती है परन्तु पानीसे भीगती नहीं। इसीप्रकार यह आत्मा भी तीनों स्थानोंमें फिरता है जो कुछ वहां देखता व अनुभव करता है उससे बन्धनमें नहीं पड़ता है, बल्कि ज्योंका त्यों शुद्ध निकलता है।

(३०)–फिर कहा, कि–तीनों स्थानोंमें यह ज्योतिः-पुरुष इसप्रकार निर्भय फिरता है, जैसे कभी एक बड़ा मच्छ नदीके दोनों किनारोंकी ओरको कभी जाता है और कभी लौट आता है, यद्यपि नदीमें बड़ी २ भयानक लहरें उठती हैं परन्तु उस मच्छको कुछ हानि नहीं देसकतीं। यह मच्छ न तो उनसे डरता है और न उनसे भीगता है, इसीप्रकार यह आत्मदेव भी जाग्रत् स्वप्नमें फिरता है और उनका तमाशा देखता है, वहाँका पुण्य पाप उस के ऊपर कुछ भी असर नहीं करता।

(३१)–फिर जब यह मच्छ आराम करना चाहता है तो उस नदीकी तलीमें चलाजाता है और आरामसे सोता है, इसीप्रकार यह आत्मा भी जाग्रत् और स्वप्नकी सैर करके तीसरे स्थान (सुषुप्ति) में जो उसका खास स्थान है आराम करता है, जहां न कुछ स्वप्न देखता है, और न कुछ बाहरकी खबर होती है।

(३२) मुनिने कहा, कि–हे राजन्! आत्मा एक बलवान् बाज पक्षी है। जैसे वह महाआकाशमें निर्भय उड़ता है और सैर करता है तथा फिर अपने परोंको लपेटकर अपने असली घोंसलेमें पहुँचकर आराम करता है। इसी

प्रकार यह आत्मदेव भी जाग्रत् स्वप्नमें सैर का
मन विचार इन्द्रिय आदि सबको तथा इनके भी बाहर
और जो कुछ है उसको लपेट कर संप्रसाद (सुषुप्ति)
नामक अपने मूलस्थानमें जा आराम करता है, यहां
किसी विषयकी इच्छा करता है और न कोई स्वप्न देखता है।

(३३)-हे राजन्! जब इस सम्प्रसादमें वह स्वा-
भाविक बलवान् आनन्दमय और ज्योतिःस्वरूप सिद्ध
होता है तो स्वप्नमें जो उसको भय, शोक, प्रसन्नता और
हास विलास होते हैं वे मन और विचार कारणसे कल्पित
होते हैं जैसे मच्छको महासमुद्रकी लहरोंमें पानी बहता
हुआ विदित होता है, परन्तु मच्छ जानता है, कि
बड़ी तरङ्गें मेरा कुछ नहीं करसकतीं समुद्रका तोफान
चाहे संसारभरको डुबादेय, परन्तु छोटीसी मछली
बतकके बच्चेको उसका क्या भय ? पानी चाहे जितना
ऊँचा होजाय, मछली या बत्तकका बच्चा तो उसके सिर
पर ही तैरता है।

(३४)-संसार और प्रलयकी चिन्ता, विवाह या मृत्यु
और जीवनकी तरङ्गें मानसिक विचारकी सीमाके भीतर
भले ही रहें, परन्तु साक्षी चैतन्यको, जो उनको देखता
है उसको उनसे क्या भय ? वह तो जहां मन जाता है
और ज्यों २ दुःख व सुखकी दशामें आकार पाता है
उसमें उसीप्रकार चमकता हुआ तैरता है जैसे कि समुद्री
तूफानमें मत्स्य तैरता है।

(३५)-हे राजन्! दुःख शोक वा आराम और प्रसन्नता
तुझे नहीं होते, किन्तु तेरे अहंकारको होते हैं और
तेरा अहंकार भी उसी विचार और मनकी एक लहर

तरङ्ग है। जिसप्रकार समुद्री तूफानमें भी खास तरङ्ग उठती थी जो भगवान् मत्स्य अवतारके आकारकी थी और उसके चारों ओर उठरही थी। दूसरी तरङ्गें उस बड़ी तरङ्गको चाहे हानि पहुँचावें, चाहे उसकी और उन्नति करें, उससे मच्छको क्या? इसीप्रकार अहंकार भी तेरे विचारकी एक बड़ी तरङ्ग है, यदि दुःखरूप तरङ्गें उसको कष्ट दें तो दो और सुखाकार तरङ्गें उसके अनुकूल हों तो हों, उनसे तुझे क्या?

(३६) हे राजन्! अपने अहङ्कारको अनात्मविचारकी वृत्ति जान कर, जिसको विवेकने दिखा दिया है ऐसे अपने आत्मबलसे उस अहङ्कार वृत्तिसे जुदा होजा। ये दुःख और सुख आत्माके धर्म नहीं हैं, अहङ्कारके धर्म हैं और अहङ्कार तो पोशाककी तरह सम्प्रसाद अवस्थामें आत्मा परसे उतरजाता है, उसको फिर क्यों पहन कर उसके हर्ष शोकको अपनेमें मानता है? समझदार जानते हैं, कि-यदि पोशाक लाल होती है तो हम लाल नहीं होजाते हैं यदि पोशाक काली होती तो हम काले नहीं होजाते। यदि अहङ्कार दुःख सुख पाता है तो तुझे क्या? यदि पुण्य पापका सङ्ग करता है तो तुम्हें पुण्यात्मा या पापी नहीं बना सकता।

(३७) हे राजन्! तू जाग्रत् और स्वप्नमें दूसरेके अपराधोंसे अपराधी दूसरेकी भूख प्याससे भूखा प्यासा और दूसरेके जन्म मरणसे जन्मने मरनेवाला होता है। परन्तु प्रकट है, कि दूसरोंके अपराधोंसे औरकोई अपराधी नहीं होजाता, ऐसे ही दूसरेकी भूखसे कोई दूसरा भूखा नहीं होजाता और सावेशुप जीवन या मरणसे आत्मा

जन्मता मरता भी नहीं है, यह सब उसमें मानलेने तथा शरीरके सम्बन्धके कारणसे प्रतीत होता है और सम्बन्ध केवल मानाहुआ (वहम) है फिर उसके धर्मों का अपनेमें वहम क्यों करता है ?

(३८) हे राजन् ! जब कि-यह स्वयं असङ्ग है, केवल मानलेनेसे इसमें दूसरेके धर्म दीखरहे हैं और जब स्वप्नमें इसको शत्रु या चोर बाँधते हैं तथा मारते हैं या कोई हाथी पीछे पड़जाता है तो ऐसा भान होता है, कि-मरा और गढ़ेमें गिरा तथा ऐसे ही जब यह जाग्रत्के ख्याल देखता है तो अविद्याके कारणसे उनको सच्चे समझ लेता है, वास्तवमें तो झूठमूठ दिखावा ही है, परन्तु वहाँ यदि विचार करे और राजा तथा देवता की समान जानलेय कि-यह जो कुछ है "मैं ही हूँ" तो यही सत्य है और यही उसका परमधाम है।

(३९) हे राजन् ! स्वप्नमें यदि शत्रुने बाँधलिया या चोरने मारा अथवा हाथीने गढ़में गिरादिया तो यह भी सब अज्ञानदशाका मन्तव्य (वहमी तसव्वुरात) है यदि इसके प्रतिकूल यह मालूम होजाय कि-ये सब मनकी कल्पनायें हैं मैं इन सबका आत्मा हूँ। यह तमाशा है और मैं तमाशाई हूँ तो यह भी एक मनकी कल्पना ही है, तथापि वह पहली कल्पनायें झूठी और दुःखकी कारण हैं और यह दूसरी कल्पना उसके प्रतिकूल ठीक मार्गमेंको लेजानेवाली और सुखकी कारणहै इसकारण ही विद्या इसका परमधाम है और अविद्या इसका महानरक है। यद्यपि विद्या और अविद्या दोनों ही उसके

निजी धर्म नहीं हैं तथापि अविद्याके दूर होजाने पर परमकल्याण होता है।

(४०) विद्या और अविद्यासे अलग उसका जो स्वरूप है यह तो सम्प्रसादमें स्वयं ही रातदिन सिद्ध होता है और इस सम्प्रसादमें वेदोंकी मर्यादासे भी आगे निकल जाता है जब वेदकी विधिनिषेधरूप मर्यादाके पार होगया तो फिर पुण्यपापके भी पार होजाता है, यही उसका बलवान् और निर्भय वास्तविक स्वरूप है।

(४१)-यह नहीं मानलेना चाहिये, कि-संप्रसादमें वह न तो कुछ देखता है और न सुनता है किन्तु बेखबर होता है, इसलिये उसमें अविद्या या बेखबरी होती है असल बात यह है, कि-जैसे कोई मतवाला अपने प्रेम-पात्रको बगलमें लियेहुए न घरकी और न कुछ बाहर की खबर रखता है, ऐसे ही आत्मा भी अपने खास आराममें जो इस का निजी आराम है, न अपनी खबर रखता है और न गैरकी, तो भी उसकी निजी दृष्टि लुप्त नहीं होजाती है। उसको एक आत्मसुखमें सब सुखोंका आनन्द आता है तथा शोकका लेशमात्र भी नहीं होता।

(४२) और यही रूप इस आत्माका निजरूप है, क्यों कि-यहाँ सब संकल्प सिद्ध होते हैं, यहाँ अपने आपके सिवाय दूसरेकी चाहना ही नहीं होती, उसका यह रूप निष्काम और निरीह होता है, न इस समय कर्मसे ही कुछ सम्बन्ध होता है। इस सम्प्रसाद (सुषुप्ति अवस्था) में वास्तविक रूपमें आये हुए आत्माका पिता पिता नहीं रहता और माता माता नहीं रहती, लोक लोक नहीं रहते वेद वेद नहीं रहता बल्कि इस अवस्थामें कर्म

से सम्बन्ध न रहनेके कारण चोर चोर नहीं रहता खूनी खूनी नहीं रहता चाण्डाल चाण्डाल नहीं रहता थका थका नहीं रहता, रोगी रोगी नहीं रहता क्योंकि-उस समय आत्माका शास्त्रविहित पुण्यके साथ या शास्त्रसे निषिद्ध पाप कर्मके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं होता है, इस अवस्थामें आत्मा मनके सकल शोक और कामनाओं के पार होजाता है तथा उसका यही स्वरूप संसार-समुद्रसे तारनेवाला है।

(४३)-हे राजन्! पिता तो वह तब हो, कि-जब वहां उसका कोई पुत्र हो और माता भी तब हो, कि-जब वहां उसका कोई बच्चा हो, वहां तो कोई दूसरा होता ही नहीं, कि-जिसको पुत्र माना जाय, इसलिये न पिता होता है, न माता होता है। इसप्रकार ही कोई लोक भी नहीं होता, क्योंकि-वहां न जन्म होता है, न मरण होता है और न वहां वेद ही होते हैं जो इस लोक या परलोकके फल बतलावें, जब वेद नहीं तो वहां धर्म अधर्म भी नहीं होता, बल्कि क्या चाण्डाल और क्या ब्राह्मण क्या हत्यारा और क्या माराजानेवाला, क्या राजा और क्या फकीर यहां सब एक होते हैं और यही उसका अपना रूप है, कि-जिसको पाकर अमृत हो जाता है।

(४४)—जब कि-वहां अपने आपके सिवाय दूसरा कोई होता ही नहीं तब तो वहां अविद्या भी नहीं होती, क्योंकि—वह द्वितीय (गैर) है और गैरकी वहां गुजर ही नहीं। परन्तु वह जो वहां देखता नहीं, वह तो देखताहुआ नहीं देखता है, क्योंकि—उसकी दृष्टि

लोप होना तो सम्भव नहीं, कारण कि-वह अविनाशी है इसलिये अग्निकी उष्णताकी समान उसका नाश नहीं होता, परन्तु वहां तो उसके सिवाय दूसरा कोई है हीं नहीं, कि --जिसे देखे ।

(४५)-फिर आत्मा वहां सूँघता नहीं है, इसका भी यही तात्पर्य है, कि वह सूँघता हुआ भी नहीं सूँघता है, उसकी स्वरूपभूत घ्राणशक्तिका लोप नहीं होता है, क्योंकि-वह अविनाशी है, परन्तु वहां उससे दूसरी कोई वस्तु भी नहीं होती, कि-जिसको सूँघे ।

(४६)-सुषुप्तिमें आत्मा स्वाद नहीं लेता है इसका तात्पर्य भी यही है, कि-वह सबके साक्षीरूपसे स्वाद लेता हुआ स्वादिष्ट पदार्थोंको नहीं चाखता है। उससमय उसकी स्वरूपभूतस्वादलेनेकी शक्ति तो होती है, क्योंकि-वह अविनाशी है, परन्तु उस समय आत्मासे अन्य पदार्थ ही नहीं होता, कि-जिसको वह चखे ।

(४७) वह जो वहां कुछ कहता नहीं, वास्तवमें कहताहुआ भी नहीं कहता, कारण कि-उसकी वाक्शक्ति का लोप तो हो नहीं सकता, क्योंकि-वह अविनाशी है, परन्तु उस समय उसके सिवाय कोई दूसरा होता ही नहीं, फिर वह किससे बोले ।

(४८)-वह जो वहां कुछ सुनता नहीं, वास्तवमें सुनता हुआ नहीं सुनता । उसकी स्वाभाविक श्रवणशक्तिका तो लोप होता नहीं, क्योंकि-वह अविनाशी है, परन्तु वहां उसके सिवाय और कुछ होता ही नहीं, फिर वह किसको सुने ।

(४६)—वह जो वहां कुछ सोचता नहीं, वास्तवमें सोचता हुआ भी नहीं सोचता, कारण कि—उसकी स्वरूप भूत मननशक्तिका तो लोप हो नहीं सकता क्योंकि वह अविनाशी है, परन्तु वहां किसी दूसरेके न होनेसे मनन किसका करे ?

(५०)—वह जो वहां कुछ छूता नहीं, वास्तवमें छूता हुआ भी नहीं छूता, कारण कि—उसकी स्वरूपभूत स्पर्शशक्तिका तो लोप होता नहीं, क्योंकि-वह अविनाशी है, परन्तु वहां किसी दूसरे पदार्थके न होनेसे वह किसको छुए ?

(५१)—वह जो वहाँ कुछ जानता नहीं, वास्तवमें जानता हुआ भी नहीं जानता, कारण कि—उसकी स्वरूप ज्ञानशक्तिका तो लोप हो नहीं सकता, क्योंकि—वह अविनाशी है, परन्तु वहां किसी दूसरेके न होनेसे किसे जाने ?

(५२)—हे राजन् ! आत्मा तो अद्वितीय ज्ञानस्वरूप है दूसरा कोई मालूम नहीं जिसे जाने वह तो अद्वितीय आंख है दूसरा कोई दिखाई देनेवाला नहीं जिसे देखे, वह तो अद्वितीय घ्राण है दूसरा कोई गन्ध नहीं जिसे सूँघे, वह तो अद्वितीय स्वाद है दूसरा कोई स्वाद ही नहीं जिसको चखे, वह तो अद्वितीय श्रवण है दूसरा कोई सुनाई देनेवाला नहीं जिसे सुने, वह तो अद्वितीय मनन है दूसरा कुछ मनन करने योग्य नहीं जिसका मनन करे, वह तो अद्वितीय स्पर्श है दूसरा कोई ठण्डा या गरम नहीं जिसे छुए।

(५३)-जबकि-वह अकेला एक ज्ञानस्वरूप और सत्स्वरूप है तो किसको जाने, किसको मौजूद करे और किसको आरामवाला समझे। वह तो क्या इन्द्रियें, क्या विचार और क्या मन सबसे पर अलग जारहा है और पापपुण्य भी इन्द्रिय आदिके ही धर्म है वह उनके भी पार है। क्या अविद्या और क्या विद्या दोनोंके पार और दोनोंसे परमश्रेष्ठ है और हे राजन्! देख, वह तू ही है, क्योंकि-तू अनुभव करता है; कि-मैं सम्प्रसाद(सुषुप्ति) में था।

(५४)-परन्तु जहाँ (स्वप्नमें या जाग्रत्में) यह स्वयं ही अन्यसा होताहै-अविद्याके कारण आत्मासे भिन्नसा होता है वहाँ मानो कोई मुझसे दूसरा है ऐसा मानता हुआ अपनेसे जुदी अविद्याकी कल्पना कीहुई वस्तुको देखता है, अपनेसे भिन्न पदार्थ का स्वाद लेता है अपनेसे जुदे शब्दको बोलता है, अपनेसे जुदी बातको सुनता है, अपनेसे जुदी वस्तुका सङ्कल्प करता है और अपनेसे अन्य वस्तुको जानता है।

(५५)-हे राजन्! जब यह स्वयं अन्यसा होता है तब आँख और रूप बनकर देखता हुआसा होता है। नासिका और गन्ध बनकर सूँघताहुआसा होता है। रसना और रस बनकर स्वाद लेताहुआसा होता है. वाणी और शब्द बनकर बोलता हुआसा होता है। कान और शब्द बनकर सुनता हुआसा होता है। त्वचा और शीतोष्ण बनकर छूताहुआसा होता है।

(५६)-हे राजन्! एकपना और द्वितीयपना दोनों उसके स्वरूप हैं,परन्तु यह एकपना तो उसका वास्तविक

स्वरूप है और द्वितीयपना (अन्यरूपसा होजाना) उस का अवास्तविक (औपाधिक) है। अन्यरूप होनेमें या तो अविद्या कारण होती है अथवा विद्या कारण होती है। जहाँ अविद्या कारण होती है वहाँ वह परिच्छिन्न और दुःख क्लेश पाता हुआसा उठता है और जहाँ विद्या कारण होती है तहाँ सर्वरूप ऐश्वर्यवान् उठता है।

(५७)-जहाँ परिच्छिन्न उठता है वहाँ अपने कर्मोंकी परिधिमें बन्दसा दिखाई देता है, कहीं मार खाता है, कहीं चैन करता है, कहीं चाहता है कि-मिले, परन्तु नहीं मिलता, कहीं माँगता है, कि-दीखे, परन्तु नहीं दीखता प्रतीत होता है, कि-प्रारब्ध अनकूल नहीं है। परन्तु जहाँ चाहता है और मिल भी जाता है तो प्रतीत होता है कि-प्रारब्ध अनुकूल है। इसप्रकार अविद्या, प्रारब्ध तथा काममें बँधाहुआ संसारचक्रमें घूमता रहता है।

(५८)-परन्तु जहाँ विद्याके कारण सर्वरूप उठता है वहाँ जो चाहता है वही पाता है। सङ्कल्पसे पृथिवी और आकाश बनजाता है, सङ्कल्पसे भोग भोगता है और सर्वरूप हुआ सबमें भोक्ता होता है, परन्तु दुःखों का बिछौना या आधार होता है भोक्ता नहीं होता है कहाजाता है कि-यह अपने कर्मके बन्धनमें नहीं होता किंतु स्वतंत्र होता है। वह कर्म उसमें अविद्याके कारण आरोपित होते हैं तथा यह शक्ति और स्वरूप विद्याके कारण आजाते हैं, परन्तु वास्तवमें ये दोनों औपाधिक हैं और उनमें यह आत्मा निजस्वरूपमें होता है।

(५९)-जो कोई अपने इस स्वरूपको जानता है और इस प्रकार तत्त्वको जानजाता है, कि-मैं संप्रसादमें अपने

स्वरूपको देखता हूँ और स्वरूपमें रहता हुआ भी मा॰ अन्यके धर्मोंसे धर्मवाला होता हूँ परन्तु उनसे लिप्त नहीं होता जैसा कि-स्वप्नमें दिखाया गया है इसी विद्याके कारण यहाँ तो मरणकाल तक दुःख पाता हुआ भी नहीं पाता परन्तु मृत्युके बाद सुख पाता हुआ भी पाजाता है और कर्मफलके भोगसे निकलजाता है, इस लिये यह दूसरा कमाल (स्वरूप) जो कि-वास्तवमें अपना नहीं है यो ही मिलजाता है।

(६०)-हे राजन्! जब कि-अपना वास्तविक स्वरूप सुषुप्तिमें जानलिया कि-मैं सुखस्वरूप हूँ तो जाग्रत् और स्वप्नमें सङ्कल्प और प्रारब्धके कारणसे यदि कुछ दुःख का अनुभव भी होता है तो वह होतेहुए भी नहीं होता और जब मरणके बाद मायाके कारण दुःख तो नहीं बल्कि सत्यसंकल्प और सत्यकामता आदि प्राप्त होते हैं यद्यपि उसके स्वरूपमें सत्यकामता और सत्यसंकल्पता आदि नहीं हैं तो भी (नहीं होते हुए भी) मिलजाते हैं और इसी पहली दशाको जीवन्मुक्ति और दूसरीदशाको कैवल्य मुक्ति कहते हैं क्योंकि-जो केवल ज्ञानसे मिलती है यही कैवल्य है। यह आत्मा जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति में निजस्वरूपसे फिरताहुआ असङ्ग है जाग्रत् स्वप्न आदि अवस्थायें इसकी अपनी नहीं हैं उनमें रहताहुआ भी यह अन्यस्वरूप नहीं होजाता है।

(६१)-किन्तु अकेला,शुद्ध,देखनेवाला जहाँ द्वैतभावको जगह ही नहीं है उस सुषुप्ति वा संप्रसादमें स्वयं ही होता है उसकी परमगति है, यही उसका परम स्वरूप है,यही उसका परमलोक है यही उसका परमानन्द है और उस

परमानन्दके लेशमात्र को पाकर सब जीवित रहते हैं। ब्रह्मासे लेकर चींटी पर्यन्त इस परमानन्दकी मात्राको ही इन्द्रिय और विषयोंके सम्बन्धके द्वारा भोगते हैं। इस प्रकार याज्ञवल्क्यजीने राजा जनकको उपदेश दिया।

(६२)-हे राजन्! यही सम्प्रसादरूप तेरा आत्मा जो दो सा होकर चींटीमें उठता है तब चींटीरूप होजाता है, हाथीमें हाथी, मनुष्यमें मनुष्य, देवतामें देवता, प्रजापतिमें प्रजापति और विश्वमें विश्वात्मा होता है और इसके ही आनन्द उनके चित्तोंमें चित्रित होते हुए कम या अधिक प्रतीत होते हैं। जैसे एक ही मुख आरसीमें छोटा और आइनेमें बड़ा दिखाई देता है, परन्तु क्या बड़ा और क्या छोटा सबके सब एक ही मुखके प्रतिबिम्ब हैं। इस प्रकार क्या चींटी और क्या प्रजापति सबके आनन्द उसकी ही चमक है, यही सबके आनन्दोंकी खान है। जिसको आनन्दोंकी खान स्वयं मिलजाय वह कब चाहेगा कि-मैं उसकी जरासी चमकको खोजता फिरूँ!

(६३)-चींटीमें छोटा सा चित्त है, उसमें यदि थोड़े से आनन्दका प्रकाश है तो यह कमी चींटीके चित्तकी है, प्रजापतिमें यदि बड़ा चित्त और शुद्ध सत्वगुण है तथा उसमें यदि पूरे आनन्दका प्रकाश है वह महिमा प्रजापतिके चित्तकी है, परन्तु आनन्दस्वरूप आत्माकी झलक में कुछ २ न्यूनाधिकता नहीं है वह तो चींटी और प्रजापति सबमें एक रूप है।

(६४) वह तो अपने रूपसे एकसी सजधजका विद्यमान है, उसकी लटक तो हरएक खिड़कीमें पहचाननेवाले को मनोहर दीखती है, विचार वालोंकी दृष्टि जहां जाती

है वे सबमें अपने प्यारे आत्माको देखते हैं जिसको यह आत्मानन्द मिलजाता है, फिर वह और किसी आनन्द की चाहना नहीं करते, कोई भी देवलोक क्यों न हो सबके आनन्द बिगाने हैं-पराये हैं अपूर्ण हैं। कौन बुद्धिमान् होगा जो बिगानेको चाहेगा, क्योंकि जो पर है वह चिरकाल तक अपने पास नहीं रहसकता और अपना तो एक है और एकसे जुदा नहीं होता, वही परमानन्द है और वही सनातन है और वह तुझे स्वयं ही प्राप्त है।

(६५)-दूसरोंमें जो आनन्द है वे उपाधियोंके कारण से न्यूनाधिकरूपमें प्रतीत होरहे हैं, वास्तवमें आनन्दमें कुछ न्यूनाधिकता नहीं है। जैसे एक साधारण मनुष्यका जो आनन्द है वह वही है जो एक नौजवान विद्वान् धन-वान् शक्तिमान् सकल दुनियांके बादशाहका आनन्द है।

(६६)-परन्तु यदि मनुष्योंके इस आनन्दको सौगुना कियाजाय तो वह अग्निष्वात्ता आदि पितरोंके अनुभवमें आनेवाला आनन्द होता है और उसका सौगुना आनन्द पितृदेवताओंको सन्तुष्ट करके लोकको जीतनेवाले जित-लोक पितरोंका आनन्द होता है। उसका सौगुणा गंधर्वों का खास आनन्द है। उसका सौगुणा एक कर्मोंसे बने हुए देवताका आनन्द है। उसका सौगुणा एक सृष्टिकी आदिमें उत्पन्न हुए आजान देवताओंका आनन्द है और उसका सौगुणा एक प्रजापतिका खास आनन्द है और उसका सौगुणा एक ब्रह्मलोकका खास आनन्द है, जिस से बढ़कर कोई खास आनन्द नहीं है।

(६७)–हे राजन् ! इस अनुभवमें आनेवाले आनन्दों में भी बन्धन है। मनुष्यका आनन्द यद्यपि पितरोंमें सम्मिलित है, परन्तु मनुष्य पितरोंके आनन्दको नहीं पासकते और पितरोंका आनन्द यद्यपि जितलोक पितरोंमें सम्मिलित है, परन्तु बनावटी पितर उस आनन्दको नहीं पा सकते। प्रजापतिलोक और ब्रह्मलोक तककी यही दशा है, कि-नीचेकी श्रेणीका आनन्द तो ऊपरकी श्रेणीमें प्राप्त है, परन्तु ऊपरका आनन्द चाहने पर भी नीचेवालोंको नहीं मिलता। सबसे ऊपरके लोकमें जो कुछ चाहो मिल जाता है. इसी कारण वह सबसे बड़ा है।

(६८)–तो जहाँ पहले इच्छा करता है तब पीछेसे पाता है, यदि मिलगया तो आनन्द है और न मिला तो यही दुःख है। परन्तु अभिलाषामें तत्काल नहीं मिलता है, किन्तु दूसरे क्षणमें मिलता है, इसलिये पहले क्षणमें दुःख और दूसरे क्षणमें सुख प्राप्त होता है। यद्यपि हरएक कामनामें उसके पूर्ण होजावे पर दुःख विलीन होजाता है तथापि दुःखका संपर्क रहता ही है।

(६९)–इसका कारण यह है, कि–जब कामना होती है तो उस कामनाके कारणसे इस आनन्दरूप आत्मामें एक जुदा दुःख होता है, परंतु जब अभिलषित पदार्थ मिलजाता है तो कामना शांत होजाती है और वही अपना वास्तविक आत्मानन्द प्रकट होता है। अज्ञानी समझता है, कि–यह आनन्द मुझे,कामना कीहुई वस्तु से मिला परन्तु आनन्द तो उसको पहलेसे ही प्राप्त था, कामनाके कारण दुःखमें छुप गया था, जब अभिलषित वस्तु मिली तो आगन्तुक दुःख जातारहा,जिसमें अपना

आनन्द निरानन्दसा होगया था अब वही आनन्द प्राप्त हुआसाप्रतीत होता है इसप्रकार जो आनन्द अभिलषित वस्तुसे मिलता है वह खास अर्थात् परिच्छिन्न (महदूद) आनन्द है चाहे वह ब्रह्मलोकमें ही क्यों न हो। परन्तु सम्प्रसाद्में जो आनन्द है विना चाहनेके प्राप्त होता है वह परिच्छिन्न नहीं किन्तु निरवधि है।

(७०) परन्तु जो अपने परमानन्दको सम्प्रसाद (सुषुप्ति) में साबित करते हैं वे जाग्रत् और स्वप्नमें कामनासे प्राप्तहुए पदार्थोंको भी अपना रूप देखतेहुए उनकी चाहना नहीं करते क्योंकि-चाहना अपने आपकी नहीं होती जब चाहना नहीं तो दुःख भी नहीं। जब दुःख नहो तो आनन्द हर समय प्राप्त है,किसी चणमें भी जुदा नहीं होता वही पूर्ण है वही अपना है वही अन्तिम निचोड़ है।

(७१) हे राजन्! तू हरएक अनुभवमें आनेवाले आनन्दको इस पूर्ण आनन्दसे जाँचकर देखले छोटेसे बड़े तक मनुष्यसे ब्रह्मलोक तक हरएकका आनंद पूर्ण आनंद के भीतर समायाहुआ है क्योंकि--वह जो इच्छा करता है और पाता है उसके ही समान होता है कि--जो नहीं चाहता और नहीं पाता। जैसे कि--प्यास है यदि पानी पीता है तो उसके ही तुल्य होता है कि- जिसको प्यास नहीं होती है और पानी नहीं पीता है।

(७२)-मानलो, कि-मनुष्य संसारमें चक्रवर्ती राज्य माँगता है, यदि उसको मिलजाय तो वह उसके ही समान है, कि--जो चक्रवर्ती राज्यको नहीं चाहता बल्कि यदि मिले तो नहीं लेता है। इसलिये ही एक चक्रवर्ती

राजा और त्यागी परमहंस दोनों बराबर हैं, वह तो न मिलनेमें दुःख मानता है और यह मिलनेमें बखेड़ा जानता है, इसमें भी एक समान हैं।

(७३) फिर यद्यपि मनुष्य पितरोंका आनन्द मांगता है, परन्तु मिलते नहीं, और पितर भी चाहते हैं परन्तु पानीमें उसकेही समान हैं जो पितरोंके भाग नहीं मांगता और नहीं पाता बल्कि मिलजायँ तो बखेड़ा समझता है, इसलिये भारतका सच्चा स्वामी परमहंस और पितृलोकका पितर भी समान ही है।

(७४)–इसप्रकार ही क्या प्रजापति और क्या ब्रह्मा तक जो जो भोग हैं वे तो उनको कामना करके पाते हैं और यह परमहंस उन भोगोंको कामना नहीं करता और नहीं पाता, बल्कि मिलजायँ तो इसलिये क्या प्रजापति और क्या ब्रह्मा सब भारतकेत्यागी परमहंसकी समान ही हैं।

(७५) इन बातोंसे मालूम होता है कि–यह असीम आनन्द जो आत्मानन्द हैं स्वयं ही हरएकको सदा प्राप्त है और यही अपना है परंतु भेदवाली कामनामें भिन्न पदार्थकी प्राप्तिमें हरएकको प्रतीत होता है, और जो नहीं पाते वे दुःखी होते हैं परंतु जो निजस्वरूपका अभिलाषी है दूसरेकी कामना नहीं करता उसको सदा मिलता है और जो उसको सदा मिलता है और जो उसको जानता है वह बिना कामनाके ही पाजाता है, क्योंकि वह तो अनादि अनन्त आनन्दमय है, इसलिये आत्माकी पहचान वास्तवमें परमानन्द है किसी साधनाकी जरूरत नहीं साधना तो किसी दूसरेके लिये होती है अपने

आपके लिये नहीं और ऐसे त्यागी परमहंस ही वास्तव में निष्काम हैं नहीं तो चींटीसे लेकर ब्रह्मा तक लालची सिद्ध हुए हैं और लालच ही सकल दुःख और शोकका कारण है।

(७६)-हे राजन्! तात्पर्य यह है, कि-जब यह अपना आत्मा लालचमें आता है तो अन्य होजाता है। आप ही कामना करनेवाला है, आप ही कामनाका विषय है। अविद्याके कारणसे नहीं जानता, कि-मैं ही कामना करने वाला, मैं ही कामना और मैं ही कामनाका विषय हूँ, बल्कि अन्य बनकर अन्यसे माँगता है, वह कभी मिलता है और कभी नहीं मिलता, जब मिलता है तो सुख होता है और जब नहीं मिलता तो दुःख होता है और उद्योग करता है, कि—मिले यही (कर्म) है। इस प्रकार साधनाओंमें पड़कर साधना (कर्म) का वशीभूत (बन्दा) होजाता है तथा कर्मके बंधनमें बँधाहुआ चींटी से लेकर ब्रह्मलोक तक चक्कर लगाता है वहाँ सत्संकल्प हुआ जो चाहता है वही होता है, परंतु वहाँ भी लालच से खाली नहीं होता और लालच नाशवान् है, इसलिये सब भोग बेगाने और नाशवान् हैं और यह जो आनन्द-स्वरूपका है, नाशवान् नहीं है, सदा रहनेवाला है। ऐसा उपदेश याज्ञवल्क्यजीने दिया।

(७७)तब राजाने कहा कि-हे भगवन्! मैं हजार गौएँ और देता हूँ, अभी कुछ और उपदेश दीजिये, जिस से, कि-मैं मुक्ति पाऊँ। यह सुनकर याज्ञवल्क्य कुछ रुक कर विचारने लगे, कि-राजा बुद्धिमान् अधिकारी है, मेरे

सब ज्ञानको चाहता है और यह योग्य शिष्य है,इसलि
इसको और भी ज्ञानोपदेश देना चाहिये।

(७८)-इसके बाद याज्ञवल्क्यने कहा, कि-हे राजन्
जिसप्रकार यह आत्मस्वरूप जाग्रत् और स्वप्नमें नियमा
नुसार आता जाता है, इसप्रकार ही मृत्युकालमें इ
शरीरमेंसे निकलता है और दूसरे शरीरमें जीवनके लि
आजाता है और संसारी कहलाता है वास्तवमें य
असङ्ग और असंसारी है।

(७९)-जिसप्रकार स्वप्न और जाग्रत् विचारोंके कार
से इस आत्मस्वरूपमें अर्पित होते हैं ऐसे ही जन्म मर
भी विचार और प्राणके कारणसे इसमें कल्पित होते हैं
वास्तवमें न तो वह जागता है,न सोता है,न जन्म ले
है, न मरता है।

(८०)-यदि इस सूक्ष्म तत्त्वको जाननेकी इच्छा
तो एक दृष्टान्तसे सहजमें आजायगा। वह दृष्टान्त य
है, कि-जिसप्रकार एक मुसाफिर परदेशको जाता है,इ
तरह यह भी परलोकको जाता है। जिसप्रकार मुसाफि
चलते समय अपना सामान चक्की चूल्हा, मूसल,ऊखल
कड़ड़ा, बरतन आदि सब सन्दूक आदिमें बन्द करके ए
छकड़ेमें लादलेता है इसीप्रकार यह जीवात्मा भी अपनी
अगली पिछली करतूतोंको और अपने अगले पिछले
विचार तथा उनके साधन नाक कान रसना मन आदि
सबको बन्द करके उदान प्राणरूप छकड़ेपर लादता और
चलदेता है।

(८१)-जिसप्रकार मुसाफिरका लदाहुआ छकड़ा ह
चन्द्रमा या दीपककी रोशनीमें रेंगताहुआ सड़कों

चलता है ऐसे ही यह प्राणका छकड़ा भी प्राज्ञ आत्माके प्रकाशमें रेंगताहुआ उनही सड़कों पर चलता है, जो कर्मकाण्ड विद्यामें दिखाई जाचुकी हैं और जिनका मार्ग प्राणिसे फटता है। इस छकड़ेके चलनेके कारणसे उस स्वरूपमें भी जन्म, मरण आदि संसार कल्पित होता है। वास्तवमें तो वह इस गति और छकड़ेकी रेंगमें साक्षी दीपक है, स्वयं नहीं चलता है, किंतु छकड़ेकी चालसे चलता मालूम होता है। खुद नहीं रेंगता, किंतु प्राणों की रेंगके कारणसे रेंगतासा मालूम होता है।

(८२)–हे राजन्! यह कब होता है और क्यों होता है? इस बातको आप ध्यान देकर सुनिये। जब शरीर बीमारियोंसे या बुढापेसे अशक्त या जर्जर होजाता है, खाया पिया उसको कुछ नहीं लगता, (ऐसा तब होता है, कि–जब यहांके भोग समाप्त होनेको होते हैं) तो उस समय इस शरीरमेंसे यह इसप्रकार सम्बन्ध त्याग देता है जैसे एक आम या जामुनका पकाहुआ फल टहनी के जोड़से जुदा होकर गिरपड़ता है और यदि नहीं पका होता है तो आंधी आदिके झटकेसे गिरपड़ता है।

(८३)—बात यही है, कि–जब यहांके भोगके कर्म समाप्त होते हैं तो अनेकों कारणोंसे, जोकि—यद्यपि मालूम हैं परन्तु वह गिने नहीं जाते, बड़ी सहलमें हरएक इन्द्रियसे सम्बन्ध त्याग देता है, परन्तु पकाहुआ आम का फल टहनीके जोड़से अलग होजाने पर फिर दूसरी टहनीमें नहीं जुड़सकता और यह जीवात्मा तो एक शरीर से सम्बन्ध पाजाता है।

(८४)–जिसप्रकार "जाग्रत् से स्वप्नमें जाने पर जीव स्वप्नमें दूसरे शरीरको धारण करलेता है," इसीप्रकार इस शरीरसे उठता हुआ और दूसरे शरीरसे सम्बन्ध पाता हुआ जीवन और भोगोंको पाता है।

(८५)–स्वप्नकी अपेक्षा मृत्युमें उससे भी अधिक आश्चर्य है। क्योंकि–स्वप्नमें तो, शरीरको एक प्रकारसे छोड़ता है और एक प्रकारसे नहीं छोड़ता है और दूसरे कल्पित शरीरसे सम्बन्ध भी पाजाता है किंतु मृत्युमें उसका सम्बन्ध दो प्रकारका होता है। उसका पहला सम्बन्ध जो नवीन शरीरसे होता है वह उस शरीरसे सम्बन्ध होते ही होजाता है जब यह बात उसको मिल जाती है तब वह सिलसिलेसे और विधिके अनुसार इस शरीरको पूर्णरीतिसे छोड़ता हुआ शक्लके बाद शक्ल को बदलता हुआ असली सड़क पर आजाता है और और नवीन शरीरसे पूरा सम्बंध पाजाता है और भोगता हुआ सा जीवित होजाता है।

(८६)–उसका पहला सम्बन्ध उसका विचार है जिसे संकल्प कहना चाहिये। और उसका दूसरा सम्बन्ध उसका उठना है उस पहले सम्बन्धमें जो उसका उठना होता है, उसको संस्कृतमें उत्क्रान्ति कहते हैं और दूसरे संबन्धमें जो उसका उठना होता है उसे संस्कृतमें गति कहते हैं। उत्क्रान्ति वास्तवमें रूस्त है और गतिका तर्जुमा खेज है इसीकारण उर्दूमें कयामतको रूस्तखेज कहते हैं।

(८७)–यह सूक्ष्म बात भी एक उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगी उसको ध्यान लगाकर पढ़िये। एक चक्रवर्ती राजा

जब एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तमें भ्रमण करनेका विचार करता है तब उसकी इच्छाको जानकर दरबारी लोग चिट्ठी पत्री लिखकर तहाँके अधिकारियोंको सूचना देते हैं और प्रोग्राम नियत करदेते हैं फिर वह पड़ाव डालता हुआ वहां जाता है । इसीप्रकार मृत्युमें भी पहला उठना उसका पड़ावके अधिकारियों अधिष्ठात्री देवता इन्द्रियों को सूचना दिलवाना है और दूसरा उठना पड़ाव करते हुए कूँच करना है ।

(८८) उसकी सच्ची हालत यह है कि क्या प्रकृति और क्या इन्द्रियें उसकी आज्ञासे समानरूपसे सबमें सब कुछ कररही हैं, और उसीकी चकरीमें पृथ्वी वा आकाश बनकर और उनमें भोगके साधन और भोग तयार कर रही हैं और जीवके सूक्ष्मभोगके लिये कान नाक और आंखके रूपमें आकर खास २ काम कररही हैं और इन बंधनोंके कारण वह आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक नामोंसे बँट रही हैं ।

(८९)-इन्हीं नामों और अधिकारियोंकी आज्ञासे वह प्रत्येक स्थानमें इसके भोगके लिये तयारियां कर रही हैं आध्यात्मिक इन्द्रियें इस देहमें भोग देरही हैं । वास्तव में क्या आध्यात्मिक-क्या आधिभौतिक और क्या आधिदैविक सब एक हैं, और जब यह एक चक्रवर्ती राजाकी समान दूसरे प्रान्तमें जाना चाहता है, तो यही अध्यात्मिक इन्द्रियें जो शरीरमें नियत हैं और बन्धनमें पड़ी हैं खुल जाती हैं और आधिभौतिक आधिदैविकोंमें मिलजाती हैं और नियत समयपर उसके भोगनेके लिये शरीर और भोगके साधन और भोग तैयार करती हैं, और अभी

तक इस शरीरसे भी सम्बन्ध नहीं छोड़ती हैं, इसको हम उत्क्रांति या पहिला उठना कहते हैं।

(६०) इन इन्द्रियोंका पहिला उठना ऐसा है जैसे कि सूर्यसे निकलती हुई किरनें पृथ्वी तक झटपट पहुँच जाती हैं और पृथ्वी तथा आकाशमें फैलती हुई भी सूर्यसे भी वैसा ही सम्बन्ध रखती हैं, परन्तु विचारो कि सूर्य पृथ्वी पर उतर आवे तो किरनें भी उसके साथ उतर आवें, यह उतरना दूसरी प्रकारका है, ऐसा ही प्राणोंकी उत्क्रांति और गतिका वृत्तान्त है।

(६१)-हे राजन्! अब यह समझ कि जब यह जीव ऊर्ध्व स्वाँस लेता है और मृत्युके लक्षण प्रकट होने लगते हैं तो इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री देवता उसकी इच्छाको समझते ही उसीप्रकार तयारी करते हैं और बाट देखा करते हैं। जैसे कि प्रान्तोंके अधिकारी राजाके आनेपर तयारियाँ करतेहुए उसकी बाट देखा करते हैं।

(६२) देखो जब चक्रवर्ती राजा दूसरे प्रान्तमें जाना चाहता है तो उस प्रान्तके अधिकारी क्या-गवर्नर क्या फिनानशल-क्या कमिश्नर-क्या कलक्टर और तहसीलदार कोतवाल तथा नम्बरदार स्थान २ पर नियत होकर कोठियाँ और गोदामका प्रबन्ध करतेहुए उसके आनेकी प्रतीक्षा करते हैं कि हमारे महाराज अब आते होंगे अब आते होंगे।

(६३)-इसीप्रकार जब यह जीव ऊर्ध्व स्वांस लेता है तब आध्यात्मिक क्या आधिदैविक-क्या आधिभौतिक सबकी सब इन्द्रियें उसकी इच्छाके अनुसार सावधान होकर-शरीर और शरीरके साधन और उसके भोग और

भोगोंके साधनोंको नियमानुसार तयार करते हैं और प्रतीक्षा करतेहुए कहते हैं कि- अब आत्मा यहाँ आना चाहते हैं।

(९४)–हे राजन्! यह अधिष्ठात्री–आध्यात्मिक देवता उसकी इच्छाको भली प्रकारसे जानने वाले और उत्तम-काम करने वाले हैं, तेरे इन अधिकारियोंसे -गलती हो जाना सम्भव है परन्तु उनका तो भ्रममें पड़ना सम्भवही नहीं है, किन्तु वह जानते हैं आत्माको इसप्रकारके कोठी या बँगलेकी आवश्यकता है और उस बँगलेमें इसप्रकार के भोगकी आवश्यकता पड़ेगी, और पहिले आते ही वह दूध लेगें और फिर हम सबोंकी उपस्थिति चाहेंगे। इस लिये वे दूधकी मटकियाँ तयार करते हैं। क्या तू नहीं देखता कि जब गर्भ होता है तो माताके स्तनोंमें वह किस प्रकार दूध बनाते हैं।

(९५)–इस प्रकारके विचारोंसे विश्वास होसकता है कि क्या आध्यात्मिक क्या आधिदैविक-क्या आधिभौतिक यह सब अधिष्ठात्री देवता अपने २ अधिकारोंपर विभक्त होकर उसकी सेवाके लिये संसारमें फैलती हुई सबमें सब कुछ कर रही हैं, और यही उनका प्रजापति है और और प्रत्येक स्थान पर वह इसीकी प्रतीक्षा और इसीकी अगवानी करनेके लिये उत्सुक हैं।

(९६)–हे राजन्! इधर तो आधिदैविक इन्द्रिय देवता जहाँ वह जाना चाहता है तहाँ उसकी प्रतीक्षा कररही हैं अब अध्यात्मिक इन्द्रिय देवताओंका वृत्तान्त सुनिये कि वह क्या करती हैं।

(९७)-जिसप्रकार बड़े २ अधिकारी सम्राटके प्रस्थान करनेकी इच्छाको जानतेही चलनेकी तयारियाँ करते हैं। उसी प्रकार क्या आँख-क्या नाक-क्या कान यह सबकी सब ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ भी जो उसके मुख्य अधिकारी हैं, साथ चलनेकी तयारी करती हैं, और अपने अपने नियत स्थानोंको छोड़ उसकी मुख्य राजधानी मन में जाकर एकत्र होजाती हैं और उसके साथ मिलजाती हैं

(९८)-यह कब होता है और क्योंकर होता है इस बातको कान लगा कर सुनो। जब यह जीव वृद्ध और अशक्त होजाता है और अंतिम ऊर्ध्वस्वांस लेने लगता है तब सब ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हृदयमें एकत्रित होजाती हैं, और उन सबको वह अपनेमें लीन कर लेता है, वह हृदयके भीतर ज्ञानवान् रहता है और बाहरकी ओरसे बेखबर और मूर्च्छितसा होजाता है।

(९९)-जब यह आंख जाती है, तो बाहरका रूप नहीं देखती, भीतर तो उससे एक होती है अर्थात् उसमें लीन होती है, परन्तु उसके समीपवर्ती कहते हैं कि-वह नहीं देखता। नाक भी उससे मिलजाती है परन्तु पास वाले मनुष्य कहते हैं वह नहीं सूँघता, जीव भी उससे मिलजाती है समीपके मनुष्य कहते हैं नहीं चखता वाणी भी मिलजाती है समीपके मनुष्य कहते हैं वह नहीं बोलता, श्रोत्रेन्द्रिय भी उससे मिल जाती है समीपके मनुष्य कहते हैं नहीं सुनता, मन भी उसमें लीन होजाता है समीपके मनुष्य कहते हैं नहीं जानता।

(१००)-जब यह इसप्रकार अपने सेवकोंको हृदयमें एकत्रित करता है और अपने विचार तथा अपने कर्मोंके

भारोंको धरकर प्राणरूपी छकड़ेपर लाददेता है और आप भी उसपर सवार होजाता है और चित्तमें विचारकरके शरीरको जिस इंद्रियसे निकलना चाहता है तहाँ पर भी ज्ञानवान् रहता है।

(१०१)–उस समय समीपमें खड़ेहुए बाहरके मनुष्य कहते हैं कि-अब इसे कुछ ज्ञान नहीं मूर्च्छामें है परंतु वह अगले पिछले सब विचारोंको सोचता है और देखता है उस समय जो कर्म और जो विचार बलवान् हैं उसको भोग देनेके लिये अपने रूप प्रकट करते हैं उन कर्मोंमें उन विचारोंमें और उन कर्मोंके देखनेमें लगाहुआ उनको ही अच्छा जानता है।

(१०२)–जब बलवान् वासना और कर्मोंके देखनेमें अनुरक्त होकर उन योनियोंको पसन्द करता है तब उसकी इच्छा उन योनियोंके अनुरूप होजाती है यह उसके विचारका पहिला सम्बन्ध है जो इस शरीरमें सम्बन्ध रखतेहुए भी वह तहां पर पहुँचता है। और जब उदान प्राण इस शरीरके भोगोंके समाप्त होनेसे स्वतन्त्र होता है और इसकी इच्छाके अधीन होजाता है। इसकारण वह भी उसकी इच्छाके अनुसार चलता है और नाड़ियोंके मार्गसे अथवा आँख या नाक अथवा कानके मार्गसे निकलता हुआ जहाँ जाना अच्छा समझता है वहाँ सूर्यकी किरणोंके समान जाता है और ईश्वरीदेवताको-इंद्रियोंके आधिदैविक देवताओंको सूचना देता है कि उस योनिमें इसके शरीर और भोगोंके लिये साधनोंकी प्रति आवश्यकता है।

(१०३)-यह गर्व नहीं करना चाहिये, कि सब प्राणी उत्तम योनिको ही चाहते हैं, नीचयोनियोंको कोई भी नहीं चाहता, फिर कोई नीच योनिमें क्यों जाता है! किन्तु जिस प्रकार चोर जानता है कि चोरी अच्छी नहीं, किन्तु अवसर पाकर चोरी करता है तो उस समय उसे पसंद करता है। अथवा व्यभिचारी जानता है, कि-व्यभिचार अच्छा नहीं, परन्तु जब एकान्त और प्रियाको पाता है और उसमें कामका उदय होता है तो व्यभिचारको पसन्द करता है इसीप्रकार क्या अच्छी क्या बुरी योनियाँ अपने कर्म और विश्वासों के कारण जिनमें निरत रहता है, उनको पसन्द करता है।

(१०४)-देखो जब जीव जानता है कि चोरी और व्यभिचार अच्छा नहीं, किन्तु लालच और कामके वशीभूत होकर वह उन्हींको पसन्द करता है। इसीप्रकार यद्यपि मृत्युसे पहले वह बुरी योनियोंको पसन्द नहीं करता है किन्तु मृत्युसमयमें जब यहाँके भोग समाप्त हो जाते हैं और दूसरे जन्मके भोगोंके कर्म बलवान् पड़कर जब सामने आते हैं तो उन्हींमें लगा हुआ बुरी योनियों को अच्छी योनियोंकी अपेक्षा पसंद करता है और वैसा ही होजाता है और यही न्याय है।

(१०५) हम बड़े २ धनवानोंको देखते हैं कि वह अच्छे विचार रखते हैं और अच्छे बुरेकी पहिचान रखते हैं और जब शराब पीते हैं तो नशेके वशमें होकर जिस कामको नहीं करना चाहिये उसको करते हैं और जिस को पसन्द करना उचित नहीं है उसे पसन्द करते हैं और अयोग्य बातें कहते हैं। उस समय बुद्धिमान् पुरुष

समझते हैं कि नशेके कारण यह अयोग्य बातोंको कह रहा है और अयोग्य काम पसन्द करता है। इसीप्रकार जीवका मृत्युके समय हाल होता है।

(१०६)जब कि मृत्युके समय इसकी बुद्धि इसके पहिले कर्मोंके और विचारोंके अधीन होती है और जो प्राण प्रजापति है उसकी बुद्धिके अधीन होता है। इसी लिये शास्त्र आरम्भसे ही जीवको शुभ कर्म करनेके लिये आज्ञा देता है। जीव मृत्यु पर्यन्त शास्त्रीय आज्ञानुसार शास्त्रीय कर्मोंको करे क्योंकि—अन्तिम समयमें बुद्धि अपने कर्मों के और विचारोंके अधीन होती है इस लिये विचारवान् पुरुषको शास्त्रीय बन्धनमें रहना उचित है, क्योंकि वह नहीं जानता कि कौनसा काम शुभ योनि पानेका कारण है और कौनसा काम नीचयोनिकोपानेका कारण होगा, किन्तु शास्त्र इस बातको जानता है, कि जो प्राणी जीवों को कष्ट देता है और जीवोंसे डाह रखता है वह साँप और बिच्छूका स्वभाव रखता है और मृत्युके समय उस के सामने यही शकल आवेगी इस लिये डाह करने वाला और प्राणियोंको कष्ट पहुँचाने वाला साँप और बिच्छू की योनि पसन्द करेगा, यह सूक्ष्म बात है इसको प्रत्येक मनुष्य नहीं जानता।

(१०७) कर्मकाण्डमें इसको भली प्रकार समझा दिया है इस लिये इसको तहाँ देख लेना चाहिये, इस लिये हम यहाँ पर उसको विस्तार पूर्वक लिखनेकी आवश्यकता नहीं समझते और यह विषय अधिक विस्तृत है इस लिये इसको यहाँ लिखा नहीं जासकता। जब यह जीवात्मा इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ

से मिलाहुआ हृदयकमलमें ज्ञानवान् होता हुआ उठता है तो उसके उठते ही प्राण उठता है और प्राणके उठते ही सब ज्ञानेन्द्रियें और सब कर्मेन्द्रियें उठती हैं और इस समय भी जीव सज्ञान होता है उसको जिस २ सड़क पर जिस २ प्रकार चलना होता है और जहाँ २ जाना होता है उसकी उसको खबर होती है जैसे यात्री जब तक पहिले मुझे कहाँ जाना होगा और उसके बीचका मार्ग कैसा है जब तक नहीं जानता नहीं चलता, इसी प्रकार विचारना जीवकी उत्क्रान्ति है।

(१०८) हे राजन् ! जिस प्रकार यात्री अपने छकड़े पर अपना सामान लादता है और पड़ाव पर निकाल कर खाता है उसीप्रकार यह जीवात्मा भी अपने विचार अगले पिछले विचारों और सब कर्मोंको साथही लेजाता है और दूसरी योनिसे पूर्णरीतिसे सम्बन्ध पाने पर जब ज्ञानेंद्रियें और कर्मेन्द्रियें प्रकट होकर खुल जाती हैं तो यह उन्हींके अनुसार भोग पाता है तब वह प्राण प्रजापति फिर उसकी इच्छाके वश नहीं रहता, और उसके कर्मके बंधनके अधीन जोकि उसकी पहिले जन्मकी इच्छा से हुए हैं काम करता है इस लिये जीव चाहता है पाऊँ परन्तु नहीं पाता, और जिस वस्तुको पीना चाहता है परन्तु पी नहीं पाता, इस प्रकार पराधीन होजाता है और अपने विचारोंमें फँसा हुआ अपना ही किया पाता है। यही न्याय है।

(१०९) किन्तु जो पुरुष(कीमियाय कुदरती)ईश्वरोक्त कर्म और सत्कर्मसे प्रेम करते हैं उन्हें देवयान सड़क पर चलना होता है और देवलोकमें जाना होता है और वे

सत्संकल्प होते हैं यही पुण्यका फल है और ऐसा जानने वाला ही वास्तवमें (शाहजादा आसमानी) प्रजापति है इस लिये हे सज्जनों! विचारो और इस कुछ दिन रहने वाले सांसारिक जीवनके भरोसे पर व्यर्थ ही अमूल्य अवस्थाको न गमाओ जहाँ तक होसके शास्त्रके अधीन होकर पुण्यमय कर्मोंको करो अन्यथा पश्चात्तापके अतिरिक्त और कुछ हाथ न आवेगा।

(११०) तथापि जब इस प्रकार पहले उत्क्रान्ति होती है तब अग्निदाहके समय उसका कतई उठना होता है और जिस प्रकार कर्मकांडमें वर्णन किया है उन्हीं सड़कों पर गति होती है। इस उत्क्रान्ति और गतिका उदाहरण ऐसा है जैसे कि-एक जौंक जानवर जहाँ जाना चाहता है वह करके अपने शरीरको पसारता है और (मकसूद) लक्ष्य तिनके पर अगला पैर जमाकर क्रमशः पिछले पैर को उठाता हुआ पहले तिनकेको बिलकुल छोड़ देता है और क्रमशः लक्ष्य तिनके पर पहुँच जाता है इसीप्रकार यह जीवात्मा भी उत्क्रमण करता है।

(१११) अब यों समझो, कि—विचार या प्राण जो फैलता है वह (पनाह) अधिष्ठानके बिना नहीं फैलता है, किन्तु (खयाल) विचार प्राणकी पनाहमें और प्राण शरीरकी पनाहमें फैलता सिमटता है इसलिये पहली उत्क्रान्तिमें जब देवयान सड़कपर चलना होता है तो विचार और उसके पीछे रहनेवाला प्राण पुर्यष्टका आदि नाड़ियोंमें फैलता है और नाड़ियोंके द्वारा ललाटमें पहुँच कर उत्क्रमणकी नाडीसे निकलता हुआ सूर्यकी किरणों के द्वारा सूर्य और देवलोकमें (कारकुनान कज़ाव कद्र)

संसारके कामको चलानेवाले देवताओंको सूचित करता है उसके लिये सूक्ष्म शरीर (रूहानी बदन) और भोग की युक्ति करता है। फिर जिनमें जल प्रधान है जिसको हमने कर्मकाण्डमें चिकनाई और रतूवत (जल) बतलाया है। ऐसी पञ्चतत्त्वोंकी मात्राओंसे लिपटा हुआ देवयान सड़कपर चलता हुआ नियत समयमें क्रमपूर्वक जोंककी तरह देवलोकमें जाता है और इन्हीं भौतिक मात्राओंसे देवशरीरको बनाता है यही हाल और दूसरी सड़कोंका है।

(११२) हे राजन्! इसका उदाहरण इसप्रकार है, कि-जिसप्रकार एक सुनार सोनेको लेकर एक सूरतसे नई सूरतको तयार करता है,कभी अंगूठीसे बाली,बाली से अंगूठी बनाता है, इसीप्रकार यह जीवात्मा भी उसी (रतूवततन्सरी) जलतन्मात्रा जो (रतूवत अजीजी) सूक्ष्मतन्मात्रा कहलाती है उससे शरीरको छोड़ता हुआ फिर नया शरीर बनालेता है।

(११३) इसीप्रकार यह शरीरको छोड़कर पितरोंका शरीर बनालेता है अथवा गंधर्व, देवता, प्रजापति, अथवा ब्रह्मा आदि जिस योनिमें जाता है उसका शरीर बनालेता है। इसप्रकार पार्थिव शरीरको छोड़ता है दैवी शरीरको पहिरता है, अन्धकारमयको फेंकता है प्रकाशमयको पाता है।

(११४) इसप्रकार विश्वास होता है, कि-यह सर्वमय है। जब यह जानता है तो ज्ञानमय होता है, जब यह सोचता है तो मनोमय होता है, जब यह कुछ करता है तो प्राणमय होता है, जब यह देखता है तो चक्षुर्मय

होता है, जब यह सुनता है तो श्रोत्रमय होता है, इसी तरह पृथिवीमय जलमय वायुमय आकाशमय तेजोमय काममय अकाममय क्रोधमय अक्रोधमय बल्कि सर्वमय जो कुछ यह और वह है सर्वमय होता है।

(११५) क्योंकि-जहाँ जाता है उसीके अनुसार अपना शरीर बनालेता है इससे यह प्रमाणित होता है, कि— इसकी (मुख्तसिर रतूबत असलीमें) सूक्ष्मावस्थामें संसारकी सारी सामग्री मौजूद है, जहाँ२ जिस२ लोक में इस (रतूबत) जलतन्मात्रामें लिपटजाता है तहाँ २ उन्हींके अनुसार बर्ताव करता उन्हींमें एकसा होजाता है, इस लिये यही सबका मालिक और यही (शाह-जादा) प्रजापति है और सब कुछ इसीके भोग और और भोगके साधन हैं।

(११६) यद्यपि यह सर्वमय होनेके कारण सबमें सब कुछ करसकता है, किन्तु शास्त्रके अनुसार जैसा उसका आचार है वैसाही उसका कार होता है इसी लिये श्रुतियाँ कहती हैं, कि-"मिथ्याकारी मिथ्याकारी होता है और साधुकारी साधु होता है और पापकारी पापी होता है" इसलिये उसका यही (अद्ल) न्याय है कि-पुण्यकर्मोंसे पुण्यलोक और पापकर्मोंसे पापलोकमें जाता है अतएव बुद्धिमान् पुरुष जीवके भोग और भोग के साधनोंमें उसके कर्म और विचारोंको ही मुख्य कारण समझते हैं।

(११७) किन्तु जो परम चतुर हैं वे कहते हैं, कि-अन्त तो गत्वा लालच अर्थात् वासनाही मुख्य है जैसा लालच होता है वैसा ही विश्वास करता है वैसा ही (अमल)

कर्म करता है,जैसा वह कर्म करता है वैसाही पाता है इस लिये पहले लालच (वासना) और फिर इच्छा है फिर विश्वास फिर कर्म फिर फल है क्योंकि-जो कार्य इच्छा और लालचके विना किया जाता है वह लेश होता है और उसका कुछ फल नहीं होता इसी लिये लालची अर्थात् वासना करने वाला पुरुष संसारी है।

(११८) हे राजन् ! इस विषयमें हमारे पास वेदका यह मन्त्र प्रमाण है, कि-यह जिसमें लालच करता है अपने कर्मोंकी सहायतासे मृत्युके समय उसे पाता है और इसी लिये फिर इसी लिये उस लोकसे इस लोकमें आता है कि-फिर कर्म करे। इस प्रकारके मन्त्रोंसे प्रमाणित होता है, कि-संसारकी जड़ वासना है।

(११९) जो वासनाको उखाड़ डालता है, उसको संसारमें नहीं पड़ना पड़ता, जो लालची नहीं है अर्थात् जो वासना रहित है, वही मुक्त है और लालच अर्थात् वासना अन्तःकरणकी वृत्ति है। आत्माका धर्म नहीं है किन्तु वह आत्मा तो वासना,क्रोध,सन्तोष और इंद्रियों की सब वृत्तियोंका देखने वाला है, इस आत्माको हम पहिले ज्योतिःस्वरूप असंग सिद्ध कर चुके हैं,वह आत्मा ऐसे ज्ञानके कारणसे शरीर, शरीरके धर्म इन्द्रियें इंद्रियों के धर्म अन्तःकरण और अन्तःकरणके धर्म इनसे अपने आपेको असङ्ग पाता है। वह वासनावान् नहीं है यद्यपि अन्तःकरणमें उसको पाता है किंतु अपनेमें नहीं पाता बस यही निर्वासनावस्था है।

(१२०)यदि कोई चाहे तपसे अन्तःकरणमेंसे वासना को उखेड़ दूँ, तब यह सम्भव नहीं कि नदीमेंसे लहरें

न उठे, किंतु जिस आकाशमें नदी बहती है उसमें लहर नहीं होती, इसी प्रकार अन्तःकरणमें वासना हो तब भी चिदाकाश आत्मामें वासनाका अस्तित्व नहीं है। जो इस बातको जानता है वह बेलालच होजाता है अर्थात् वासनारहित होजाता है और जो बेलालच होता है वही निष्काम होजाता है और जो निष्काम होता है वही आप्तकाम होजाता है और वही स्वरूपावस्थामें स्थित होजाता है और न्यायके बन्धनमें नहीं पड़ता किंतु ब्रह्मस्वरूप होजाता है।

(१२१) हे राजन्! इस ज्ञानके कारण स्वरूपमें स्थित हुआ ज्ञानी यद्यपि शरीरसे शरीरके काम इन्द्रियों से इन्द्रियोंके काम प्राणोंसे प्राणोंके काम करता है, किन्तु आत्मविवेकके कारण मनको अपनेमें नहीं देखता किंतु झूठे अनात्म धर्मोंको स्वप्नके समान अपनेमें आरोपित देखता है तो उसके तमाम काम काम तो नहीं होते किंतु कामोंकी तसवीर होजाते हैं।जैसे तसवीरें भी तो शक्लें रखती हैं किन्तु लाभ नहीं रखती इसी प्रकार उसके बर्ताव बर्तावोंका स्वरूप तो रखते हैं किन्तु बर्ताव नहीं होजाते इसी कारण वह करता हुआ भी अकर्ता है, खाता हुआ भी नहीं खाता है और चलता हुआ भी नहीं चलता है।

१२२हे राजन्! ऐसा परमहंस संन्यासी एक भिखारी सा मालूम होता है किंतु वास्तवमें वह सबका राजा है कौड़ी नहीं रखता किंतु सब माल उसीका है,कंगलासा मालूम होता है परन्तु वास्तवमें धनी है क्यों कि-उसे कुछ लालच नहीं है जो सब दुःखोंका मूल है।

(१२३)हे राजन् ! जब तक इसका जीवन रहता है तब तक ऐसा दिखाई देता है किन्तु जब इसके यहाँके भोग समाप्त होजाते हैं तो उसकी ज्ञानेन्द्रियें और कर्मेन्द्रियें संसारीकी समान ही हृदयमें जाती हैं किन्तु उस के प्राण अज्ञानीकी समान नहीं उठते हैं किन्तु ब्रह्ममें लीन होजाते हैं। यही स्वरूपमें स्थिति है और यही मुक्ति है।

(१२४) इस विषयमें वेदके मंत्र कहते हैं, कि-जब जीवकी हृदयमें रहने वाली सब वासनाएँ, इससे अलग होजाती हैं,तब यह अमृत होजाता है और यहाँ ही ब्रह्म को पाजाता है जैसे साँप अपनी कैंचुली उतारता है और अपनी बमईमें फेंक कर उसके साथ रहता है, किन्तु उससे संबंध नहीं रखता। इसी प्रकार यह ज्ञानी भी अपने स्थूल शरीराभिमानको जब विवेकसे फेंकता है, तो साथ ही पाने परभी उससे कुछ संबंध नहीं रखता।

(१२५) इस लिए हे राजन् ! यह ज्ञानी शरीरमें होता हुआ भी शरीरसे अलग होता है। अमृत ब्रह्म प्राणोंका भी प्राण प्रकाशोंका भी प्रकाश है। तब राजा ने कहा, कि-मैं हजार गौएँ और देता हूँ। और यह न कहा, कि-कुछ और अधिक कहो किन्तु पूर्ण सन्तोष पाकर चुप होगया।

❁ पञ्चम परिच्छेद ❁

(१)ऊपरकी कथासे प्रमाणित होचुका है,कि-वासना (लालच) वास्तवमें संसारका कारण है। और लालच [illegible]ताासे दब जाता है, परन्तु उखड़ता नहीं किन्तु मैं न

शरीर हूँ न इन्द्रियें हूँ, न अन्तःकरण हूँ, किन्तु एक स्वयंज्योतिः प्रकाश हूँ, जिसके प्रकाशमें यह सब कारोबार करते हैं ऐसे ज्ञानसे कतई उखड़ जाता है। क्योंकि—जैसे दीपक यद्यपि कारोबार और कारोबार करने वालोंमें बर्ताव का कारण है लेकिन खुद कारोबार नहीं करता है, इसी प्रकार यह आत्मज्योति भी सब कारोबार और सब इन्द्रियोंमें यद्यपि कारण है, परन्तु स्वयं उनके कार्योंसे लिप्त नहीं होता है।

(२) यही ज्ञान जब दृढ़ होता है तो ऐसा ज्ञानी जो कुछ कर्म करता है उसको अपने अंगों और इन्द्रियोंमें देखता, अपनेमें नहीं पाता यद्यपि उसके कर्म दूसरोंको उसीके कर्म मालूम होते हैं यह इस प्रकारका भ्रम होता है जैसेकी बादलोंकी चाल दूसरोंको चन्द्रमामें चन्द्रमा की चाल मालूम होती है मगर चन्द्रमा अपनेमें उस चालको नहीं देखता।

(३) यही दशा ज्ञानीकी है कि वह पाप नहीं करता किन्तु पापियोंकी समान दिखाई देता है, वह पुण्य नहीं करता किन्तु पुण्यात्माओंकी तरह दिखाई देता है। वह तो अकर्ता अभोक्ता है किंतु सबकुछ करता और भोगता हुआ समझा जाता है। जो उसमें पापोंको देखते हैं वह वास्तवमें दूसरोंके पापोंसे उसे पापी ठहराते हैं और जो उसमें पुण्य पाते हैं वह दूसरोंके पुण्योंसे उसे पुण्यात्मा समझते हैं इस प्रकार वह दूसरोंके पुण्य और पापों से पुण्यात्मा और पापी होता है क्योंकि पुण्य और पाप तो उसके अंग और इन्द्रियोंमें हैं उसमें नहीं इसी

कारण श्रुति भगवती कहती है कि-आत्मा धर्म और अधर्म इन दोनोंसे अलग है।

(४) जब यह प्रतीत होगया कि-आत्मा असंग और धर्म अधर्मसे अलग है और अनात्मशरीर तथा इन्द्रियों के कर्म जो दूसरे हैं उसमें कल्पित हैं अतः यह न्याय है कि दूसरेके पापोंसे कोई सजा नहीं पाता और दूसरों के कर्मों से किसीको पुरस्कार भी नहीं मिलता इसीलिये आत्मनिष्ठ परमहंस पाप और पुण्य दोनोंसे मुक्त है और यही वास्तवमें मुक्ति है और यही जीवन्मुक्ति है।

(५) फिर क्योंकि वासना क्रोध काम और सदाचार और उच्चता नीचता तथा इन्द्रियोंकी और अन्तःकरणकी सब वृत्तियें भी उसके धर्म हैं आत्माके नहीं हैं आत्मा तो मनसे अलग मनमें प्रतिबिम्बित स्वयं-ज्योति और प्रकाशोंका प्रकाश है उसके प्रकाशमें मन इन वृत्तियोंसे बर्ताव करता है जब कि मन भी आत्मासे पृथक् है तब उसके धर्म भी आत्मासे भिन्न हैं और वासना मनका धर्म है तो दूसरेकी वासनासे वासनावान्‌सा होता है किंतु वासनावान् नहीं है इसप्रकारके ज्ञानसे वासनाकी जड़ उखड़ जाती है। जो पुरुष तपसे वासनाको दबाते हैं तो उनकी वासना कम होजाती है और यहाँ तक दब जाती है कि दूसरों को दिखाई भी नहीं देती परन्तु वासनाकी जड़ जो मन है वह नहीं उखड़ता और जब अवसर मिलता है तब वासना के रूपमें लहरें लेने लगता है।

(६) इसके विपरीत ज्ञानीके मनमें वासना तो होती है परन्तु आत्मामें प्रतीत नहीं होती हठसे तप करने

वालोंकी तरह बाहरसे दबती भी नहीं किंतु स्पष्ट दिखाई
देती है तो भी यह दूसरेका धर्म है अन्तःकरणका धर्म है
आत्माका नहीं है ज्ञानीमें तो वासना होतीहुई भी नहीं
होती और अज्ञानीमें नहीं होतीहुई भी होती है। इसी
लिये सर्वसाधारण उल्टा ही समझते हैं वे लालचीको
बेलालच और बेलालच को लालची जानते हैं अर्थात्
वासनारहितको वासनावाला और वासनावालेको वास-
नारहित जानते हैं और यही कारण है कि-ज्ञानीको कोई
नहीं पहचानता, ब्रह्मज्ञानी की गतिको ब्रह्मज्ञानी ही
जानता है।

(७) अनजान आदमी उसको अच्छा समझते हैं जो
प्रयत्न करके वासनाको दबा लेता है और उसीको मुक्त
समझते हैं और उसकी सेवा और शुश्रूषामें लगे रहते
हैं किन्तु ज्ञानीमें लालच अर्थात् वासनाको देखते ही उस
को धकेल देते हैं और अच्छा नहीं मानते तब वह अपने
साक्षीपनके कारण उनसे कहता है, कि-"मैं तो बेलालच
हूँ यह तो शरीरका धर्म है कोई शरीरके कुकर्मों से
कुकर्मी नहीं होजाता है", तो उसको हँसीमें उड़ादेते हैं
और उसे वाचक ज्ञानी कहते हैं। इस प्रकार ज्ञानी और
भक्तोंका झगड़ा होजाता है।

(८) अगर शास्त्रका ज्ञान रखने वाला ध्यान करे तो
जान सकता है, कि-उनका झगड़ा इस प्रकारका है, कि-
जैसे एक बिल्लौरके गिलासमें लाल शराब भरदी जाय
तो गिलास भी लालसा दिखाई देता है। उस समय
चतुर और अनजान पुरुषमें झगड़ा होने लगता है, अन-
जान पुरुष तो कहता है, कि-गिलास लाल है और जानने

वाला चतुर पुरुष कहता है, कि-गिलास लालीसे रहित है और दूसरेकी लालीसे अर्थात् औपाधिक लालीसे यों ही लाल दिखाई देरहा है ।

(९) हम पहिले परिच्छेदमें यह प्रमाणित कर चुके हैं, कि-आत्मा केवल प्रकाश है जिसमें अंग और इन्द्रियें काम करती हैं यद्यपि उनका काम आत्मप्रकाशके विना नहीं होसकता तो भी वह प्रकाश उनके कामसे लिप्त नहीं होता किंतु जिस प्रकार संसारका काम सूर्य और दीपकके प्रकाशमें होता है तो सूर्य और दीपक उसका कर्ता नहीं होता यही हाल भीतरी आत्मज्योतिका है।

(१०) किन्तु सूर्य या दीपक बाहरी प्रकाश-अनात्म-ज्योति हैं इसलिये उनमें दूसरोंका काम कल्पित भी नहीं होता और यह प्रकाश आत्मज्योति तो उनका भीतरी प्रकाश है इस लिये इन्द्रियोंका वर्ताव उस गिलास और शरावके अनुसार होता है जिसका कि-ऊपर वर्णन किया गया है उस प्रकाशमें अनजानको इस प्रकार भ्रम होने लगता है कि-जिसप्रकार शीशेके महलमें जानेवाले एक कुत्तेको शीशेमें अपने प्रतिबिम्बको देख कर भ्रम होता है और वह नाहक भौंकता है ।

(११) हम पिछले परिच्छेदमें प्रमाणित कर चुके हैं कि-आँख देखती है कान सुनता है नाक सूँघती है जिह्वा चखती है वाणी बोलती है हाथ पकड़ता है पैर चलता है और उनका यह सब काम भीतरी प्रकाश आत्माके प्रकाशसे होता है जिस प्रकार कि-लेखक प्रकाशमें लेख लिखता है परन्तु जिस प्रकार लिखनेका सम्बन्ध प्रकाश (सूर्य या दीपक) में नहीं होता उसी प्रकार क्या आँख

क्या कान क्या नाक क्या जिह्वा क्या वाणी क्या हाथ
क्या पैरका वर्ताव आत्मा का वर्ताव नहीं होता है किंतु
वह तो देखता हुआ नहीं देखता, वह सुनता हुआ नहीं
सुनता, वह बोलताहुआ नहीं बोलता, वह पकड़ता हुआ
नहीं पकड़ता, वह चलता हुआ नहीं चलता जैसे वह
गिलास लालहुआ भी लाल नहीं होता है।

(१२) फिर क्यों कि-भूख प्यास भी प्राणोंका स्व-
भाव है जब शरीर चेष्टा करतेहुए थकजाता है तो उसके
बदलेमें वह (प्राण) अन्न और जलकी आवश्यकताका
अनुभव करते हैं और उसे खाकर श्रमको अर्थात् क्षीण-
ताको दूर करदेते हैं यद्यपि यह प्राणोंका वर्तावभी उसी
आत्मज्योतिके प्रकाशमें होता है किन्तु उसी प्रकार वह
आत्मप्रकाशसे लिप्त नहीं होता जिसप्रकार शराबकी
लाली गिलासमें किन्तु वह आत्मा भूखमें भी भूखरहित
और प्यासमें भी प्यास रहित होता है।

(१३) इसी प्रकार शोक वासना क्रोध दया काम पवि-
त्रता प्रेम परिश्रम और शत्रुता आदि सब चित्तकी वृत्तियें
हैं और बेशक यह भी उसी भीतरी प्रकाश आत्मज्योति
के कारणसे चित्तमें लहरें लेते हैं किन्तु चित्तकी लहरें
हैं आत्मामें कुछ लगावट नहीं पाती वह तो इस सबका
देखनेवाला गवाह है जिसे संस्कृतमें साक्षी कहते हैं और
किसी मामलेमें जो गवाह होता है वह फरीक नहीं
होता है अर्थात् उसे उसका फल नहीं भोगना पड़ता।

(१४) सार यह है, कि-प्राणके अंग और इन्द्रियों
के सब काम इसी आत्मज्योतिके प्रकाशमें अथवा इसके
सान्निध्यमें होते हैं तो भी यह उनका कर्त्ता नहीं होजाता

है ज्योंका त्यों शुद्ध असंग आत्मा रहता है। इसी कारण याज्ञवल्क्य मुनिने राजाको जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिमें दूसरे के कर्मों और स्वभावोंका आत्मामें निषेध बताकर आत्मज्ञानका उपदेश दिया है।

(१५) जो जिसका स्वभाव होता है वह उससे अलग नहीं होता जाग्रत्में जो जाग्रत्के कारोबार होते हैं यद्यपि वह जाग्रत्में आत्मा ही दिखाई देते हैं किंतु स्वप्नमें जाग्रत्के कारोबार तो यहाँ ही रह जाते हैं और स्वप्नके कारोबार उसमें ही कल्पित हो जाते हैं इसी प्रकार स्वप्नके कारोबार जाग्रत्में नहीं आते तो मालूम हुआ जाग्रत् और स्वप्नके कारोबार उन अंग और इन्द्रियोंके कारोबार हैं जो प्रत्येक शरीरमें आत्मप्रकाशमें काम करते हैं जैसे कि-गिलासमें लाल शराब भरने पर गिलास लाल होता है और शराब निकालकर दूध भरदें तो सफेद दिखाई देता है

(१६) किन्तु जब इस गिलासमें शराब या दूध न भरा जाय किन्तु खाली रखा जाय तो वह न लाल होता है न सफेद होता है इसी प्रकार गाढ़ निद्रामें सब कारोबार आत्मामें नहीं होते इससे मालूम हुआ कि—आत्मा न कुछ जाग्रत्में करता है और न कुछ स्वप्नमें करता है, किन्तु जाग्रत्में दूसरे अंगोंके कारोबार और स्वप्नमें दूसरी इन्द्रियोंके कारोबार उसमें भ्रमसे कल्पित प्रतीत होते हैं किन्तु देखना उस आत्माका स्वाभाविक धर्म है क्योंकि-जाग्रत्के कारोबार जाग्रत्में देखता है और स्वप्नके कारोबारोंको स्वप्नमें देखता है तथा गाढनिद्रामें इन्द्रिय आदि सबके लयको और उनके कारोबारोंके लयको भी देखता है इसी लिये मालूम हुआ कि-देखना उसका निजी धर्म

है। और यह प्रकट है कि–जो खुद नहीं करता किन्तु देखता रहता है वह वास्तवमें साक्षी है गवाह है और गवाह पर कुछ इलजाम नहीं आता।

(१७) इसी प्रकार जाग्रत्में आया हुआ ज्ञानी भी अपने अंगोंके जो कुछ कारोबार देखता है उनमें गवाह होकर रहता है, जब बुद्धि भले बुरेका विवेक करती है तो उसके अनुसार विचार उठता है और विचारके अनुसार (कुदरत) शक्ति उठती है और शक्तिके अधीन होकर अंग उठते हैं और कारोबार करते हैं और अहंकार उनको अपना काम मानता है क्योंकि–उसका यही स्वभाव है, किन्तु जब आत्मनिष्ठ ज्ञानी एक एकके कारोबार और उनके केवल औपाधिक सम्बंधको देखता है। और तमाशाई रहता है अतः उनके कारोबारसे लिप्त नहीं होता इसी कारण वासना भी जो संसारकी जड़ है एक प्रकारका विचार है वह बुद्धिके आधीन रहती है, और क्या बुद्धि क्या वासना क्या विचार क्या अहंकार यह सब अन्तःकरणके धर्म हैं और उसीकी लहरें अर्थात् वृत्तियें हैं। इसीप्रकार इस ज्ञानके कारण वासनाकी जड़ उखड़ती है और वह जड़ (मजाहदा और रियाजत) तपसे नहीं उखड़ सकती, इसी कारण याज्ञवल्क्यने उपदेश दिया है कि–जो वासनाकी जड़को उखाड़ते हैं उन पर संसारका प्रभाव नहीं पड़ता और वासनाकी जड़को वही उखाड़ते हैं जो आत्माको जानते हैं।

(१८) इसप्रकार प्रमाणित हुआ, कि—आत्मज्ञानसे लालच अर्थात् वासना उखड़ती है और लालच ही क्या

अहङ्कार क्रोध नीचवृत्ति और उच्चवृत्ति आदि सब उखड़ जाते हैं क्योंकि-यह तो इन सबके तमाशेका तमाशाई होता है और तमाशाई(तमाशा देखनेवाला) स्वयं तमाशा नहीं होजाता इसलिये श्रुतियां कहती हैं कि ऐसा ज्ञानी न्यायकी सीमासे निकलकर स्वरूपमें स्थित हो जाता है पुण्य पाप उसपर प्रभाव नहीं जमासकते न तो वह पुण्योंसे बढ़ता है और न पापोंसे घटता है वह ज्यों का त्यों तमाशाई ही रहता है।

(१९) इस ज्ञानके ऊपर कोई २ अभनिज्ञ पुरुष यह आक्षेप करते हैं यद्यपि आत्मा असङ्ग तमाशाई और साक्षी रहता है परन्तु जिसप्रकार अहंकार यहाँ अभिमान करता है उसीप्रकार यह अन्तमें भी सजा पाता है तो उनका यह आक्षेप ठीक नहीं है क्योंकि—भेदकी बात यहाँ यह है कि—ऐसा ज्ञानी जबतक जीवित है उसके अंग और इन्द्रियें चित्रोंकी समान होजाते हैं और मृत्युमें यह सब इस प्रकाशमें उसीप्रकार लीन होजाते हैं और आधिदैविक इन्द्रियें उसमें इसप्रकार भरजाती हैं जिसप्रकार एक स्थानकी वायु हटती है तो (कुल्ली हवा)दूसरी वायु वहाँ आजाती है इसलिये आत्मज्ञानी की उत्क्रान्ति नहीं होती किन्तु ईश्वरीय मायाके कारोबार उसमें इसप्रकार कल्पित होजाते हैं,कि-जिसप्रकार जीवन में आध्यात्मिक इन्द्रियोंके कारोबार कल्पित होते हैं। इसलिये जिसप्रकार यहाँ वह सूक्ष्म इन्द्रियोंके कारोबारसे वही कर्ता प्रतीत होता था इसीप्रकार ईश्वरके काम उसके काम होजाते हैं और यही स्वर्गविजय है जो मुफ्त मिलती और इसीकारण यह उच्चता कहलाती है और

(२६) और यह प्रकट है, कि- शीशेमें जो अपना मुख दिखाई देता है उससे अपना ऐक्य सम्बन्ध होता है और शीशेके हिलनेसे (अक्स) प्रतिबिम्ब भी हिलता है और (साहबे अक्स) प्रतिबिम्ब ज्योंका त्यों ही रहता है तो भी चतुर मनुष्य जानता है कि-मैं या मेरा मुख नहीं हिलरहा है,किन्तु शीशा हिलरहा है और अनजान बच्चा समझता है कि-मैं हिल रहा हूँ। इसी प्रकार अहंकार और अन्तःकरणके वर्तावसे आत्माका प्रतिबिम्ब भी वर्ताव करता हुआ दिखाई देता है किन्तु ज्ञानी विश्वास नहीं करता और समझता है कि-मैं आराम में हूँ किन्तु अज्ञानी पुरुष दुखकी मनोवृत्तियोंमें दुःखी और सुखकी मनोवृत्तियोंमें सुखी होनेका ध्यान करता हुआ सुख दुख पाता है।

(२७)ज्ञान तो भ्रमको हटाता है और वह अंतःकरण या अंतःकरणकी वृत्तियोंको नहीं हटाता है और शरीर तथा कर्मोंको भी नहीं हटाता है हमारे स्पष्ट कियेहुए इसप्रकार के ज्ञानसे भ्रम दूर होजाता है परंतुउससमय अंतःकरण अंतःकरणकी वृत्तियाँ सब वैसे ही चलती रहती हैं और कर्म भी वैसे ही काम करते हैं और भोग देते हैं किन्तु ज्ञानी पुरुष शीशेमें मुख देखने वाले चतुर पुरुषकी समान उनमें वर्ताव देखता हुआ अपने आप उसी प्रकार आनंद में मग्न रहता है और अज्ञानी पुरुष उन वृत्तियोंके साथपृ एक हुआ आप वर्ताव करता हुआसा होजाता है।

(२८) यहाँ रहस्यकी एक बात यह और है, कि— जब तक यह भ्रम और अज्ञान है तब तक यद्यपि अंगों के थक जानेके कारण गाढ़ निद्रामें अन्तःकरण और अंतः-

करणकी वृत्तियाँ लीन होजाती हैं तब भी वे अज्ञान में जो उनका माद्दा (प्रकृति) है लीन होती हैं और फिर भोगके वास्ते कर्मोंके कारण जाग्रत्‌में उठती हैं पर जब यहाँके भोगके कर्म समाप्त होजाते हैं और दूसरी योनिके भोगके कर्म (तुलूअ) प्रकट होते हैं तो इस शरीरसे (अमली इलाका) कर्मोंका संबंध टूटजाता है और दूसरे शरीरसे सम्बंध पाजाता है और यही संसार है। इसलिये संसारकी जड़ वासना और अज्ञान है।

(२९) किंतु ज्ञानी अपनी वास्तविक पहचानके कारण अज्ञान और वासनाको दूर कर देता है, परन्तु उसके भोग और अन्तःकरणकी वृत्तियाँ अज्ञानीकी समान जीवन भर वर्ताव करती हैं, जैसे जड़से काटा हुआ वृक्ष भी कुछ नियत दिनों तक हरा रहता है, किन्तु समय आने पर जैसे जड़ कटा हुआ वृक्ष स्वयं ही सूख जाता है,इसी प्रकार यहाँके भोग जब समाप्त होते हैं तो मृत्यु के समय ज्ञानीके प्राण और मनोवृत्तियों आत्मामें लीन होजाती हैं, बाहर नहीं उठतीं और ईश्वरके प्राण तथा मनोवृत्तियोंमें मिल जाती हैं।

(३०) जिस वृक्षको जड़से नहीं उखाड़ा जाता, किंतु ऊपरसे छाँट दिया जाता है, तो फिर वह अंकुर निकाल लेता है, इसी प्रकार आत्माकी भ्रमकल्पित या अज्ञान कल्पित जो संसारकी जड़ है, जब दूर नहीं होती है तो भोगके समाप्त होनेके कारण यद्यपि छाँटकी समान शरीर और अंग दूर होजाते है, किन्तु जड़में तो वह स्थित रहते हैं, इस लिये फिर दूसरी योनिके शरीर और अंगोंके अंकुर निकाल लेता है और जन्म पाता है।

यह न्यायसे कठिनतासे मिलती है और मिल भी जाती है तो दूर होजाती है।

(२०) क्योंकि-जो बनाया जाता है वह अवश्य ही नाशवान् होता है और आत्मविद्यामें तो जानना है बनाना नहीं है इसकारण यह विजय नित्य है और अदलमें अर्थात् न्यायानुसार तप आदि करनेमें बड़ा परिश्रम पड़ता है बड़ा समय लगता है बड़ी अवस्थाकी तथा मजदूरीकी आवश्यकता है फिर भी उसका फल नित्य नहीं होता है और ज्ञानमें तो न कुछ मजदूरी देनी पड़ती है न कुछ परिश्रम पड़ता है केवल आत्माको जानना होता है और यही सिद्धि है यह अदल अर्थात् तपकी आदि अपेक्षा बड़ी कठिनतासे मिलती है और तप आदि के फलकी अपेक्षा नित्य है इसीकारण याज्ञवल्क्य मुनि ने इस बातको विचारनेके लिये कहा है कि-ज्ञानीके प्राण फिर नहीं उठते किन्तु ब्रह्म होजाते हैं।

(२१) अब हम भाषा जाननेवालोंके लिये इस भेदभरी बातको खोलनेके लिये कहते हैं,कि-यह बातें युक्तियुक्त भी हैं और वेदसे भी सिद्ध हैं इसलिये हम पहले इस भेदकी सत्यताका कारण बतलावेंगे और फिर श्रुतियोंका अनुवाद करेंगे जिससे कि-जिज्ञासुओंके मनमें फिर शंका न उठ सके।

(२२) इस आक्षेपका उत्तर यह है, कि-अन्तःकरण में आत्माका सम्बन्ध भ्रमकल्पित है और अन्तःकरणसे उसके प्रतिबिम्बका साथ रहनेका सम्बन्ध है और अन्तःकरणका शरीरसे (असली) कर्मसम्बन्धी संबंध है। क्योंकि-जब तक उसके कर्म हैं,तब तक अन्तःकरण और

अध्यात्म इन्द्रियोंका शरीरसे मिलाप रहता है। जब उस के यहाँके भोग समाप्त होते हैं और दूसरे नवीन कर्म भोग देनेके लिये तयार होते हैं तो यह इन्द्रियें इस शरीर से सम्बन्ध छोड़ देती हैं और दूसरी योनिके शरीर से सम्बंध उत्पन्न करलेती हैं और वहाँके भोग पाजाती हैं

(२३) किन्तु आत्माका जो सम्बंध अन्तःकरणसे है, वह (असली) कर्म संबंधी नहीं है, किन्तु (हमजादगी) साथ रहनेका सम्बंध है। क्यों कि—जब अन्तःकरण उत्पन्न होता है, उसी समय उसमें आत्माका प्रकाश पड़ता है। जैसे कि-शीशेपर पालिस करते समय पालिस करनेवालेका (अक्स) प्रतिबिम्ब उसी समय पड़ता है।

(२४) प्रति दिन गाढ़ निद्रामें क्या मन और क्या इंद्रियाँ सब लीन होजाती हैं। तब वहाँ न तो लालच (वासना) दिखाई देता है, न क्रोध दिखाई देता है, न काम दिखाई देता है और न अहङ्कार, न तू, न मैं, किन्तु सबका अभाव और बेखबरी दिखाई देती है। किन्तु फिर जाग्रत्में अथवा स्वप्नमें यह मन और मनोवृत्तियाँ नई ही प्रकट उत्पन्न होती हैं और आत्माका प्रतिबिम्ब भी साथ ही प्रकट होता है और उनको प्रकाशित करता हुआ अहङ्कारके सम्बन्धसे उसमें खुदीका वहम पाता है इससे प्रमाणित होता है कि—अन्तःकरणसे प्रति बिम्बका सम्बंध (हमजादगी) साथ रहनेका है।

(२५) क्यों कि बिम्ब और प्रतिबिम्बमें ऐक्य संबंध होता है इसलिये भ्रमके करण यह प्रतिबिम्ब बिम्ब प्रतीत होता है और इसी सम्बन्धको भ्रम कहते हैं।

(३१) ज्ञानीका शरीर अन्तःकरण और अन्तःकरण की वृत्तियाँ तो जड़से कटजाती हैं और मृत्युके समय यह प्राण तपे हुए तवे पर पड़ने पर जलने वाली पानी की बूँदोंकी समान आत्मामें लीन होजाते हैं फिर दुबारा उसी प्रकार अङ्कुरित नहीं होते जिस प्रकार जड़से कटा हुआ वृक्ष फिर अंकुरित नहीं होता है और यही उसकी मुक्ति है ।

(३१)यहाँ एक और भी शंका होने लगती है,कि-जब ज्ञानीका भ्रम और अज्ञान ज्ञानसे दूर होजाता है तो जिस प्रकार मृत्युके समय उनका लय होता है इसीप्रकार गाढ़ निद्रामें भी प्रतिदिन लय होता है तो फिर गाढ़निद्रा से भी उसे नहीं उठना चाहिये और ज्ञानीको भी अज्ञानी की समान सोता और जागता हुआ देखते हैं और जब कि-ज्ञानीकी मनोवृत्तियाँ भी गाढ़निद्रामें लीन होजाती हैं और उठती हैं तो फिर वह कारण प्रतीत नहीं होता कि-वे मृत्युके बाद फिर न उठें ।

(३३) इसका समाधान यह है,कि-निद्रामें कर्मेंद्रियें और मन वेकार होते हैं और अपने नियत मकान प्राण में लीन होजाते हैं, यद्यपि आँख आँखमें जो, कि-आधि-भौतिक है वेकार हुई लीन होजाती है और मन हृदय कमलके उस कोषमें जो उसके ऊपर परदेकी समान लिपटा हुआ है वेकार होकर पुरीतति नाड़ीमें लीन होजाता है और इसको संस्कृतमें पुर्यष्टका नाड़ी कहते हैं क्योंकि-यह (गिलाफ) कोष सूक्ष्म नाड़ियों और अङ्गोंसे बनाया गया है और नाड़ीकी समान हृदयकमल पर लिपटा हुआ है और चैतन्य आत्माका प्रतिबिम्ब चित्तके भीतर जो

आकाश है उसमें बिम्बसे एक होजाता है वह बिम्ब ब्रह्मका है किन्तु प्राण बेकार या लीन नहीं होते यही कारण है, कि-सोता हुआ तो श्वास लेता है और मुर्दा फिर श्वास नहीं लेता।

(३४) निद्रामें इन्द्रिय और अन्तःकरण प्राणोंमें बेकार हुए उसीप्रकार लीन होजाते हैं जिसप्रकार सूर्यकी किरणें अस्तके समय सूर्यमें लीन होजाती हैं और जाग्रत या स्वप्नमें उसी प्रकार निकल आती हैं कि-जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर किरणें फिर निकल आती हैं इस कारण प्राणोंके निकलने या लीन होने तक अज्ञानी और ज्ञानी में जाग्रत् और निद्राका बर्ताव होता रहता है जब केवल इन्द्रियें ही बेकार होती हैं तब मन जब तक कारोबार करता रहता है तो स्वप्न होता है परन्तु जब मन और इन्द्रियें दोनों बेकार और लीन होजाते हैं तो गाढ़निद्रा होती है उसको सुषुप्ति कहते हैं और जब प्राण निकल जाता है या आत्मामें लीन होजाता है तो मृत्यु होजाती है

(३५) किंतु अज्ञानीके प्राणोंकी जड़ तो अज्ञान और भ्रमसे कल्पित होती है इस लिये प्राण आत्मामें लीन नहीं होजाता है किंतु उठता और निकलता अपने कर्मों के अनुसार भोगोंके लिये नवीन शरीर बनाता है उससे (असली ताल्लुक पाजाता है) कर्म सम्बन्ध उत्पन्न कर लेता है जिसको कि-नया जन्म कहते हैं और ज्ञानीके प्राणोंकी जड अविद्या और वासनाकी सतहसे उखड़जाती है फिर यहाँके भोगोंके समाप्त होनेसे जड़ कटाहुआ प्राण न उठता है न निकलता है, किंतु आत्मामें लीन होजाता है इस लिये उसकी इन्द्रियें और मनोवृत्तियें निद्रामें तो फिर निकलती हैं परंतु मृत्युमें नहीं निकलतीं।

(३६) जब यह प्राकृतिक सिद्धान्त प्रतीत हुआ तो प्रमाणित होता है, कि-ज्ञानी और अज्ञानीका वर्ताव जीवन भर एक साही होता है। जीवनमें यही मुक्ति होती है, कि—वह अन्तःकरणकी सुख दुःख रूप वृत्तियोंको अन्तःकरणमें चलती देखता है अपनेमें नहीं देखता और अपने स्वरूपानन्दमें मग्न रहता है और अज्ञानी अपनी आत्मा तथा मनोवृत्तियोंके स्वरूपको न जाननेके कारण मनकी दुःखसुखरूप वृत्तियोंमें दुःखी और सुखी होता है, यद्यपि जीवनमें जिस प्रकार अज्ञानीका अहंकार उन वृत्तियोंके वर्तावको अपनेमें मानता है बिलकुल वैसे ही ज्ञानीका अहंकार भी उनका वर्ताव अपनेमें मानता है, अज्ञानीको तो अहंकारमें अहंत्वका अभिमान होता है और ज्ञानीको अहंकारमें अहंत्वका अभिमान नहीं होता किन्तु आत्मामें जो कि—वास्तविक आनन्द है उसमें खुदीका ध्यान होता है अर्थात् अहंत्व होता है और इसी ध्यान के कारण वह विश्वास करता है कि-मैं ब्रह्म हूँ और यही ज्ञान है, कि—जो दुःख सुखका अनुभव नहीं होने देता।

(३७)—तब भी जब तक अहंकार है उन सुख दुःख रूप वृत्तियोंको अपनेमें मानता हुआ बुद्धिरूपी मंत्रीके द्वारा दुःखको दूर करनेके लिये और सुखको पानेके लिये चेष्टा करता है और विचार तथा शक्तिसे अङ्गोंको हिलाता है उसके यहाँके भोगके कर्म उसके अहंकार बुद्धि विचार वासना शक्ति और अंगोंकी चेष्टाके कारण हुए हैं और आत्मा तो दीपककी समान उनके वर्तावमें प्रकाशक और साक्षी रहता है किन्तु अज्ञानी अहंकारमें अहंत्वका भ्रम-

कल्पित विचार रखता है तो अपने आप ही तमाशा और कर्म करनेवाला होजाता है और ज्ञानी अहंकारमें अनात्मत्वका ध्यान और आत्मामें अहंत्वका ध्यान रखता है और इस सारे तमाशेका तमाशाई और साक्षी रहता है और उनके वर्ताव या कर्मसे सम्बन्ध नहीं पाता है।

(३८) निःसन्देह दूसरोंकी दृष्टिमें ज्ञानी और अज्ञानी का वर्ताव एकसा प्रतीत होता है परन्तु उसका कारण यह है कि–जैसे अज्ञानीका अहंकार उन वृत्तियोंके अहंकारको अपनेमें मानता है इसी प्रकार ज्ञानीका अहंकार भी उन वृत्तियोंके वर्तावको अपनेमें मानता है और जिस प्रकार अज्ञानीका अहंकार अपने लाभके लिये बुद्धिरूपी मन्त्रीके द्वारा उपाय करता है इसीप्रकार ज्ञानीका अहंकार भी बुद्धिरूपी मन्त्रीके द्वारा शरीरके लाभके लिये उपाय करता है और इसीकारणसे क्या ज्ञानी और क्या अज्ञानी यह दोनों ही संसारमें दूसरोंके अपराधों से अपराधी बनकर राजासे एकसा ही दण्ड पाते हैं परंतु अज्ञानी तो परलोकमें भी अपनी करतूतोंका बदला पाता है क्योंकि–उसका अहंकार तो दूसरे जन्ममें फिर उठता है और पहली करनीका बदला पाता है, किन्तु ज्ञानीके प्राण तो यहाँ ही लीन होजाते हैं और अहंकार भी लीन होजाता है फिर नहीं उठता इसी कारण उसके अपराध क्षमा होजाते हैं और अज्ञानीको क्षमा नहीं मिलती।

(३९)-संसारके जो राजे अज्ञानी हैं और इस भेद को नहीं जानते वह संसारके प्रकट अपराधके कारण ज्ञानी और अज्ञानीको एकसा दण्ड देते हैं किन्तु वह

राजे जो इस भेदको जानते हैं, कि–ज्ञानीसे भ्रमके अतिरिक्त तथा कर्मोंके भोगके कारणोंके अतिरिक्त और किसी कारणसे ऐसी हरकत नहीं होसकती वह ज्ञानीको थोड़ा दण्ड दिया करते हैं और अज्ञानीके समान उसको दण्ड नहीं देते हैं। वे उसको इसलिये दण्ड दिया करते हैं, कि-वह असावधान न रहे और संसारके प्रबन्धमें गड़बड़ी न होजाय, इसीलिये मनुस्मृतिमें शूद्रोंकी अपेक्षा तत्त्वज्ञानी ब्राह्मणोंको कमती दंड देनेका विधान कियागया है

(४०) क्या शास्त्रको जाननेवाला यह नहीं जान सकता कि–जिस चतुरपुरुषसे भूलसे अपराध बनजाता है उसको धिक्कार देना ही इसप्रकार काफी होता है जिसप्रकार कि–जानकर अपराध करनेवाले अपराधीको सूली देना। किन्तु ज्ञानीसे अपराध होजानेपर उससे तो इतना ही कहना काफी है, "कि-धन्य है तुम्हारी चतुराई" फिर वह सावधान रहता है और अपराध करनेसे बचा रहता है, अज्ञानीको तो बारम्बार कैदमें डाल देते हैं फिर भी वह चोरी करता है।

(४१) वर्तमान कानूनके अनुसार जो एकसा दण्ड दिया जाता है और पुराने मनुजीके कानून पर जो आक्षेप किया जाता है वह इस रहस्यके न जाननेके कारण ही कियाजाता है। पहले तो ज्ञानी अपराधोंमें नहीं फँसता है यदि भूलसे उससे अपराध बन भी जाता है तो यद्यपि संसारमें दण्ड पानेका पात्र होजाता है तब भी मुक्तिके समय उसको क्षमा मिलजाती है और जिसप्रकार उसके अपराध क्षमा होजाते हैं उसी प्रकार उसके पुण्य भी बेकार हैं क्योंकि-पुण्योंका फल भी अहंकार ही भोगता

है और आत्मामें लीन होने पर फिर दुबारा नहीं उठता फिर फल किसको मिले ? इस लिये क्या सत् और क्या असत् उसके जो कुछ कर्म होते हैं वे सब उसके लिये खेलसे हैं और वह उन सबसे मुक्त है इसलिये वास्तव में ज्ञानी निरपराध होता है दूसरा कोई भी निरपराधी नहीं है सबके सब अपराधी हैं क्योंकि–अपराधोंकी जड़ तो वास्तवमें वासना है और आत्मज्ञानके बिना वासना जड़से नहीं उखड़ सकती और आकाशसे लेकर पृथ्वी तक कोई भी लालचसे अर्थात् वासनासे खाली नहीं है इसलिये सब अपराधी हैं और कोई भी मुक्त नहीं है, आत्माका जाननेवाला वास्तवमें निरपराध और मुक्त है।

(४२) ज्ञानी अपने कर्म और अपराधोंसे मुक्त है उसमें यह और विशेषता भी है कि–उसको कर्म और प्राणोंसे मुक्ति मिलकर ईश्वरीय काम लुभावमें ही मिलजाते हैं सत्कर्म करनेवालोंको तो सत्कर्म करनेके परिश्रमका फल मिलता है। जितना सत्कर्म करते हैं उतना ही दिव्य भोग पाते हैं किन्तु मज़दूर और गुलाम घरका मालिक नहीं होता और मज़दूर तथा गुलाम सर्वदा घरमें भी नहीं रहसकता किंतु जब मज़दूरी या चाकरी समाप्त होजाती है तो ढकेलकर घरसे बाहर निकाल दियाजाता है इसलिये यद्यपि आत्माज्ञान न रखने वाला अज्ञानी पुरुष सत्कर्म और पुण्योंको बड़े तप और परिश्रमसे करता है तो पितृयान सड़क पर चलता हुआ नियत समय तक दिव्यभोगोंको पाता है परन्तु फिर भी स्वामीकी समान स्वतन्त्र नहीं होता तथा भोग समाप्त होने पर वहाँसे फिर ढकेल दिया जाता है।

(४३) ज्ञानी तो वास्तवमें घरका पूरा मालिक है ईश्वरका भी आत्मा है क्योंकि-मृत्यु में उसकी आंशिक मनोवृत्तियें और प्राण उसकी आत्मामें लीन और शुष्क होजाते हैं तब परमेश्वरकी मायावृत्तियें और प्राण उसके स्थानमें इसी प्रकार आजाते हैं जिस प्रकार कि--एक स्थानकी वायु निकलने पर बाहरी वायु उसके बदलेमें मुफ्त ही आजाती है और उन मायावृत्ति तथा प्राणवृत्तियोंका आश्रय बना हुआ यह ज्ञानी उसी प्रकार बिम्ब रहता है जिसप्रकार कि-जीवनमें अपनी आंशिक मनोवृत्ति और प्राणवृत्तियोंके लिहाजसे बिम्ब था।

(४४)-हम पहले वर्णन करचुके हैं, कि-बिम्ब और अन्तःकरणका सम्बन्ध साथ रहनेका है अतः जब इसमें ईश्वरकी मायावृत्ति और प्राणवृत्ति प्रवेश करती हैं तो उसका प्रतिबिम्ब मायावृत्ति और प्राणवृत्तिमें जो प्रकट होता है वह वास्तवमें ईश्वर है और उसके संकल्प ईश्वरके संकल्प कल्पित होते हैं और ईश्वरका अहंकार उसका अहंकार होजाता है और जिसप्रकार यहाँ जीवनमें उसके आंशिक अहंकार बुद्धि विचार शक्ति और अंग काम करते थे उसीप्रकार परमाहंकार ईश्वरीयबुद्धि नित्यविचार और ईश्वरीय शक्ति उसमें वर्ताव करते हैं और वह अपनी सत्तामें नित्यमुक्त असंग आत्मा रहता है, (खालिक) उत्पन्न करनेवाला (राजिक) पोषण करनेवाला अर्थात् हर्ता कर्त्ता होजाता है और पूरा २ स्वतन्त्र होजाता है।

(४५)—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिमें ज्ञानीका उदाहरण इसप्रकार दियाजासकता है, कि-जैसे कि-एक

अतिचतुर युवराज पहले एक छोटेसे राज्यको पाका एक कानून बनालेता है और बड़े २ योग्य चतुर अधिकारी और तहसीलदारोंको नियत करदेता है और स्वयं निश्चिन्ततासे आराम करताहुआ उनके कामोंका निरीक्षण करता रहता है स्वयं कुछ नहीं करता केवल आनन्द करता रहता है इसीप्रकार यह ज्ञानी भी पहले इस संक्षिप्त राजधानी मनुष्यशरीरमें अपने आत्माको असंग और शुद्ध जानताहुआ क्या अहंकार क्या (लालच)वासना क्या विचार क्या शक्ति और कर्मेन्द्रियें तथा क्या ज्ञानेन्द्रियें इन सबसे अलग अपनेको असंग समझकर शरीर से अलग रह कर उनका साक्षी रहता है।

(४६)-उसकी देखभालमें अहङ्कार नामक एक महामन्त्री रहता है वह सब कामोंका जिम्मेवार और सत् असत् कर्मोंका स्वामी होता है और उनको अपनेमें मानता है और बुद्धि उसकी सेक्रेटी बनकर सत् और असत्का विचार करती है उसको बताती है, कि-इसमें तुम्हारा लाभ है और इसमें तुम्हारी हानि है और मन उसे लालच देता है और अच्छा बुरा कुछ नहीं देखता यही विचारता है, कि – जिसप्रकार शरीरकी रक्षा हो वैसा करना चाहिये चित्त अगले पिछले इतिहासोंका स्मरण करता है, कि–इससे यह फल हुआ था और विचार उसका यह परिणाम निकालता है, कि अब भी इस प्रकार करोगे तो यही परिणाम निकलेगा।

(४७)-जब इसप्रकार वृत्तियोंकी सभा होने पर अहङ्कार (सभापति) प्रधानमन्त्री बुद्धिके साथ साथ जब सहमत होजाता है तो फिर विचार उठता है तदनन्तर

जिसके अधीन सब अङ्ग रहते हैं वह बड़ा भारी जन-रल शक्ति उठती है और वह चेष्टा करवाती है तब हाथ पैर उसीप्रकार काम करते हैं,नेत्र यद्यपि देखते हैं, कान यद्यपि सुनते हैं तब भी जब ऊपर सभा (कौंसिल) में निर्णय होजाता है, कि-यह देखनेके योग्य है और इसे नहीं देखना चाहिये, अथवा इसको सुनना चाहिये और इसको नहीं सुनना चाहिये तब यह भी शक्तिके अधीन होकर उसी प्रकार बर्ताव करते हैं और आत्मा जो,कि-दिव्य युवराज है उनको अपने आप आनन्दमें रहकर देखता रहता है और उसीकी दृष्टिके सामने यह सब बर्ताव करते हैं।

(४८) जब यह सब काम करते हुए थक जाते हैं तो इंद्रियें बेकारसी होजाती हैं और अपने२ गोलकोंमें लीन होने लगती हैं आँख आँखमें नाक नाकमें और कान कान में उसी प्रकार प्राणमें लीन होजाते हैं जिस प्रकार सूर्यके अस्तके समय सूर्यकी किरणें सूर्यमें लीन होजाती हैं अथवा जिसप्रकार अग्निकी लपटें जलके कारण अग्नि में लीन होजाती हैं।

(४७) यह प्राण इस शरीररूपी छोटीसी राजधानीका एक बड़ा अधिकारी और रचक है, उन्हें आहार देता है और उन्हें वेतन (तलब) बाँटता है जाग्रत् और निद्रा आदि सब अवस्थाओं में मृत्यु होनेतक उनका नियत आहार और वेतन उनके पास हर समय पहुँचाता रहता है और रात दिन नाक मुँह और रोमकूपोंके मार्गसे श्वास लेता रहता है किन्तु जब यह ज्ञानेन्द्रियें और कर्मेन्द्रियें (मुअत्तिल) बेकारसे होते हैं तब भी कौंसिल

के मेम्बर उसीप्रकार काम करते रहते हैं तथा उपरोक्त अद्भुत दृश्यको धारणाशक्तिके आफिससे अहंकार मन्त्री के पास पेश करते हैं और पृथ्वी वा आकाश तथा और जो कुछ उसमें है सबका निरीक्षण कराते हैं यही (आलमे ख्वाव) स्वप्नावस्था है जो स्वप्न कहलाता है परन्तु जब कौंसिलके मेंबर भी थक जाते हैं तो वे सब भी बेकारसे होकर हृदय कमलमें ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियकी समान लीन होजाते हैं और यह युवराज (जीवात्मा) अपने पिता संसारके सम्राट आत्माकी गोदमें जो कि–चित्तके आकाशरूप तख्त पर प्रकाशित होरहा है जा बैठता है और उससे मिलजाता है।

(५०) इसप्रकार पिता पुत्रके मिलापके समय भी प्राण राजधानीकी वैसीही सेवा करता रहता है और रक्षा रखता है, जब यह अहंकार अपनी कौंसिलके साथ हृदय कमलसे निकलता और फैलता है और मस्तिष्कमें आजाता है तब सब ज्ञानेन्द्रियें और कर्मेन्द्रियें झट पट निकलकर अपने २ मकानोंमें कारोवारके लिये तयार हो कर काम आरम्भ करदेती हैं और (शाहजादा आलम) जीवात्मा पिताकी गोदमेंसे उनकी देखभाल रखनेके लिये प्रतिविम्बकी समान पहले अहंकारमें फिर बुद्धिमें फिर चित्तमें फिर आँख नाक कानमें आकर पितासे मिला हुआ साक्षी रहता है तथा पहलेकी समान ही अपने स्वरूपानन्दमें निश्चिन्त रहता है तथा उनके कारोबारों से निश्चिन्त केवल देखनेवाला रहता है यही जागृति है

(५१) फिरतो हाथ चलते हैं पैर दौड़ने हैं आँख देखती हैं कान सुनते हैं तथा कौंसिलके मेम्बर मस्तिष्कमें

सोच समझकर विचार करते हैं और सबके सब सैनिक उनके आज्ञापत्रकी प्रतीक्षा करते रहते हैं उस समय अच्छी और बुरी आज्ञाएँ दीजाती हैं और उसके अनुसार तामील होती है और प्रारब्धके विधानके अनुसार जहाँ प्रारब्ध अनुकूल होता है और चेष्टा कीजाती है तो भोग मिलते हैं और जहाँ प्रारब्ध सहायक नहीं होता तहाँ भोग नहीं मिलते जब भोग मिलते हैं तो सभापति अहंकार प्रसन्न होता है जब नहीं मिलते तो पश्चात्ताप करता है और खिन्न होता है (शाहजादा आलम) आत्मा जो विवेकके कारण अहंकारसे अलग नित्यानंदमय है उन्हें देखता तो है परन्तु वह न तो उनकी प्रसन्नतासे प्रसन्न होता है और न उनके खेदसे खिन्न होता है और ज्योंका त्यों ही खास आराम जो परमानन्द है उसमें मग्न रहता है और इन सबका साक्षी रहता है।

(५२)--जब अहङ्कारमें प्रारब्धके सहायक होनेसे और चेष्टाके अनुकूल पड़नेपर भोग मिलते हैं, तो उससमय एक आनन्दकी वृत्ति प्रकट होती है और आनंदात्मक आत्मासे उसमें प्रतिबिम्बकी समान आनन्द झलकता है, इस लिये आनन्द भी अहङ्कारी होजाता है, परन्तु जब भोग नहीं मिलते हैं तो चिन्ताके कारण वह वृत्ति स्थिर नहीं रहती, किन्तु हिलते हुए शीशेकी समान अस्थिर और चिन्तित रहती है इस लिये वह (आत्माका आंशिक) आनन्द उसमें प्रतिबिम्बित नहीं होता इसी कारण अहंकार चिन्ता और खिन्नतासे दुःखी होजाता है, किन्तु जब भोग मिलते हैं तो अहंकार नहीं जानता, कि-यह भीतरसे मेरे स्वामी आत्माके खास (आराम, आनन्द

का रस आरहा है, परन्तु वह उसी भोगमें (लज्जत) स्वाद पाता हुआ भोगकी ओर दौड़ता है, और बुद्धि उसको झिड़कती है, कि-यह स्वाद (आनन्द) इस भोगका नहीं, किन्तु भीतर रहने वाले आत्माका है, क्योंकि-यदि भोगोंमें आनन्द होता तो वैराग्यवान् या चित्तके बीमारको भी उनसे आनन्द मिलता। बुद्धिके इस प्रकार झिड़कनेपर अहंकारको भी ज्ञान होता है फिर वह भोगोंकी ओर कम आसक्ति रखने लगता है, और बुद्धिरूपी मंत्रीके इशारेके अनुसार अन्तरात्मामें लग जाता है। उस समय यह बुद्धि उसको शरीराभिमानसे पलट कर फौरन ही आत्माभिमानमें लगा देती है और यह तब होता है जब कारोबारसे निश्चिन्त होकर एकान्तमें ध्यान करता है, तब तो आत्माहङ्कारमें शरीराहंकार भी उसके खास आराममें मिलताहुआ समाधिस्थ होजाता है और यह उसका परमानन्द है।

(५३)-जब यह परमानन्दमें आनन्दी होता है तो बाहरके आनंद स्वयंही हेच होजाते हैं, केवल आवश्यकीय अन्न वस्त्र जिसप्रकार आसानीसे मिल जावें तिसप्रकार उनको पाता है, इतना ही नहीं, फकीरीसे उनको प्राप्त करके शरीरकी केवल रक्षा करता है और एकान्तकी ओर शीघ्रतासे दौड़ा करता है और परमानन्दकी लटक लेता है, तब उसे दौलतका लालच भुलावा नहीं देता है और भोगोंकी इच्छा भी उसको धोखा नहीं देती, क्योंकि-भोगोंमें तो उसी आत्मानन्दकी बिन्दुएँ टपक रही हैं और समाधिमें तो किनारेरहित परमानन्दमें मग्न रहता है, जबकि-वह भोगोंके आनन्दको हेच समझने

लगता है और भोगोंकी साधन दौलत भी हेच होजाती है, तब वह उस पर (तुफ) घृणा करने लगता है और कोई उसको दौलत देता है, तब भी वह उसको हाथ नहीं लगाता, इस प्रकार जीवन्मुक्तिमें नकद आनन्द पाता हुआ विचरता है।

(५४)-जब इसके शरीरके पहिले के कर्म समाप्त हो जाते हैं और मृत्यु समीपमें आती है, तो यह कुछ परवाह नहीं करता है, किन्तु एक छोटीसी रियासतको कुछ समय भोगनेके बाद बड़ी रियासत मिलनेका वायदा पाने वाले राजाकी समान प्रसन्न होता हुआ शरीरके गिरनेको अच्छा समझता है। जीवनमें ही जिसको मुरदा समझकर लहाशकी समान घसीटता था अब वह शरीर साँपकी कैंचुलीकी समान आसानीसे उतर जाता है। जब यह शरीर गिरता है तो क्या प्राण, क्या अहंकार क्या मन, क्या बुद्धि, क्या चित्त सबके सब इस (शाहजादे) आत्मामें लीन हो जाते हैं, फिर नहीं उठते और बापके कुल्ली प्राण और अहंकार और बुद्धि वायुके समान भर जाते हैं और बाप बेटे एक होजाते है और कुल्ली (परम) अहंकारमें उसीप्रकार शाहजादा (आत्मा) गोदसे निकल कर अपने आपको सबरूप देखताहुआ सब भोगों को पाता है, क्योंकि-फिर तो ईश्वरके अहंकारके भोग उसीके भोग कल्पित होते हैं और ईश्वरके सत्काम और सत्संकल्पमें प्रकाशित हुआ वही सत्काम और सत्संकल्प होजाता है और वही हुई बुद्धिमें प्रकाशित होकर संसारका प्रबन्धक, प्राणियोंको उत्पन्न करने वाला और

उनको आहार देने वाला होजाता है, सारांश यह है कि-वह पूर्ण स्वाधीन होजाता है।

(५५)-यद्यपि जीवन्मुक्तिमें उसके (लश्करियान) इन्द्रिय आदि भोग पानेमें बन्धनमें पड़े हुए रहते हैं। यहाँ तो उसके कर्म भी उसके आंशिक अहंकारकेसाथ दूर होजाते हैं, और वह मुक्तिको प्राप्त हुआ ईश्वरके संकल्पोंमें सत्काम हुआ जो चाहता है पाता है और जो पृथ्वीपर उसके ध्यानमें भी नहीं आते थे और जिन का वर्णन अब आगे ब्रह्माजीकी प्रतिज्ञामें आवेगा, उनको पाता है। इस प्रकार ऐसा ज्ञानी दिव्य राज्यको मुफ्त और विरासतमें पाजाता है, मजदूरी और सेवा करने से इसको नहीं पाया जासकता। बस, हे सज्जनों! हम भी इसी प्रकार इस संक्षिप्त राजधानीमें राज्य करके परमानन्दमें निश्चिन्त और मग्न रहते हैं और मुर्दा शरीर को लहाशकी समान घसीटते हुए फिरते हैं और उस ईश्वरीय नित्य प्रतिज्ञाकी प्रतीक्षामें रहते हैं, जब समय आवेगा तब देखो मुफ्तमें विरासतकी समान उसको पा लेंगे इस विषयमें ब्रह्माजीने आदिमें जो प्रतिज्ञाकी है, उन प्रतिज्ञासे भरी हुई वैदिक श्रुतियोंका हम अनुवाद करते हैं। जिससे इस पुस्तकको पढ़ने वालोंको यह विश्वास हो जावेगा हम जो कुछ लिख रहे हैं वह सत्य लिख रहे हैं, और हमारा लिखना कपोल कल्पना नहीं, किन्तु सत्य है।

—— o ——

❀ छठा परिच्छेद ❀

(१)-सामवेदकी छान्दोग्य शाखामें लिखा है कि-जब ब्रह्माजीने सत् असत्कर्मोंके फलको नियत किया था और उनका वर्णन किया था, तब उन्होंने आरम्भमें क्षमा करने का और कृपा करनेका भी विज्ञापन दिया था, कि—जो देवलोकमें और संसारमें तथा स्वप्नमें और जाग्रत्में जैसा करता है; वैसा ही पाता है। यह न्यायकी रीति है। किन्तु जो आत्माको जानता है, वह मुक्त है और स्वरूपमें स्थित होता हुआ मुफ्तमें ब्रह्मलोकको पालेगा। और प्रारब्धवश यह न्याय होगया है, कि-जो आत्मा को जानता है, उसके प्राण मृत्युमें नहीं उठते, किन्तु आत्मामें ही लीन होजाते हैं और उसमें ईश्वरीय इन्द्रियें ईश्वरीय विचार और ईश्वरीय अहंकार वायुकी समान भर जाते हैं। इसलिये पहिले न्यायका इस ज्ञानसे विरोध भी नहीं पड़ता है।

(२)-उस विज्ञापनमें जो वृत्तान्त लिखागया है और जिसको देवलोक तथा भूलोकमें प्रकट किया गया है। उसका अनुवाद हम नीचे लिखते हैं, कि-हे सज्जनों! यह जो संसार है, यह एक बड़ी भारी दिव्य राजधानी है। इसमें मनुष्यका शरीर ब्रह्मकी एक मुख्य राजधानी है, उसका नाम ब्रह्मपुरी है और उसके भीतर जो हृदय-कमल है, वह ब्रह्मका एक खास भवन है और उसके भीतर जो आकाश है वह उसके बैठनेका सिंहासन है। उसके भीतर जो अपने आत्मब्रह्मकी खोज करता है

और जानता है, इसको (फज्ल) ज्ञान होने पर बुलाया जाता है, यही न्याय है। उसके कर्म उसके अंगोंमें रा जाते हैं, उस पर लागू नहीं होते, क्योंकि-वह तो विवेक से अपने आपको उससे मिला देता है, एक होजाता और ब्रह्म शास्त्रानुसार पुण्य पापसे मुक्त शुद्ध है क्योंकि-असंग आत्मा है।

(३)-यदि कोई विचार करे, कि-इस ब्रह्मपुरीमें ब्रह्म का छोटासा बँगला है और उसमें ब्रह्मका आकाश नामक छोटासा सिंहासन रहता है, तो क्या उस आकाश में कुछ है जो ब्रह्म कहलाता है, तो इसका उत्तर यह है, कि-हे सज्जनों! जितना यह बाहरका आकाश है, उतना ही यह हृदयाकाश है, छोटा नहीं है, किन्तु चित्त के भीतर आजानेसे छोटासा दिखाई देता है। यथा-आकाशमें एक कुलिया धर दें तो आकाश कोई दो टूक होकर भीतर बाहर अलग २ नहीं होजाता, किन्तु वही आकाश कुलियाका भीतरी पोला भाग और बाहरका महाकाश प्रतीत होता है। इसी प्रकार यह आकाश भी चित्तके भीतर आकर चित्तके अनुसार छोटा दिखाई देता है वास्तवमें साराका सारा महाकाश उसके भीतर है, कुछ टुकड़े नहीं होगया है।

(४) अब यों समझो, कि-क्या देवलोक और क्या भूलोक दोनों इस हृदयाकाशके भीतर स्थित हैं और क्या अग्नि क्या वायु दोनों यहाँ रहते हैं और सब भूत तथा सब विचार इसीके भीतर हैं। जिस प्रकार स्वप्न का सब संसार सोते हुए पुरुषके हृदयाकाशमें होता है, किंतु वह स्वप्नके आश्चर्यसे अपने आपेको स्वप्नसंसार

का अंश मानता हुआ, स्वप्नकी पृथ्वी और आकाशको अपनेसे बाहर समझता है। यही हाल यहाँ है, वास्तवमें क्या देवलोक और क्या भूलोक, क्या वायु और क्या अग्नि सबके सब इसी लद्य हृदयाकाशके भीतर हैं।

(५)—यदि कोई समझना चाहे, कि-यह ब्रह्मपुर कि-जिसमें सब भूत और दृश्य रहते हैं, जब वृद्ध होता है, अथवा मृत्युमें दूर होजाता है, तो कुछ बाकी भी रहता है, या नहीं। तो इसका उत्तर यह है. कि वह आत्मा जो इस ब्रह्मपुरमें राज्य करता है न तो इसके बुढ़ापेसे बूढ़ा होता है और न इसके मरनेसे वह मरता है, यही सत् है. इसमें सब दृश्य रहते हैं. यह आत्मा सब पापों से अलिप्त है, न तो वह पुराना होता है, न यह मरता है न इसे शोक है, न भूख है, न प्यास है, किन्तु सत्-काम और सत्सङ्कल्प है, जो चाहता है करता है, सर्व-तंत्र स्वतन्त्र है।

(६)-हे सज्जनों! जो यहाँ अपने हृदयकमलमें इसको नहीं जानते हैं, किन्तु इसका ज्ञान प्राप्त न करके ही मर जाते हैं और न इसकी महिमाको ही जानकर जाते हैं, कि—वह सत्सङ्कल्प सत्काम और पूर्ण स्वतन्त्र है, अब आप उनका वर्णन सुनिये। यद्यपि वे जीवन भर सत्-कर्म करते रहते हैं और अपने सत्कर्मोंका फल पानेके लिए ऊपरके लोकोंमें जाते हैं, किन्तु जिस प्रकार यहाँ भी अच्छी प्रकार गुज़र करने वाले मनुष्य राजा और अधिकारियोंकी आज्ञामें चलते हैं, और पराये वशमें रहते हैं और टैक्स देते हैं, इसी प्रकार वह भी देवताओं की सेवा करने वाले और देवताओंको टैक्स देने वाले

रहते हैं और जहाँ२ जाना चाहते हैं अथवा जिस वस्तु२ को पाना चाहते हैं, उसको देवताओंकी इच्छाके बिना नहीं पासकते। इस लिये वह देवताओंके वशमें इसप्रकार बँधे रहते हैं जैसे प्रजा अधिकारियोंकी आज्ञामें बँधी रहती है।

(७)—वे पूर्ण स्वाधीन कैसे होसकते थे, क्योंकि वह तो यहाँ गुलामी और प्रार्थना करनेका विश्वास रखते थे, और शरीरको अपना आपा समझते थे परन्तु हाँ सत्कर्म करते थे, अतः मजदूरीका हक मजदूर अवश्य पाता है, और यही न्याय है। अतः वह सोमलोकमें प्रसन्नतासे तो अपने दिन बिताते हैं, परन्तु गुलाम घरका मालिक नहीं होता, और सेवा करने वाला ही होता है, और सेवक सर्वदा घरमें नहीं रह सकता, अन्तमें घरमेंसे ढकेल कर निकाल दिया जाता है। अतः जब स्वर्गमें इनके सत्कर्मों के भोग समाप्त होजाते हैं, तो फिर यह मृत्युलोकमें गिर जाते हैं।

(८)—यहाँ पर भी जो (पराक्रममय) कर्मोंसे देशों को ज़ीतते हैं, अन्तमें वे (पराक्रम न रहने पर) उनको छोड़ देते हैं। इसी प्रकार जो कर्मोंसे केवल सोमलोकको पाते हैं अन्तमें उससे गिर जाते हैं, यही प्राकृतिक नियम है, क्योंकि-जो बनाया जाता है, वह समय आने पर टूट जाता है, अतः सत्कर्मोंसे बनाया हुआ सोमलोक भी नित्य नहीं है, और तहाँ चढ़ने वाले स्वतन्त्र भी नहीं होते हैं।

(९)-किन्तु जो यहाँ अपने आत्माको जानते हैं और इसी ब्रह्मपुरके हार्दाकाशमें उसको पहिचानते हैं और

विश्वास करते हैं, कि मैं ही ब्रह्म हूँ, और मैं ही सबका मालिक हूँ और मैं ही सत्संकल्प सत्काम हूँ, पाप और पुण्य मुझे नहीं छूते, और न उनका फल ही मुझे मिलता है, क्या देवलोक, क्या भूलोक क्या अग्नि, क्या वायु, क्या चन्द्रमा, क्या सूर्य और क्या नक्षत्र सब मेरे भीतर कल्पित इस हृदयाकाशमें हैं और यही मेरा (तख्त) सिंहासन है। जो ऐसा विचार कर फिर मरते हैं, उन्हींके लिये सत्लोक है और वही सत्काम सत्संकल्प और पूर्ण स्वाधीन होजाते हैं और सब लोकोंमें कामचार होते हैं।

(१०)-जब वह चाहते हैं, कि हम अपने पिता पितामह अथवा बुजुर्गोंसे मिलें, तो उनके संकल्पसे ही पिता पितामह तथा सब बुजुर्ग उठते हैं और उनसे मिलते हैं और वह इस पितृलोकमें पहुँच कर प्रसन्न और प्रतिष्ठित होते हैं।

(११)-जब वे माता और माताामहियोंको चाहते हैं, तो सङ्कल्पसे क्षणमात्रमें माताएँ और मातामहियें उठती हैं और उनसे मिलती हैं और वे इस मातृलोकमें सिद्ध-सङ्कल्प होकर प्रसन्न होते हैं और वहाँ सत्कार पाते हैं।

(१२)-जब वह भाइयों और बिरादरीके लोगोंको चाहते हैं तो केवल संकल्पसे क्षणमात्रमें भाई और बिरादरीके लोक उठते हैं और उनसे मिलते हैं और इस प्रकार वे भ्रातृलोकमें सफल होकर वहाँ प्रसन्न होते हैं और उनसे सत्कार पाते हैं।

(१३)-जब वे अपने सुसर और सुसरालके लोगों से मिलना चाहते हैं, तो संकल्पमात्रसे सुसर और सुसरालके लोग उठते हैं और उनसे मिलते हैं, और वह इस

प्रकार श्वसुरलोकमें (कामयाव) सफल हो प्रसन्न होते हैं और वहाँ उनका सत्कार होता है।

(१४)-जब वह अपने मित्रोंसे और स्नेहियोंसे दिल्लगी के लिये मिलना चाहते हैं तो केवल संकल्पमात्रसे मित्र और स्नेही प्रकट होजाते हैं और उनसे मिलते हैं, इसी प्रकार वे सखीलोकमें सफल होकर मित्रोंसे वार्तालाप कर प्रसन्न होते हैं और सत्कार पाते हैं।

(१५)-जब वह इत्र आदि सुगन्धित वस्तुओंको चाहते हैं तो केवल संकल्पमात्रसे ही सुगन्धित वस्तुएं प्रकट होती हैं और वह उनका उपभोग करते हैं और वे सुगन्धलोकमें सफल हो प्रतिष्ठा पाते हैं।

(१६)-जब वे खानपानकी चीजें चाहते हैं, तो संकल्पमात्रसे ही खान पानकी चीजें प्रकट होती है, और वे उसमें सफल होकर प्रसन्न होते हैं और प्रतिष्ठा पाते हैं।

(१७)-जब वे राग रंग और गीत तथा बाजोंके सुननेकी इच्छा करते हैं तो संकल्पसे राग रङ्ग और नर्तक तथा साज प्रकट हो जाते हैं और वह रागरंगलोकमें सफल होकर सत्कार पाते हैं और प्रसन्न होते हैं।

(१८)-जब वे सुन्दरी स्त्रियोंकी इच्छा करते हैं तो संकल्पमात्रसे ही सुन्दरी स्त्रियें प्रकट होजाती हैं और वे इस प्रकार स्त्रीलोकमें सफल होकर प्रसन्न होते हैं और प्रतिष्ठा पाते हैं।

(१९)-अब मैं कहाँ तक विस्तारपूर्वक कहूँ, कि-सार यह है, कि वे जिस २ पदार्थकी इच्छा करते हैं, उस उस पदार्थको वे संकल्पसे पाजाते हैं और उनके लोकों में प्रसन्न होते हैं और सत्कार पाते हैं। यही (फज़ल)

उच्चावस्था है । न्यायकी कैदसे निकल कर इस उच्चा-
वस्थामें आओ, देर न करो, क्योंकि-बीता हुआ समय
फिर हाथ नहीं आता । और यह उच्चावस्था इसी ब्रह्म-
पुरमें आत्माकी पहिचानसे प्राप्त हो सकती है । अतः
आत्माको ही ढूँढो । जो ढूँढता है, वही पाता है । जो
खटखटाता है उसीके लिये खोला जाता है । यही न्याय
है, और उच्चावस्थाके विपरीत नहीं है ।

(२०)-अब भी यह सत्काम और सत्संकल्प तुम्हारे
हृदयमें वर्तमान हैं, किंतु झूठे परदेमें छिपे हुए हैं ।
यद्यपि वह तुम्हारे हृदयाकाशमें वर्तमान हैं किन्तु इस
झूठे परदेसे छिपे हुए होनेके कारण नहीं उठते हैं और
जो तुम्हारे पुत्र भाई और सम्बन्धी भी मर गए हैं वे
सब तुम्हारे आत्मामें (हृदयाकाशमें) इसी झूठे परदेसे
छिपे हुए हैं । तुम्हें दर्शन देनेके लिये नहीं उठते हैं, मरे
हुए तो क्या उठेंगे । वह भी नहीं उठते (प्रकट नहीं
होते) कि—जो जीवनमें ही अनजाने देशोंमें विचरण
करते रहते हैं । किन्तु जब तुम सबकी खान अपनी
आत्माको जान जाते हो और उसको ध्यान करते समय
इस परदेको खटखटाते हो तो मृत्युके समय वह परदा
उठता है, और ये सब अपने संकल्पसे ही उठते हैं और
मिल जाते हैं ।

(२१)-जो (मुरादें) इच्छाएँ तुम्हारे भीतर वर्त-
मान हैं, उनको न पानेका उदाहरण इस प्रकार दिया
जासकता है । यथा—कोई खजाना तुम्हारे घरमें गढ़ा
हो तो तुम उसके ऊपर फिरने पर भी उसको नहीं पा
सकते । यह बड़े पश्चात्तापकी बात है, कि-ये सब इच्छाएँ

और स्वतन्त्रताएँ तुम्हारे आत्मामें है और झूठे परदेसे ढकी हुई हैं तुम प्रति दिन गाढ़निद्रामें जाकर आत्मा (ब्रह्म) से एक होते हो, किन्तु आत्माके अज्ञानके कारण उसको नहीं पाते ! इसका यही कारण है, कि-तुम इस आत्माको नहीं जानते, किन्तु अपनेमें गुलामी और अपराधोंके लेपसे उसकी अप्रतिष्ठा करते हो। हे सज्जनों ! तुम तो झूँठ पर सवार हो तो फिर सत्संकल्प को किस प्रकार पासकते हो।

(२२)-यह सत्काम सत्संकल्प आत्मा जो तुम्हारा वास्तविक रूप है। यह तुम्हारे हृदयमें उपस्थित है, और इसीका नाम सत् है। इसी लिये प्रतिदिन गाढ़निद्रामें जाने वाला चतुरपुरुष इस स्वर्गलोकको पाता रहता है। किन्तु जब यह सम्प्रसाद आत्मा इस झूटे शरीरसे उठ कर अपने ज्योतिःस्वरूप परम स्वरूपको पाता है, तो वही असली आत्मा है, यही अमृत है यही गनी (निरपेक्ष) है और जब अविद्याका परदा पूर्णरूपसे उठ जाता है, तो यही ब्रह्म है।

(२३) यह आत्मा वास्तवमें एक चट्टानकी समान है। इसमें लोक; परलोक, दिव्यलोक; निम्नलोक सब कल्पित और भ्रममय आकारमें रहते हैं और कल्पित हैं। इसीलिये संस्कृतमें इसको सबका सेतु और विधृति कहते हैं क्योंकि-सब आकृतियें भ्रमकल्पित लकीरोंकी समान इसी चट्टान या विधृतिमें खिची हुई हैं और सबकी पहिचान या सत्ता इसीके कारणसे है। चट्टान और तख्ती पर जो लकीरें मिटाई जाती है वह मिट जाती हैं। किन्तु निराकार चट्टानको न तो रात दिन काट सकते हैं और

न बुढ़ापा और मौत ही उसको दूर कर सकते हैं और सत् या असत् अथवा चिन्ता भी उस पर प्रभाव भी नहीं डालती, किन्तु सब अपराध उससे दूर रहते हैं। यही अपराधरहितावस्था है और यही ब्रह्मलोक है।

(२४) इसी कारण गाढनिद्रामें इस चट्टानसे मिलाहुआ अन्धा अन्धा नहीं रहता, कैदी कैदी नहीं रहता, दुखिया दुखिया नहीं रहता, क्योंकि—अन्धापन कैद और दुःख शरीरके (आसार) चिन्हस्वरूप धर्म हैं। जब वह गाढ़-निद्रामें शरीरको किसी कारणसे छोड़ताहुआ इस चट्टान सेतुमें एक होजाता है, तो वह फिर अन्धापन कैद और दुःखको कैसे पासकता है, क्योंकि-वह तो अन्धापन कैद और दुःख सबसे अलग नित्यमुक्त है।

(२५)—इस सेतु-विधृतिको पाने पर रात्रि दिन हो जाती है, अन्धेरा उजाला होजाता है, यह उजाला (प्रकाश) नित्यप्रकाश है और ब्रह्मलोक है, जो कोई ब्रह्म-चर्यसे इस प्रकाशमें चलता है, वह ठोकर नहीं खाता, और सीधी रीतिसे ब्रह्मलोक उन्हींको मिलता है, जो विधिनिषेधके द्वारा अन्धकारसे इस प्रकाशको ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त करते हैं। और जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिमें एकरस देखते हैं, वही मृत्युके समय उपरिवर्णित सब लोकोंमें कामचार होते हैं।

(२६)—जब जीवको इस संसार पर ग्लानि उत्पन्न होने लगती है और इस आत्माको पहिचाननेकी लगन लगती है। तब वह ब्रह्मचर्य करता हुआ, विषयोंका आस्वाद लेनेसे हट जाता है और ब्रह्मचर्यसे अपने अन्तः-करणको शुद्ध करके पूर्ण गुरुसे आत्माको पहिचानता है

तो जीवनमें ही उसको वह जैसा है तैसा नकद पाजाता है और स्वयं सब प्रकारके विकारोंसे रहित होजाता है और उसको सत्काम आदिक इस प्रकार मुफ्तमें ही मिल जाते हैं। जिस प्रकार बागपाने वालेको ठण्डी छाया मुफ्तमें ही मिल जाती है। यद्यपि वह बागको खरीदते समय वसीयतनामेमें फल लकड़ी और पृथ्वीकी मिलकियत ही लिखाता है छायाकी मिलकियत नहीं लिखाता है, तो भी छाया उसे मुफ्तमें यों ही रूक झूकमें मिल जाती है।

(२७)–इसी प्रकार जब आत्मप्रेमी भी ब्रह्मचर्य करता हुआ उसकी तलब करता है–उसको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, तो संसारमें किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता है क्या पुत्र क्या सम्पत्ति क्या लोक और क्या परलोक सबसे भिन्न होता है और सबको तुच्छ जानता है तथा झूठा जानता है और एक आत्माको ही जानना चाहता है और जब जानता है और नकद पाजाता है तो यहाँ भी (वेचूनोचरा) अलिप्तहुआ इस मुरदा लहाशको घसीटता फिरता है और इसके (मुक्तसिर) दुःख सुख अहंकारमें देखताहुआ दुःखी सुखीसा दिखाई देता है, किन्तु इस ज्ञानके कारण वह आकाशकी राजधानी (स्वर्ग) का युवराज होता है और जब तक जीवित रहता है तब तक उस समयकी प्रतीक्षा करता रहता है और समय आने पर जब यह लहाशसा शरीर छूट जाता है तो फिर अपने ज्योतिःस्वरूपमें स्थित होजाता है, फिर नहीं उठता है, तब भी मायावृत्तियोंके कारण यह सत्काम और सत्संकल्प तो रूक झूक में–मुफ्तमें ही

मिल जाते हैं, वह उनको नहीं चाहता है, किन्तु पालेता है, वह नहीं माँगता, किन्तु वही स्वामी है, क्योंकि-ये सब उसकी ही छायामें रहते हैं। मनुष्य कब प्रयत्न करता है, कि—मेरी परछाहीं मेरे साथ फिरे परन्तु जहाँ जाता है, परछाहीं उसके साथही घूमती है।

(२८)-इसी प्रकार विदेहमुक्त भी नित्यमुक्त है, माया की ओर दृष्टि भी नहीं करता, तो भी माया जो उसकी परछाहीं है, वह विचारी कहाँ जावे, उसके अतिरिक्त उसको कोई और स्थान नहीं दीखता, उसीकी शरणमें उसीकी सेवामें संसारसे लेकर ब्रह्मलोक तकको उसमें कल्पित करती हुई उसीमें ब्रह्मलोक और सत्काम आदि का आरोप करती है। इस प्रकार यह आकाशीय राज्य (स्वर्ग) ऐसे ज्ञानवान्को आनुषङ्गिक ही मिल जाते हैं और यह कर्मकाण्डीको परिश्रम करनेसे भी नहीं मिल सकते। क्योंकि—मजदूरका हक मजदूरी है, जितना करता है, उतना पाता है, अन्तमें ढकेल कर निकाल दिया जाता है। और यह ज्ञानवान् तो घरका और बागका मालिक है। सर्वदाको घरमें अपनी महिमामें प्रतिष्ठित रहता है।

(२९)-हे सज्जनों! जो आत्माके प्रेमी हैं और घर बारको छोड़कर ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और उस आत्माको अपने हृदयमें ढूँढते हैं और जिसमें यह सत्काम और सत्संकल्प बन्द किये गए हैं, उस झूठे दरवाजेको खटखटाते हैं। यदि उनको शिक्षा देसकने वाला पूर्ण ज्ञानवान् गुरु मिल जाता है और आत्माको प्रकट करके दिखा देता है तो मुक्ति उसका स्वाभाविक धर्म होजाता

है और ब्रह्मलोक तथा सत्काम आदि उसको मुक्तमें हो मिल जाते हैं। परन्तु वह भी जो ब्रह्मचर्य पालते हैं और वेपहिचानके भी इस बात पर विश्वास करते हैं कि-'मैं शुद्ध सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म हूँ, और यह सब मुझमें कल्पित हैं" और इस विश्वासके साथ ब्रह्मचर्य को सहायक बनाते हैं और गृहस्थी होते हैं तो यदि कर्मकाण्डको सहायक बनाते हैं, वे भी मृत्युमें देवयान सड़क पर चलते हुए ब्रह्मलोकमें पहुँचते हैं और तहाँके आनन्द भोगते हैं और स्वयं ब्रह्माजीसे ही शिक्षा पाते हुए आत्माको नकद पहचानते हैं और ब्रह्माके साथ मुक्त होजाते हैं।

(३०)—बहुतसे मनुष्य कहते हैं, कि—"जो यज्ञ है वह बड़ा है" सो ब्रह्मचर्य भी यज्ञ है, क्योंकि—जिसकी छायामें सत्काम आदि रहते हैं ऐसा आत्मा ब्रह्मचर्यसे जाना जाता है। बहुतसे कहते हैं, कि—इष्ट कर्म करने चाहिये, किन्तु दर्शनाभिलाषीके लिए ब्रह्मचर्य ही इष्ट है, क्योंकि-इष्टकर्म तो वह है जिसके करनेसे अपनी वास्तविक इष्ट वस्तु मिल जावे, उसका (असल) वास्तविक इष्ट तो आत्मा है और वह ब्रह्मचर्यसे मिलजाता है। इस लिये ब्रह्मचर्य ही इष्ट है।

(३१)-बहुतसे पुरुष कहते हैं, कि—सत्रायण करना चाहिये, किन्तु दर्शनाभिलाषीके लिये ब्रह्मचर्य ही सत्रायण है। क्योंकि-जो सत्को पहुँचा दे; वही सत्रायण यज्ञ होता है। ब्रह्मचर्यसे यह सत् आत्मा जाना जासकता है इस लिये ब्रह्मचर्य ही सत्रायण है, यह दर्शनाभिलाषी ब्रह्मचर्य करके ही इस सत् आत्माको जान लेता है।

(३२) वस्तुतसे कहते हैं कि—मौन अच्छा है, परन्तु दर्शनाभिलाषीके लिये ब्रह्मचर्य ही मौन है, क्योंकि-आत्मा की पहिचान करके ब्रह्मचर्यसे ही फिर मनन करता है इस लिए आत्मदर्शनाभिलाषीके लिए ब्रह्मचर्य ही मौन है

(३३)-आगे श्रुतिमें कहा है, कि--अनाशकायन यज्ञ अच्छा है । दर्शनाभिलाषीके लिए ब्रह्मचर्य ही अना- शकायन है । क्योंकि—जिस यज्ञसे नाश न हो वह अनाशकायन कहलाता है । और ब्रह्मचर्यसे अविनाशी आत्माको जाना जासकता है, अतः ब्रह्मचर्य ही अना- शकायन है ।

(३४)-श्रुतिमें फिर कहा है, कि--अरण्यायन यज्ञ उत्तम है, किन्तु दर्शनाभिलाषीके लिए ब्रह्मचर्य ही अरण्यायन है, क्योंकि तहाँ ऐरम् (दिव्य अन्नरससे भरा हुआ) हर्षदायक सरोवर है और जो ब्रह्मलोकमें अरण्या- यन (सोमसमुद्र) ब्रह्मलोकमें है, जो इस यज्ञके करनेसे मिलता है । और उसका यहाँ दर्शन भी नहीं मिलसकता । परन्तु दर्शनाभिलाषीको जब ब्रह्मचर्यसे आत्माका प्रत्यक्ष होता है तो उसको ब्रह्मलोक और उसके ऐरम् (अन्नरससे भराहुआ सरोवर) और सोमसमुद्र आनुषङ्गिक (रुक झुकमें) ही मिल जाते हैं । इस लिये ब्रह्मचर्य ही उसके लिये अरण्यायन है ।

(३५)-ब्रह्मलोकमें अर और ण्य नामक दो तालाब हैं । अर एक आकाशीय (दिव्य) अन्न है । जिसको न यहाँ देखा है, न सुना है । ईश्वरीय ज्ञानकी मस्ती देने वाली उसकी लकड़ीको आरमदिरा कहते हैं और तहाँ ही अंगूरका दिव्य वृक्ष है, जो यहाँ संसारमें नहीं दीखता

और न किसीसे सुना है उसको सोमसदन कहते हैं। इ
से जो रस निकलता है और नदीके रूपमें बहता है, य
अमृत है, उसका पान करके देवता अमृत होजाते हैं।

(३६)और यज्ञ तथा कर्मोंसे न जीते जासकने वाले इस
ब्रह्मलोकमें पुर नामका एक सोनेका बँगला है। जिसको
यहाँ किसीने न देखा है और न सुना है। ब्रह्माजीने उस
को तहाँ पर विशिष्ट व्यक्तियोंके लिए बनाया है, यह बड़े
बड़े कर्मकाण्डियोंको भी नहीं मिलता परन्तु जो ब्रह्म
चर्यसे आत्माको जानजाते हैं,उनको वह मृत्युके समय
मुफ्तमें ही मिल जाता है, ब्रह्मलोक भी वास्तवमें उनका
ही है और वही सब लोकोंमें कामचार होते हैं। क्योंकि,
मृत्युके समय ऐसे ज्ञानवान्के प्राण यहाँ उसकी आत्मा
में ही लीन होजाते हैं और ईश्वरके समष्टि प्राण वायु
की समान उसमें भरजाते हैं और वह स्वयं घरका मालिक
होजाता है, इस कारण उसको यह वस्तुएँ विना मूल्यके
ही मिल जाती हैं।

(३७)-हे पाठको! अब तुम ध्यान धरकर पढ़ो, कि-
जो मनुष्य आत्माको न पहिचानने पर भी यह विश्वास
रखते हैं, कि-'मैं ब्रह्म हूँ और ब्रह्मचर्य करते हैं। हम
विश्वास दिलाते हैं, कि-उनके लिये मृत्युमें ब्रह्मलोकमें
उत्क्रांति होती है और वे देवयानसड़क पर चलते हुए
ब्रह्मलोकमें पहुँच जाते हैं और मनुष्यके भीतर जो मांस
का टुकड़ा है, जिसे हृदयकमल कहते हैं उसमेंसे बहुत
सी रगें (नाडियें) फैलती हैं,वह वात पित्त कफ और
रक्तसे भरी हुई हैं और भीतर चार रंगोंकी दीखती है।

(३८)—कफका वर्ण श्वेत है, रक्तका लाल है, पित्त का पीला है वातका काला है, सबकी मिलावटसे यह रंग चित्तमहत्तावी रंगकी होजाती हैं और यह सूर्य भी श्वेत रक्त पीले और काले रंगोंकी किरणोंसे परिपूर्ण है। एक प्रकारके खास दर्पण (शीशा मुसल्लिसी) के द्वारा सूर्य की किरणें भी काली पीली रक्त श्वेत आदि सात रंग की प्रतीत होती हैं और यही सात रंगोंसे मिली हुई किरणें मनुष्योंके शरीरके भीतर फैली हुई हैं और उन्हें गर्म करती हैं और रङ्गीन बनाती हैं।

(३९)-यह शंका मत करो, कि-जब सूर्य अस्त होता है उस समय किरणें तो लीन होजाती हैं, क्योंकि सूर्य की प्रकट किरणें तो वास्तवमें लीन होजाती हैं, तो उस की नैसर्गिक उष्णता (हरारतअजीजी) जो संसारका जीवन है, संसारमें उसी तरह फैली रहती हैं। इस लिये यहाँ हम मनुष्योंकी नाड़ियोंमें जो विज्ञापनोक्त किरणें प्रविष्ट हैं, वह हरारत अजीजी है, उससे मनुष्य जीवित रहता है और जब हरारतअजीजी (स्वाभाविक उष्णता) की किरणें सूर्यमें लीन होजाती है तो यहाँ 'शरीरमें भी हरारत अजीजी बुझ जाती है और शरीर मुरदा होजाता है और तब वैद्य चिकित्सासे हाथ उठा लेता है। ऐसी गर्मीकी किरणोंसे रात्रि दिन नाड़ियें चलती रहती हैं और बाहरकी वायुको अपने भोजनके लिये खींचती रहती हैं।

(४०)-यह हरारत अजीजीकी किरणें सूर्यसे नाड़ियोंमें चित्त तक और मनसे नाड़ियोंकी राह सूर्य तक तार २ तनी हुई हैं और उसी प्रकार तानी गई हैं जिसप्रकार

एक तारबर्की लाहारसे देहली तक तानी गई है। और तारबर्कीके कारण निमेषभरमें खबर देदी जाती है और फिर रेल लोहेकी सड़क पर चलती है।

(४१) ब्रह्मचर्य करता हुआ आत्मविश्वासी जब अन्त समयमें दुर्बल होजाता है और मृत्युका समय आता है तो पहिले अपनी इन्द्रियोंको मनमें एकत्रित करता है। और फिर मनमें उन छिद्रोंसे जो मनके कान कहाते हैं उनके द्वारा देवलोकको जानेकेलिए उद्यत होता है और अपने विश्वास और ब्रह्मचर्यके कारण ब्रह्मलोक को जानेका और ब्रह्मज्योतिका संकल्प करताहुआ इस तारबर्की पर सवार होकर ठोकर मारता है, तब प्राण विजलीकी समान इन तारोंसे फैला हुआ मस्तक तक जानेवाली नाड़ीमें फैलजाता है और रन्ध्रके द्वारा बाहर निकलताहुआ तारबर्कीकी तरह तनीहुई सूर्यकी किरणों के द्वारा पहिले सूर्यके स्टेशनमें पहुँचता है, तहाँसे फिर दूसरे लोकोंके स्टेशनमें यहाँ तक कि—ब्रह्मलोकमें शीघ्र ही इस प्रकार जा पहुँचता है। जिस प्रकार ब्रह्मलोकके ध्यानमें लगी हुई मनोवृत्ति झटपट ब्रह्मलोकमें जा पहुँचती है, यही उसकी उत्क्रान्ति है और यही ब्रह्मलोकका द्वार है।

(४२) यह कब होता है ? जब यह मृत्युके समय सावधान नहीं रहता, मूर्छित होजाता है, उस समय जो कुटुम्बी उसके पास बैठे होते हैं, उसे बुलाते हैं और कहते हैं, कि—हे पिताजी ! आप पहिचानते हैं क्या ? कि-मैं आपका पुत्र हूँ और पिता कहता है कि-हे बेटा! तू जानता है कि-मैं तेरा बाप हूँ, परन्तु जब यह आत्मा जब

तक इन सूर्यकी किरणोंके तारपर ठोकर देकर ब्रह्मलोकमें अपनी इच्छाकी सूचना नहीं देता है,तब तक तो कुछ२ आँखें खोलता है। परन्तु जब वह मनके अन्दरसे उठकर आकाशकी रेलगाड़ी प्राणरूपी छकड़े पर सवार होजाता है और तार बर्की के द्वारा ब्रह्मलोक में अपने चलने की सूचना देता है और पहुँच जाता है तो फिर आँखें नहीं खोलता है।

(४३) जब यह इसप्रकार हिलाने डुलानेसे भी आँखें नहीं खोलता और मुरदासा प्रतीत होता है और नाड़ियें भी बन्द होजाती हैं तो प्रतीत होता है,कि–इसने अपनी मुख्य राजधानी मनको भी छोड़ दिया है और प्राणरूपी रेलगाड़ी पर सवार होगया है। अतः अब किस प्रकार इस ब्रह्मपुरमें चेष्टा होसकती है और इसके नेत्र भी किस प्रकार खुल सकते हैं,उस समय न उसके नेत्र खुलते हैं न ब्रह्मपुरमें चेष्टा होती है जब घरका मालिक चलनेको तयार होजाता है तो उसकी बलासे घरको कोई जला दे, या दफ्ना दे। फिर यह ब्रह्मपुर पलीती और मैलेका घर होजाता है और सड़ाँदका खाद रह जाता है। यदि उस शरीरको न जलाया जावे तो यह शरीर प्राणरूपी रेलगाड़ीके द्वारा असली रतूबत (खासियत) के निकल जाने के कारण फूल जाता है और गंदा तथा बदबूदार हो जाता है।

(४४) उसकी सवारीका हाल जानने वाले पुरुष उस समय विलम्ब नहीं करते हैं, उसको अग्निमें होम देते हैं और उसकी असली रतूबत अग्निमें अग्नि और फिर दिनमें दिन होती चली जाती है। जिसको संस्कृतमें देव-

यान मार्ग कहते हैं वही प्राणरूपी रेलकी एक लोहेकी सड़क है, इसका वर्णन हम कर्मकाण्डमें लिख चुके हैं, इसी प्रकार स्टेशन दर स्टेशन पहुँचता हुआ सूर्य के स्टेशन पर पहुँचता है, तब स्टेशन पर उससे मिलनेके लिए देवता आते हैं और धन्यवाद देते आते हैं उस समय अग्निदेवता उसकी रेलके इञ्जिनमें ड्राइवर होता है और उसको सूर्यमें लेजाता है। और सूर्यमें ब्रह्मलोकसे उसके लिये देवता आते हैं और उसको आदरपूर्वक ऊपरके लोकोंमें लेजाते हैं। इसी प्रकार यह सूर्य आत्माके जानने वालोंका ऊपर जानेका पहिला बड़ा स्टेशन है और अज्ञानियोंको रोकने वाला है। आत्म-ज्ञानके विना यहाँ कोई नहीं आ सकता।

(४५)-और जो पुरुष आत्माकी इस सृष्टि पर विश्वास नहीं करते और सत्कर्म करते हैं। उनकी आँख नाक कान आदि टेढ़ी नाड़ियोंसे उत्क्रांति होतीहै और अग्निसे उनका मार्ग सोमलोक अर्थात् पितृयान सड़कके लिए फटजाता है और वह सोम लोकको चले जाते हैं। और जो न विश्वास रखते हैं और न सत्कर्म करते हैं, वे मल मूत्रके मार्गसे निकलते हैं और अग्निसे नीची सड़क पर चलने लगते हैं और कीट पतंग होतेहुए मरते और उत्पन्न होते रहते हैं।

(४६) परन्तु जो इस आत्माको जान जाते हैं, वे सत्कर्म करें, या न करें, सर्वदा मुक्त असंग रहते हैं, वह तो शक्तिमान् पुरुष हैं शक्तिमान् पुरुष तो कहीं नहीं चलते, वहीं ब्रह्मलोकको छीन लेते हैं। इस कारण वह तार और रेलोंसे कुछ सहायता नहीं लेते, किन्तु वे तो

जब समय आता है, तब अपने तेज और शक्तिको दिखाते हुए दिव्य राज्य पर अधिकार करलेते हैं। और यहाँ ही हृदयके आकाशके भीतर क्या तार क्या रेख क्या प्राण सबको ही फूँक देते हैं। क्यों कि-उनके प्राण उनके आत्मामें इस प्रकार जल जाते हैं जिस प्रकार पानीकी बूंदें तवे पर जल जाती हैं और जिस प्रकार एक स्थानकी वायु निकलने पर समष्टि वायु तहाँ आजाती है, इसी प्रकार बाहरके आधिदैविक प्राण और ईश्वरी माया उसके स्थानमें खिंची चली आती हैं

(४७)-हे पाठकों! ऐसे शक्तिमान् ज्ञानीमें यह प्रताप होता है, कि-वह यहाँसे नहीं जाता, किन्तु सर्वदा जीवित रहता है, वह छोटेसे राज्यको अपनेसे निकालता है और बड़ा आकाशीय (दिव्य) राज्य उसमें यों ही परछाईंकी समान आजाता है। यह ज्ञानी ही वास्तव में गनी (आनन्दी) है, और यही घरका मालिक है तथा सब इसके ही चाकर हैं।

(४८)-अब हम विश्वास दिलानेके लिए इस विषयमें वेदके एक मंत्रका प्रमाण देते हैं, कि-हृदयमें एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उनमेंसे एक नाड़ी खोपड़ीमें लगी हुई है, प्राणी उससे उत्क्रान्त होने पर अमृत होजाता है। दूसरी नाड़ियें टेढ़ी हैं और भिन्न २ छिद्रोंमें रहती हैं वे अन्य लोकोंमें जानेके उत्क्रान्ति मार्ग हैं। किन्तु शक्तिमान् पुरुष स्वयं नहीं जाते हैं और उनके प्राणभी उत्क्रान्त नहीं होते हैं उनके प्राण तो आत्मामें चले जाते हैं और बाहरके प्राण भर जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्माजीने प्रारंभमें सूचना दी थी और प्रत्येक स्थानमें तथा मृत्यु

लोक और स्वर्गलोक आदिमें इसका ढँढोरा पिटवा दिया जिससे कोई पुरुष इससे अनजान न रहे और ऐसा ही हुआ।

(४९)-जब यह सूचना चारों ओर दीगई, और सूचना देनेवाले इस महत्त्वमयी प्रतिज्ञाका ढँढोरा पीटते फिरते थे और सबको न्याय (कर्मकाण्ड) से निकाल कर ज्ञानकाण्डकी ओर बुलाते थे तो देवताओंके लोकमें एक खलभली मचगई तब देवताओंने सुरलोकमें और असुरों ने असुरलोक में इस ज्ञानको पानेकी उत्कट अभिलाषा की तथा अपने स्वामी देवराज इन्द्रके सभापतित्वमें देवताओंने सभा की और असुरोंने असुरराज विरोचन के सभापतित्वमें सभा की।

(५०) देवताओंने कहा, कि-यदि हम (फज्ल) ज्ञानात्मिका उच्चावस्थामें स्थिति होजावेंगे, तो हमारी विजय होजावेगी और असुरोंने कहा, कि-यदि हम इस उच्चावस्थाको पाजावेंगे तो हमारी विजय है, तब इधर तो देवराज इन्द्र और इधर असुरराज विरोचन उठे और कहनेलगे कि-हे भाइयों! तुम अपने२ पदोंपर स्थित होकर राज्यका प्रबंध करते रहो हम अब जाते हैं, और अपने पिता ब्रह्माजीसे आत्माकी शिक्षा पालेंगे और तुम सबोंको यहाँ आ, लौट कर शिक्षा देंगे, इसकी पाठशालाएँ खुलवा देंगे और उसमें शिक्षकोंका प्रबंध कर देंगे।

(५१)-फिर वे दोनों देवता और असुर अर्थात् देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन विद्या पानेके लिए ब्रह्माजीके पास गए। अब इस बातको ध्यानमें रखना

चाहिये, ये दोनों एक दूसरेके विरुद्ध थे, अविरुद्ध नहीं थे, तब भी ये दोनों ब्रह्मविद्याके महत्त्वको त्रिलोकीके राज्यसे भी अधिक महत्त्वमय समझकर अपने बड़े २ भोगोंको छोड़ कर ब्रह्मचारियोंकी समान अपने शिर पर लकड़ियोंका बोझा रख कर प्रजापतिके पास गए और उनके पास बारह वर्षतक ब्रह्मचर्य पालते रहे।

(५२)-बड़े शोककी बात है, कि-इस ब्रह्मविद्याको पानेके लिये त्रिलोकीके एकसे राजा देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचनने राज्यके भोगोंको त्यागदिया था और बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य किया था, परन्तु वर्तमान समयके आया जानने वाले पुरुष इस छोटीसी गृहस्थी और सम्पत्तिको भी इसको पानेके लिए नहीं त्याग सकते और किसी विद्वान्की शुश्रूषा करना भी नहीं चाहते हैं।

(५३) जब ये दोनों महाराजा इस प्रकार ब्रह्मचारी बन कर बत्तीस वर्षतक ब्रह्माजीके पास रहे तब एक दिन प्रजापतिने उनको योग्य समझकर कहा, कि-तुम किस इष्ट वस्तुको पानेकी इच्छासे यहाँ निवास कररहे हो। तब उन्होंने कहा, कि-आपने आत्मज्ञानका विज्ञापन दिया है और उसमें सूचित किया है, कि-आत्माकी पहिचान से सब इच्छाएँ और सबलोक विना मूल्य ही मिल जाते हैं और सब लोकोंमें कामचारता और स्वाधीनता मिल जाती है। अतः हम उस आत्माको जानने और पहिचाननेके लिए आपके पास आए हैं, अतः कृपाकर हमको आत्माका दर्शन करादीजिये।

(५४)-तब ब्रह्माजीने कहा; कि-मेरे नेत्रमें देखो, जो यहाँ इस समय नेत्रमें विराजमान है, यही आत्मा है,

और यही अमृत है, यही बड़ा है, यही ब्रह्म है। तब उन्होंने जो नेत्रकी ओर देखा तो चक्षुकी पुतली दीखी, उसके कारणसे मनुष्यकी परछाहीं नेत्रोंमें दिखाई देती है और उसको आँखकी पुतली कहते हैं।

(५५)–प्रजापतिका तात्पर्य तो यह था, कि–जो जाग्रत्के समय नेत्रमें बैठकर देखता है, वह आत्मा है, क्योंकि देखनेवाला एक आत्मा है। जो दिखाई देता है, वह आत्मा नहीं हुआ करता। परन्तु उन्होंने यह तात्पर्य तो नहीं समझा। और उनके नेत्रमें देखा तो चक्षुकी पुतलीमें अपनी परछाहींको देखा और शरीरको ही आत्मा समझ लिया। यह नहीं समझा, कि–जो हृदय-कमलके भीतर हृदयाकाशरूपी सिंहासन पर बैठ कर देखने वाला असंग आत्मा है, वह ही नेत्रमें प्रतिबिम्बित होकर सबको देख रहा है, नहीं तो नेत्रकी क्य शक्ति है जो देख सके। यदि नेत्र देखता होता तो अन्धा भी देखता, इस लिये देखने वाला जो आँखमें विराजमान है, वह तो आत्मपुरुष है।

(५६)–जब उन्होंने इस रहस्यको न समझा किन्तु इसके विपरीत अपने शरीरके आँखकी पुतलीमें अपनी शरीरकी छायाको देखकर उसकोही आत्मा समझा तो बूझा, कि हे भगवन्! क्या जो स्वच्छ जलमें और स्वच्छ दर्पणमें दिखाई दिया करता है यही आत्मा है? ब्रह्माजी ने कहा, कि–जो मैंने बताया है वह इन सब (आँख आदि) में है।

(५७)–ब्रह्माजीका तात्पर्य तो यह था, कि–जो देखने वाली ज्योति है, वह जाग्रत्में संकल्पपर आरूढ़हुई विष-

मान है। जिसको देखना होता है नेत्रोंसे संकल्प और नेत्रकी किरणें निकल कर दिखाई देने वाली वस्तु पर जा सकते हैं। और उनको यह देखने वाला द्रष्टा स्वयंज्योति आत्मा उसी प्रकार एक होता हुआ प्रकाशित करता है कि—जिस प्रकार धूप अथवा दिनका प्रकाश दीवार पर पड़कर उसको प्रकाशित करता है। जब इस प्रकार साक्षी आत्मा, नेत्रसे दिखाई देने वाली वस्तुओंको घेरताहुआ उनसे एक होजाता है, तब इसको ही देखना कहते हैं।

(५८)—यद्यपि संसारमें प्रत्येक वस्तुको देखते समय इसी आत्मज्योतिकी आभाको हम पहिले देखते हैं, पीछे वस्तुको देखते हैं, तब भी इस देखते हुएको नहीं देखते, यह बड़े खेदकी बात है। क्योंकि—जब किसीसे दीवारकी ओर अंगुली करके हम बूझते हैं, कि—यह क्या है तब वह यही कहता है, कि—यह दीवार है, यह नहीं कहता कि—यहाँ एक आत्मप्रकाश है, जिससे दीवार प्रकाशित होती हुई दिखाई देती है। परन्तु जो जानने वाले हैं, वह पहिले आत्मप्रकाशको, फिर दिनके चाँदनेको और फिर दीवारको देखते हैं।

(५९)—इसी प्रकार जो प्रतिबिम्ब जलमें दिखाई देता है अथवा जो प्रतिबिम्ब दर्पणमें दिखाई देता है, तो पहिले उसमें देखनेवाले द्रष्टाका प्रकाश जो आत्मप्रकाश है, वह दिखाई देता है फिर दिनका चाँदना और फिर प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, अन्यथा अन्धेको अथवा अन्धेरेमें भी यह प्रतिबिम्ब दिखाई देना चाहिये। ब्रह्माजीने तो प्रतिबिम्बोंको व्यास कर दिखाई देने वाले आत्मप्रकाश को लक्ष्य करके कहा था, कि—हाँ यही आत्मा है जो

मैंने अपने नेत्रोंमें देखने वाला बताया है, यह इन सबों में एक होता हुआ देखता है, उसको ही तुम देखो। परन्तु उन्होंने तो उन ही मनुष्यों की समान, जो दीवारको तो देखते हैं और प्रकाशको देखते हुए भी नहीं देखते, इस आत्माको न देखा। और यह विश्वास कर बैठे, कि-यह शरीर कि-जिसकी छाया नेत्र या स्वच्छ जल अथवा दर्पणमें दीखती है आत्मा है, अमृत है, और इसका ज्ञान होनेसे मुक्ति मिल जाती है और इसीसे प्राणी सत्संकल्प होजाता है।

(६०)-इस कारण ब्रह्माजीने जान लिया, कि यद्यपि इन्होंने बत्तीस वर्ष तक मेरे पास ब्रह्मचर्य किया है, परन्तु ये भोगी राजे हैं, इनके चित्तोंमें बड़े २ पापमय विचार हैं, इसीलिये इनकी भीतर देखनेकी शक्ति गदली होरही है। इसीलिये ये आत्मप्रकाशको देखतेहुए भी नहीं देखते, और मेरे वचनोंको सुनतेहुए भी नहीं सुनते और मेरे तात्पर्यको समझतेहुए भी नहीं समझते। इन्हें अभी अधिक ब्रह्मचर्य करना चाहिये। परन्तु मैं इनसे कहूँगा, कि-तुम तुच्छबुद्धि हो, मेरे तात्पर्यको नहीं समझते, तो राज्य के और अधिक विद्वान् होनेके कारण अभिमानवश क्रुद्ध होजावेंगे, और कहीं ऐसा भी न होजाय, कि इस अपमानके कारण इनका मन आत्माके जाननेकी ओरसे हट जाय। इस लिए इनसे इस प्रकार कहना चाहिये, यह स्वयं अपनी भूलको समझ लें और द्वितीय वार ब्रह्मचर्य करें।

(६१)-खेदकी बात है, कि-पहिले तो मात्रामात्र जानने वाले इसको चाहते ही नहीं। अगर चाहते हैं तो साधुओं

के वचनको नहीं समझने और खेदकी बात है, कि-साधु भी उनको निर्बुद्धि और कुबुद्धि कहते हैं और वह भी पश्चिमीविद्याके अभिमानमें भरकर उनको मूढ़ जानते हैं और उनसे नहीं बूझते। यही बड़ा भारी परदा पापोंके कारण उनके ऊपर पड़ाहुआ है। तो फिर उनको किस प्रकार यह रत्न मिल सकता है और किस प्रकार वह आत्मदर्शन मिल सकता है, कि-जिसके पाने पर सब इच्छाएँ सुफलसें ही चरितार्थ होजाती हैं।

(६२)-इसी कारण ब्रह्माजीने उनसे कहा, 'कि-तुम निर्मल जल और स्वच्छ दर्पणोंमें मेरे कहे हुए आत्मा को देखो और देखकर विचार करो। और विचारने पर भी तुमको कुछ सन्देह रहे तो मुझसे बूझना। तब उन दोनोंने इसीप्रकार किया, निर्मल जल और स्वच्छ दर्पणों में देखा और कुछ भी नहीं कहा। तब ब्रह्माजीने कहा, कि-तुमने क्या देखा। तब उन्होंने कहा, कि-हमने अपने आपको ही सब प्रकारसे देखा है,क्या शिर,क्या मुख,क्या हाथ पैर, अधिक क्या कहें नखसे लेकर केशपर्यन्त तक को देखा। यही हमारे आत्माका पूरा दृष्टान्त है।

(६३) तब ब्रह्माजीने विचार किया, कि-विचारनेसे भी इनको समझ नहीं आई, इनके भीतर बड़े २ दोष भरेहुए हैं अतः यह अभी कैसे समझ सकते हैं। अतएव उन्होंने कहा, कि-जिस प्रकार आप घरमें अच्छे२ वस्त्र और सुंदर आभूषण पहिरते थे,ऐसे ही वस्त्र और आभूषण पहर कर जल और दर्पणोंमें देखो। तब उन्होंने ऐसा ही किया। तब ब्रह्माजीने उनसे कहा, कि तुमने क्या देखा। तब उन्होंने उत्तरदिया, कि—जिस प्रकार हम

अच्छे २ वस्त्र और आभूषण पहिरे हुए हैं तैसे ही हम दिखाई दिये हैं।

(६४)–तब ब्रह्माजीने कहा, कि–तुम अपने वस्त्र और आभूषणोंको उतार डालो और ब्रह्मचारीकी समान लोम और नखोंको कटा डालो। इस प्रकार शिर मुँडा कर फिर जल और दर्पणोंमें देखो। तब उन्होंने ऐसा ही किया। तब ब्रह्माजीने उनसे बूझा, कि–तुमने क्या देखा ? तब उन्होंने कहा कि–जिस प्रकार हम शिरमुँडे नाखूनकटे और नंगे थे, तैसे ही हमने अपने को जल और दर्पणोंमें देखा, इस कारण यह शरीर ही हमारा आत्मा है। तब ब्रह्माजीने उनको बच्चोंकी समान तसल्ली देनेके लिए कहा, कि—यही आत्मा है यही अमृत है, और यही (गनी) निरपेक्ष आनन्दी है और यही ब्रह्म है। यद्यपि ब्रह्माजीने उनसे अप्रसन्न होकर कहा था; कि—हे बुद्धिके शत्रुओं ! यदि यही आत्मा होता तो यह तो प्रत्येकको ज्ञात है तो फिर इस की पहिचानके लिये ब्रह्मचर्य करनेकी क्या आवश्यकता है अतः तुमको यह समझना चाहिये, कि–यह आत्मा नहीं है। परन्तु उन दोनोंने यह नहीं समझा, किन्तु उल्टे सन्तोष पाकर चले आये।

(६५)–जब वे दूर निकल गए और प्रसन्नताके कारण हर्षमें भर गए। उससमय ब्रह्माजीने उनकी ओर तिरछी दृष्टिसे देखकर कहा, कि–यह मुझसे मिलते हुए भी नहीं मिलते और आत्माको जानतेहुए भी उसको विना पहि-चाने हुए ही भाग कर चले जा रहे हैं। केवल यही इस अज्ञानके चक्रमें नहीं रहेंगे, किन्तु इन्होंने मुझसे जो कुछ

सुना है, उसको यह अपनी जातिवालोंको भी सुनावेंगे और यही देववाणी उनके लिए दस्तावेज होगी आप तो यह खड्डमें गिर रहे हैं, दूसरोंको भी खड्डमें गिरा देंगे। क्योंकि—जो अन्धा होकर भी अन्धेको पकड़ कर लेजाता है, तो वे दोनों ही खड्ड वा गड्ढेमें गिर पड़ते हैं। इसी प्रकार दूसरे भी अज्ञानग्रस्त हो जायेंगे, फिर उनकी चिकित्सा होना कठिन होजावेगा।

(६६)-अब यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिये, कि-'सत्य-वादी ब्रह्माजीने क्यों कह दिया, कि—जो तुमने समझा है, वही आत्मा है और अमृत है, और वही गनी है' क्योंकि—जिस प्रकार वार २ अपने शत्रुओंके पास जाने वाले बेटेसे पिता वार २ उनके पास जानेसे बेटेको मना करता है और जब पुत्र बारबार समझाने पर भी नहीं मानता तो बेटेसे कह देता है, कि—जा उन्हींके घर झख मार और फिर चुप होजाता है; कुछ नहीं कहता। इसी प्रकार ब्रह्माजीने कह दिया, कि—यही आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, जाओ!

(६७)-क्योंकि-अनुभवी जानते हैं, कि—सत्यवादी पिताके इस वचनका यह तात्पर्य नहीं होसकता, कि—पुत्र शत्रुके घर जावे। परन्तु वार वार समझाने पर भी पुत्रके न माननेके कारण यह कहकर पिता उससे अप्र-सन्नता प्रकट करता है, कि—यदि वह लड़का बुद्धिमान् होगा तो मेरी अप्रसन्नता समझ कर फिर ऐसा नहीं करेगा। इसी प्रकार अनेक प्रकारसे उनको समझानाचाहा जब वे नहीं समझे तो अपनी कुछ अप्रसन्नता प्रकट की और जो दोष उनके भीतर थे उनको अधिक समझाना

छ्या समझा। और यह भी विचारा, कि जब तक यह स्वयं न समझेंगे हमारा विचार ठीक नहीं है तब तक इनको अधिक समझाना ठीक नहीं है और इन्हें बेसमझ कहना तथा ब्रह्मचर्य करनेको कहना अच्छा नहीं होगा, क्योंकि—ये त्रिलोकीके राज्यके घमण्डसे उल्टा सामना करेंगे।

(६८)—ब्रह्माजी चुप इस कारणसे होगये थे, कि-यदि इनका कोई कर्म अच्छा होगा, तो यह समय आने पर स्वयं ही मेरी चालको विचारेंगे और जानलेंगे कि-जब हमने अच्छे वस्त्र और आभूषण पहिरे थे, तो उस समय जलमें और दर्पणमें भी छाया अच्छे वस्त्र और आभूषणों वाली दीखी और जब मूँड मुँडा कर नाखून कटवा कर पानीमें देखा तो छाया भी शिर मुँडी हुई और नाखून कटी हुई और नंगी दीखी थी, तो विचारेंगे, कि—जैसे छायामें भी वस्त्र और भूषण आनेसे दूसरे एकत्रित हुये होते हैं, और फिर उतर भी जाते हैं, इसी भाँति नाखून और रोम भी इस शरीरमें दूसरे आते जाते हैं केवल नाखून और रोम ही वस्त्रोंकी समान नहीं उतरते हैं, किन्तु सब शरीर और सब भीतरी मनोवृत्तियें इन्द्रियें और अहंकार भी दूसरेकी समान इस देखने वालेमें पहिरे गये हैं, वे भी वस्त्रोंकी समान उतर जाते हैं जो देखने वाला प्रकाश है, वह शरीर मन आदि सबसे अलग है वही आत्मा है।

(६९)—परन्तु उन दोनोंने इस रहस्यको न समझा और उल्टा सन्तोष पाकर घरको चल दिये,। उस समय ब्रह्माजीने उनके चले जाने पर उनके पीछे कहा कि-यह

मत्स्वरूप हैं, तब भी मुझसे विना मिले ही चले गए,
यद्यपि यह आत्माको नहीं जानते हैं, तब भी हम समझ
रहे हैं, यह जानकर चले गए। ब्रह्माजीने उनके सामने
यह बात इस लिए नहीं कही थी, कि-सामने कहने पर
अभिमानवश यह अप्रसन्न होजाते और सामना करने
लगते। और पीछे इस लिये कहा, कि-मेरी प्रतिज्ञाका
ढँढोरा उन्होंने सुना है, तब मेरा वचन भी उनके कान
तक किसी प्रकार पहुँच जायगा तब यह अपनी नासमझी
को समझ कर फिर ब्रह्मचर्य करके मेरे वचनको
समझ सकेंगे।

(७०)-जब देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन
को भी पापोंके अर्थात् मलिन संस्कारोंके कारण देववाणी
समझमें न आसकी, तो बेचारा भाषामात्र जानने वाला
कि—जो रात दिन कुसंस्कारोंमें पड़ा रहता है। इसको
सहजमें कैसे समझ सकता है। यदि उसके पूर्वजन्मका
कोई पुण्य उदय होता है, तो वह शास्त्रके नियमोंमें रह
कर कर्मकी उपासना करनेपर इस वचनके रहस्यको
समझ पाता है।

(७१)-कहनेका तात्पर्य यह है कि-देवराज इन्द्र
और असुरराज विरोचन सन्तुष्ट होकर घरको लौटने
लगे। इन दोनोंमें असुरराज विरोचन तो महापापों (घोर
कुसंस्कारों) से लिप्त था। इस लिये वह सन्तोष पा,
जल्दी २ पैर उठाता हुआ अपनी राजधानीमें पहुँचगया
और असुरोंसे मिलकर कहने लगा, कि-यह देववाणी है
कि-"यह शरीर अपना आत्मा है, इसको साबुनसे
स्वच्छ करना चाहिये, इसका पालन करना चाहिये और

इसको अच्छे २ वस्त्र और आभूषण पहराने चाहिये औ
बढ़िया २ लड्डू बना इसको देने चाहिये और इस
मेवा देना चाहिये। भाइयों हम प्राणी हैं और परमात
के अधीन हैं।

(७२)–ब्रह्माजीने मुझको अच्छे २ वस्त्र और भूष
पहिरायेथे और शीशा भी दिखलाया था। यह सब इ
लिये किया था, कि–जिससे मैं अपने आत्माको देखूँ औ
उसको देख२ कर प्रसन्न होऊँ। हे भाइयों! तुम भी इ
आत्माकी इसी प्रकार पूजा करो। नाखून और केश क
डालो और साबनसे स्वच्छ होकर शरीर–आत्मा-
मेल छुटा कर पवित्र करो। अच्छे २ शृंगार और दर्प
से अपने कमरोंको सजाओ फिर अपने आप सुन्दर व
और आभूषण पहिर कर दर्पणोंमें अपने आत्मप्रकाश
देखो। इसीका नाम प्रसन्नता और परमानन्द है। इ
लिये मनुष्य दर्पणमें मुख देख कर प्रसन्न होता है।

(७३)–यह मत समझो कि–यह मरजाता है, कि
यह तो सो जाता है, कभी तो सोते २ ही जा
उठता है और कभी ऐसा होता है कि– फिर शीघ्रही न
उठता, किन्तु जब ब्रह्माजी स्वयं आवेंगे तब एक बड़े न
सिंगेको जोरसे फूँकेंगे और सब सोये हुए शरीर अथ
मुरदे जाग उठेंगे और यही उनकी (कयामत) मुक्ति है

(७४)– इसलिये जब ऐसे सो जावे, जिसको अ
पुरुष मरना कहते हैं, तो उसको साबुनसे स्न
कराना चाहिये और अच्छे वस्त्र तथा कफनसे सजा
चाहिये और उस पर नाना प्रकारके सुगंधित पदार्थों
उस पर लेप करना चाहिये और अच्छे सन्दूकमें बन्द

उसको पृथ्वीमें सावधानीके साथ गाड़ देना चाहिये, जिससे उसको कुत्ते भेड़िये आदि वनके पशु न खासके और नरसिंहके बजनेकी राह देखते रहना चाहिये। ये सब उसकी जोरदार ध्वनिको सुनतेही उठेंगे और दिव्य पिता ब्रह्माजीसे मिल जावेंगे और पिताने जिस प्रकार विज्ञापन दिया है, उस प्रकार स्वर्ग और अप्सराओंको पावेंगे और आनन्दित रहते हुए सर्वदा अपने पिताके पास रहेंगे।

(७५)—परन्तु जो दिव्य पिता (ईश्वर) की पूजा करेगा, उस पर वह प्रलयके समय प्रसन्न होंगे और जो उसकी पूजा पाठ नहीं करेगा उससे वह अप्रसन्न हो जायगा। मुझ भाषानुवाद करनेवालेके मतमें तो यही शिक्षा पश्चिममें फैली हुई है। और विरोचनकी समझी हुई इस देववाणीका विस्तार उनके मतमें दिव्य पुस्तक कहलाती है और उनको,उनकी भाषामें जबराइल कहते हैं। और जो उस शिक्षाको संसारमें बतानेवाले हैं, वे नबी या रसूल कहलाते हैं।

(७६) प्रिय सज्जनों! असुरराज विरोचनकी तो यह गति हुई अब देवराज इंद्रका हाल सुनिये।जब वह चित्त में सन्तोष पाकर लौटरहा था उस समय वह ब्रह्माजीके वचनका स्मरण करता हुआ और विचारता हुआ धीरे२ चला जाता था। परन्तु देवताओंके समीप पहुँचनेसे पहिले अपने प्राचीन पुण्यकर्मोंके कारण वह एकाएकी डरगया और विचारनेलगा कि-ब्रह्माजीने मुझे शिर मुड़ा वस्त्र पहरवाकर जल और दर्पणमें देखनेको कहा था उस समय,छाया भी शिर मुँडी और वस्त्रोंसे विभूषित

दीखी थी और पहिले जब शिर मुँडा नहीं था और नाखून कटे हुए नहीं थे तो छायामें नाखून और केश दीखे थे। अतः प्रतीत होता है जिस प्रकार शरीरमेंसे नाखून और केश उतर जाते हैं इसी प्रकार इसका प्रत्येक अंग भी भस्म होकर उतर जाता है।

(७७)—क्योंकि—जब शरीर अच्छे वस्त्र वाला होता है, तो छाया भी दर्पणमें अच्छे वस्त्र वाली दिखाई देती है और जब नाखून काट लेते हैं तो छाया भी नाखून कटी दिखाई देती है। जब शरीर काना होता है, छाया भी कानी दीखती है, जब शरीर अन्धा होता है तो छाया भी अन्धी दीखती है। जब इस शरीरका नाश होजाता है। तो छायाका भी नाश होजाता है इसमें तो मैं कुछ भोग नहीं देखता।

(७८)—यह विचार कर इन्द्र डरा, कि—मैं ब्रह्माजीके वचनको ठीक ठीक नहीं समझ सका, कि-उसका क्या अभिप्राय है। विज्ञापनमें तो कहा है, कि—आत्मा अमृत है, निर्द्वन्द्व है सर्वदा जीवित रहता है, परन्तु यह शरीर तो मरनेवाला है तब यह सर्वदा जीवित कैसे रहसकता है और अमृत कैसे होसकता है इसपर तो सब प्रकारके भय पड़ सकते हैं और इसको सब बातोंकी भी आवश्यकता पड़ती है यह भूँक लगते ही भोजन न मिलनेसे दुःखी होजाता है इसमें तो मैं कुछ सार नहीं देखता।

(७९) इसकारण देवराज इन्द्र मार्गमेंसे फिर लौट पड़ा और दूसरी बार ब्रह्मचारी बन कर समिधाओंको हाथमेंले ब्रह्माजीके पास आया तब ब्रह्माजीने उससे बूझा कि—हे देवराज इन्द्र! तुम तो सन्तोष पाकर

विरोचनके साथ२ ही चलेगये थे अब फिर क्यों लौटकर आये हो ।

(८०)-तब देवराज इन्द्रने कहा, कि जब यह शरीर अच्छे वस्त्रोंसे विभूषित रहता है तो नेत्रमें रहनेवाली छायाभी अच्छे वस्त्रोंवाली होती है जब यह अच्छे गहने पहरे हुए होता है तो छाया भी अच्छे वस्त्रवाली दीखती है जब यह शरीर सिर घुटा हुआ और नाखून कटा हुआ होता है तो यह छाया भी शिर मुंडी और नाखून कटी हुई होती है अधिक क्या कहूँ इसके काने होनेसे छाया भी कानी दीखती है और शरीरके अन्धे होनेसे यह छाया भी अन्धी होजाती है शरीरके लँगड़े होने पर छाया भी लँगड़ी होजाती है और शरीरका नाश होनेसे छाया भी नष्ट होजाती है मैं तो इसमें कुछ सार नहीं देखता ।

(८१)-तब ब्रह्माजीने कहा, कि धन्य है ! देवराज इन्द्र ! धन्य है ! तुमने जो बात सोची है वह ठीक है । इस आत्माको न तुम पहचानसके थे न विरोचन ही समझ सका था, बहुत अच्छा हुआ कि-तुम लौट आए । जिस आत्माको जाननेसे सब कुछ मुफ्तमें ही मिलता है उस का उपदेश मैं तुमको फिर दूँगा परन्तु तुम बत्तीस वर्ष तक मेरेपास रहो ब्रह्मचर्य पालो तब यह तुम्हारी समझ में आवेगा ! जिस समय ब्रह्मचर्यसे पापोंका मैल छूट जाता है तब आत्माको दर्शन सरल होजाता है इस बात को सुन कर इन्द्रने ब्रह्माजीकी आज्ञानुसार फिर बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्य किया ।

(८२) जब देवराज इंद्रने दूसरी बार बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य पाल लिया तब ब्रह्माजीने उसको अधिकारी

जानकर कहा, कि—हे बेटा ! जो जाग्रत्में नेत्रके भीतर कार्यव्यवहार करता हुआ दिखाई देता है वही स्वप्नमें आँखसे निकलकर विना आँखके स्वप्नके सब प्रपञ्चको देखता है। इस लिये जो स्वप्नमें आकर अपनी महिमा को प्रकट करता है वह आत्मा है छाया आत्मा नहीं है और यह अमृत है (गनी) निरपेक्ष है यह ब्रह्म है उसके दर्शनसे मुक्त होजाता है और मुक्तमें हीं सब इच्छाएँ पूर्ण होजाती है तब इन्द्र सन्तोष पाकर फिर लौट गया।

(८३) ब्रह्माजीके कथनका यह अभिप्राय है कि—यह जाग्रत् दशामें तो आँखमें बैठ कर देखता है और जब स्वप्न होता है तो आँखको भी वस्त्रोंकी समान उतार देता है और बिना आँखके स्वप्नसे संसारको देखता है यहाँ विना आँखोंके देखता है विना कानोंके सुनता है विना पैरोंके चलता है विना हाथोंके पकड़ता है जब यहाँ पर न तो आँख रखता है न कान न पाँव न हाथ रखता है इसलिये उसकी कोई आकृति नहीं है वह तो असंग है फिर क्योंकि—वह सबको देखता है सब सुनता है सबको पकड़ता है और सबसे अधिक दौड़ता है इस लिये अविनाशी स्वयं ज्योति है।

(८४) जिसप्रकार कोई पुरुष वस्त्रको पहिरनेसे वस्त्र वाला है किन्तु स्वयं वस्त्र नहीं होजाता, इसी प्रकार जाग्रत्में आँखके भीतर आनेसे आँख वाला होजाता है स्वयं आँख नहीं होजाता और कानमें आनेसे कानवाला सा होजाता है स्वयं कान नहीं होजाता अधिक क्या सब शरीरमें आनेसे शरीरवालासा होजाता है स्वयं

शरीर नहीं होजाता और अहंकारमें आनेसे अहङ्कारवाला सा होजाता स्वयं अहंकार नहीं होजाता और जिसप्रकार वस्त्र सरलतासे उतर जाते हैं उसीप्रकार क्या आँख क्या कान क्या शरीर क्या अहंकार इसमेंसे सरलतासे उतर जाते हैं उनसे बन्धनमें नहीं पड़ता इसकारण यह नित्य मुक्त है क्योंकि—सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जावे तो जिसप्रकार पहिनेहुए वस्त्र पहिरनेवालेके शरीरमें सम्मिलत नहीं हो जाते शरीर तो जैसा है वैसाही रहता है इसीप्रकार आँख नाक कान और शरीरमें आयाहुआ भी अपने स्वरूपमें ज्योंका त्यों आँखरहित कानरहित शरीररहित और अहंकाररहित रहता है इसी कारण यह आत्मा शुद्ध है।

(८५)—तब भी जिज्ञासु आँखमें आनेवालेको आँख वाला जानता है परन्तु वह आंखवाला नहीं है किन्तु आँखवालासा होता है। कानमें आनेवालेको कानवाला जानता है परन्तु वह कानवाला नहीं है किन्तु कानवालासा होता है। अहंकारमें आतेहुएको देखकर अहंकारवाला समझता है किन्तु वह अहंकारवालासा होता है अहंकार नहीं होता शरीरमें आते हुएको शरीर वाला जानता है परन्तु वह शरीरवालासा होता है शरीर नहीं होता जिस प्रकार स्वच्छ दर्पणमें मुख नहीं आजाता है परन्तु आया हुआसा प्रतीत होता है इसी प्रकार वह नेत्र कान नाक शरीर और अहंकारमें कभी नहीं उतरता है किन्तु उनमें उतरा हुआसा प्रतीत होता है बस यह आंखमें नहीं उतरता है किन्तु भाषा जाननेवालोंके दर्शनके कारण उसमें प्रकट हुआ है जिससे दर्शनाभिलाषी यहाँ उसका दर्शन पावेंय और उसके ज्ञानमें मिल जाय।

(८६)-जो पुरुष इसप्रकार आँख नाक कान मुख और शरीरमें प्रकट होनेवालेको असङ्ग नहीं देखसकते तो उन को चाहिये, कि-वे उसे जाग्रत् और स्वप्नमें अस्ति १ नास्ति२ (नफ़ी असबातके क़ायदे) से उसे पहिचान लेवें क्यों कि-जब वह जाग्रत्में आता है तो और आँख नाक मुख आदि शरीरकी आकृतिमें आजाता है,यह आकृतियें उसकी अपनी नहीं हैं, दूसरी हैं, औपाधिक हैं,क्योंकि-जब वह स्वप्नमें जाता है तो यह आकृतियें उससे वस्त्र की समान उतर जाती हैं और स्वप्नप्रपञ्चकी सङ्कल्पमयी आकृतिएँ उसमें उसकी अपनी आकृतियें नहीं हैं। सब दूसरी हैं। क्यों कि-जब स्वप्नसे निकलता हुआ जाग्रत् में आता है, तो स्वप्नकी आकृतियें भी जाग्रत्की आकृतियों की समान उतर जाती हैं। और जो वस्तुएँ जिस से उतर जाती हैं, वे उसकी आत्मा नहीं हो सकती, दूसरी और अनात्म होती हैं।

(८७)-क्योंकि-जाग्रत् और स्वप्नकी सब आकृतियें औपाधिक हैं क्योंकि-जाग्रत्की आकृतिएँ स्वप्न और स्वप्नकी आकृतियें जाग्रत्में दूर होजाती हैं और स्वप्नसे निकल कर जाग्रत्में याद करता है, कि-मैंने यह २ स्वप्न देखा है, तो सिद्ध होता है कि-जो स्वप्नमें देखने वाला था, वही जाग्रत्में जाग्रत्को देख रहा है और जो दूर नहीं होता प्रत्येक दशामें वर्तमान रहता है वही आत्मा है और उसकी कोई आकृति नहीं है वह असंग है। इस लिये प्रतीत हुआ कि-मनुष्यका आत्मा असंग और देखने वाला साक्षी है। मुद्दई अथवा मुद्दाअलह नहीं है। जो अपने आपको ऐसा जानता है

वह ज्ञानस्वरूप होजाता है। क्योंकि–साक्षीको किसी कामसे दण्ड या इनाम नहीं मिला करता, वह तो पूर्ण स्वतंत्र है।

(८८)–ब्रह्माजीने पहिले विरोचनके साथमें भी इन्द्र को इस देखनेवालेको ही आँखमें बतलाया था, परन्तु जब वह न समझ सके, तो इन्द्रको (नफ़ी असबात) अन्वयव्यतिरेक से समझाया उसीको स्वप्नमें प्रमाणित किया और आँख नाक कानका निषेधकर दिया।तब इन्द्र सन्तुष्ट होता हुआ चला गया। परन्तु मार्गमें ही उसको फिर शङ्का हुई और वह भयभीत होगया।

(८९)मार्गमें उसने विचारा कि–यद्यपि यह शरीर अंधा काना होता है,परन्तु स्वप्नमें यह देखनेवाला अंधा काना नहीं होता है क्यों कि—स्वप्नमें यह देखने वाला पुरुष बिना आँखके देखता है बिना कानोंके सुनता है, बिना पैरोंके चलता है बिना हाथोंके पकड़ता है इस कारण क्या नेत्र क्या कान क्या नाक क्या मुख क्या शरीर इत्यादिके नाशसे वह नष्ट नहीं होता है यह तो सत्य है। परन्तु जब स्वप्नमें भी उसे मारतेसे हैं ढकेलते से हैं और वह भय देखतासा होता है। और रोतासा होता है इस कारण मैं इसमें भी भोग नहीं देखता।

(९०) इन्द्रके विचारका सार यह है कि–जो आत्मा जाग्रत् और स्वप्नमें आता है वह जाग्रत्के शरीर और स्वप्नकी आकृतियोंसे अलग और सर्वदा असंग है न तो शरीरके मरनेसे मरता है न किसी आँख आदिके फूटनेसे अन्धा काना होजाता है, क्यों कि– अन्धापन तो वास्तवमें आँखका फूट जाना है तब भी स्वप्नमें बिना

आँखके देखता है अतः (प्रतीत होता है कि वह आँखके अन्धेपनसे अन्धा नहीं होता है इसी प्रकार वह कानके बहरे होजानेसे बहरा भी नहीं होता है और टाँगके कटनेसे लँगड़ा भी नहीं होता और वह शरीरके मरनेसे मरता भी नहीं है शरीरके किसी धर्मसे भी वह नहीं मिलता तब भी वह स्वप्नमें डरता हुआसा होजाता है हाथीको देखनेपर भागने लगता है और गड्ढेमें गिरजाता है यदि किसी बलवान्को देखलेता हैतो उससे पिटताहुआ सा होजाता है और किसी बराबर वालेको देखलेने पर उसको ढकेलता हुआसा अथवा ढकेला जाता हुआसा होजाता है वास्तव में रोता नहीं है परन्तु रोता हुआ सा और विनय करता हुआसा होता है इसकारण यह (गनी) नहीं है अर्थात् निर्द्वन्द्व नहीं है।

(६१)—स्वप्नमें मारनहीं खाता किन्तु मार खातासा होता है,ढकेला नहीं जाता,किंतु ढकेला जातासा होता है रोता नहीं परन्तु रोता सा होता है,यह भी स्वप्नमें उस में एक दोष दिखाई देता है। इस कारण मैं इसमें कुछ सार नहीं देखता। यह विचार कर वह फिर समि-धाओंको ले फिर ब्रह्माजीके पास पहुँच गया।

(६२)—तब प्रजापतिने पूछा, कि—हे इन्द्र! तुम तो आत्माकी पहिचान कर सन्तोष पाकर चले गए थे, फिर क्यों लौट आए हो! तब इंद्र ने कहा कि—हे भगवन्! यद्यपि शरीरके अंधे होनेसे स्वप्नमें यह आत्मा अंधा नहीं होताहै,न काना होनेसे काना होता है और शरीरके किसी दोषसे दूषित होने पर भी दूषित नहीं होता है तो भी यह स्वप्नमें मारता और ढकेला जाता सा दीखता है

और भयदायक बातोंको देखता है तो डरता है और रोतासा होता है इस कारण यह (गनी) निर्द्वन्द्व नहीं है। मैं तो इसमें भी कुछ सार नहीं देखता।

(९३)तब ब्रह्माजीने कहा कि-हे इन्द्र! धन्य है! धन्य है! तुमने अच्छा विचार किया। तू लौट आया है अतः मैं तुझे फिर आत्मविषयक शिक्षा दूँगा तुम मेरे पास बत्तीस वष तक फिर रहो और ब्रह्मचर्य का पालन करो फिर समझमें आजावेगा। तब इन्द्रने फिर तहाँ बत्तीस वर्ष रह कर ब्रह्मचर्यका पालन किया।

(९४)—जब इन्द्र और बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य करता रहा, तब ब्रह्माजीने उसको स्वच्छ और अधिकारी जान और कहा, कि—हे इन्द्र! यह आत्मा स्वप्नमें मार खाता सा ढकेला जाता और रोतासा होता है। परन्तु जिस प्रकार उसमें जाग्रत् दशा (बेगाना) दूसरी होती है, इसी प्रकार स्वप्न दशा भी दूसरी होती है। और जो रोता सा ढकेला जाता सा और मार खाता हुआ दीखता है, वह उसका अपना स्वभाव नहीं है, और स्वप्नका स्वभाव है। जब वह स्वप्नसे भी निकल कर सुषुप्तिमें जाता है, तो तहाँ न कुछ स्वप्न देखता है, न कुछ याद करता है और न कुछ इच्छा करता है और पूरे आराममें रहता है वह आत्मा है। यह ही अमृत है, यही ब्रह्म है, इसीकी पहिचान पर मुक्ति निर्भर है,तब इन्द्र सन्तोष पाकर लौट गया।

(९५)—रहस्यकी बात यहाँ पर यह है, कि—पहिली बार शिक्षा देते समय ब्रह्माजीने आत्माको जाग्रत्के समय आँखमें दिखलाया था, तब क्या शरीर क्या इंद्रियें

क्या मन क्या अहंकार सबमें सब बालासा था, परंतु जब दूसरी बार स्वप्नकी शिक्षा दी तो क्या आँख क्या कान क्या नाक सब शरीर उससे दूर होगए थे, बस मन बुद्धि चित्त अहंकारमें प्रकट हुआ, स्वप्नमें लीला करतासा रह गया था और इन मन बुद्धि चित्त और अहंकारके चिन्ह उसमें कल्पित होते थे, इससे वह इन्द्रको मार खातासा रोता सा और ढकेला जातासा दिखाई दिया था और इस कारण (गनी) निर्द्वन्द्व दिखाई नहीं दिया था। और भय आदि सब मनके धर्मोंको और भयावने दृश्यों को देखकर अहंकारके कारण मार खातासा रोतासा और ढकेलासा जाता था, वह सब आत्मामें मानता था, अब उसको सुषुप्तिका उपदेश दिया, तहाँ पर मन बुद्धि चित्त और अहंकार भी उससे इसी प्रकार उतर गए, जिस प्रकार स्वप्नमें इन्द्रियें और शरीर उतर गये थे।

(९६)–अब जब सुषुप्तिमें मन बुद्धि और चित्त तथा अहंकार भी उतर जाते हैं, तो वह कुछ नहीं विचारता है, क्योंकि–विचारना तो मनका धर्म है। न किसी को जानता है, क्योंकि–जानना तो बुद्धिका धर्म है। न किसीका स्मरण करता है, क्योंकि–यह अहङ्कारका धर्म है। इनको आत्मा नहीं करता है।

(९७) हे भाइयों! वह कैसे सोच सकता है, कैसे जान सकता है, कैसे विश्वास कर सकता है। जो सोच पहिचान स्मरण विषयके कारण थे, दूसरे थे, सबके सब यहाँ वस्त्रोंकी समान उससे उतर गए, वह तो सबका केन्द्र ज्योंका त्यों (वेचूशोचरा) असंग रह जाता है। तहाँ उस अवस्थामें मन सोच बुद्धि और अहंकार नहीं

पहुँच सकते। इसी लिये ब्रह्माजीने उसको मन और बुद्धि से भी अलग दिखलाया और कहा, कि—यह जो सुषुप्ति में सोया हुआ पूर्ण आनन्दमें रहता है, यह आत्मा है, यही निरपेक्ष है यही ब्रह्म है, तब इन्द्र सन्तोष पाताहुआ लौट गया।

(९८)—मार्गमें चलता २ वह ब्रह्माजीके उपदेशका मनन कर रहा था। तब फिर शंका उठी और वह डरने लगा, कि—यद्यपि यह सुषुप्तिमें मार न खाता हुआसा न ढकेला जाता हुआसा और न रोताहुआसा होता है तथा आराममें होता है, तो भी वह न अपने आपको जानता है, न दूसरेको जानता है, तो यह भी एक मुरदासा होता है, इस कारण मैं इसमें कुछ सार नहीं देखता। इसलिये वह फिर तीसरी वार हाथमें समिधाओंको लेकर ब्रह्माजीके पास पहुँचा।

(९९)—तब ब्रह्माजीने उससे कहा, कि—हे इन्द्र! तू तो आत्माके विषयमें सन्तुष्ट होकर चला गया था; अब फिर क्यों लौट आया? तब उसने कहा कि—हे भगवन्! यद्यपि सुषुप्तिमें यह आत्मा न मार खातासा न ढकेला जातासा और न रोतासा होता है, किन्तु केवल आराममें ही होता है। तब भी उसमें यह दोष दिखाई देता है, कि-न तो वह अपने आपको जानता है और न दूसरेको जानता है। अतः मैं इसमें कुछ सार नहीं देखता।

(१००) तब ब्रह्माजीने कहा, कि—हे इन्द्र! तुम्हारा विचार सत्य है अब मैं फिर तुमको इसकी शिक्षा दूँगा अब तुम फिर पाँच वर्षतक मेरे पास रहो और ब्रह्मचर्यका

पालन करो। अब थोड़ासा परदा रहगया था इससे ब्रह्मा जीने इन्द्रसे पाँच ही वर्ष ब्रह्मचर्य करनेके लिए कहा था इस प्रकार इन्द्रने सब मिलाकर एक सौ एक वर्षतक ब्रह्मचर्य कियाथा, यह बात वेदमें प्रसिद्ध है।

(१०१)-जब देवराज इन्द्रने और पांच वर्ष ब्रह्मचर्य किया, तब ब्रह्माजीने उसको योग्य अधिकारी जानकर कहा, कि—हे इन्द्र ! आँख देखती है, परन्तु अपने देखने को नहीं जानती है, कान सुनते हैं, परन्तु अपने सुननेको नहीं जानते, जिह्वा चखती है परन्तु अपने चखनेको नहीं जानती (तसदीक नहीं करती) क्योंकि-क्या आँख का देखना, क्या कानका सुनना, क्या जिह्वाका चखना सबकी (तसदीक) पहिचान मन करता है।

(१०२) देखो जब मनुष्य किसी विचारमें लीन होता है उस समय उसके नेत्रोंके सामनेसे बहुतसी वस्तुएँ निकल जाती हैं, परन्तु उस समय मन दूसरे विचारमें होता है इस कारण नेत्रके देखनेकी (तसदीक) पहिचान नहीं करता। किन्तु यह प्रमाणित करता है कि-मैं विचार में लीन था अतः मैंने नहीं देखा वह वस्तु शायद मेरी आँखोंके सामनेसे चली गई हो।

(१०३)-जब कोई बात कहता है और सुनने वाले के कान उसको सुनते हैं तो भी यदि मन किसी वस्तुके विचारमें मग्न होता है। तो कहता है, कि—आपने जो कुछ कहा मैंने सुना नहीं, मेरा मन यहाँपर नहीं था। आप फिर कहिये। यद्यपि पहिले भी उसके कानमें शब्द पड़ते थे और सुनाई आते थे, परन्तु कान अपने सुनने की (तसदीक) नहीं करते, किंतु उसके सुननेको प्रमा-

र्णित करने वाला मन उसके सुननेमें साथ नहीं था। इस कारण नेत्र और कान विना तसदीकके देखते सुनते हैं।

(१०४)-इसी प्रकार सुषुप्तिमें भी आनन्दकी खान आत्मा अपने आपको पाता और देखता है, परन्तु उस समय अपने आरामको और अपने आपको (तसदीक नहीं करता) नहीं जानता, क्योंकि-(तसदीक करना) जानना काम मनका है, और वह आत्मा उस समय मन से निकल कर अपने परमानन्दमें आराम पाता है, अतः उसकी (तसदीक) जानकारी कैसे होसकती है।

(१०५)-जिस प्रकार ऊपरके दृष्टान्तमें कान यद्यपि सुनते हैं, नेत्र यद्यपि देखते हैं, परन्तु उसकी जानकारी नहीं होती, इसी प्रकार आत्मा अपने आपको और सब इच्छाओं (मकसूदों) को यहाँ देखता और पाता है, परन्तु उसकी पहिचान नहीं होती।

(१०६)—विचारनेसे सिद्ध होता है, कि-जिस प्रकार ऊपरके दृष्टान्तमें यह कहना ठीक है, कि-यद्यपि कानों ने और नेत्रोंने सुना और देखा, परन्तु मन तहाँ पर नहीं था इस कारण उनके देखने और सुननेकी पहिचान (तसदीक) नहीं हुई तो भी पहिचानका आदी मनुष्य कहता है, कि-जो कुछ नेत्रोंके सामने हुआ मैंने नहीं देखा, और जो कुछ तुमने कहा, मैंने नहीं सुना।

(१०७)-इसी प्रकार जब तुम सुषुप्तिमें जाते हो, और अपने मुख्य आनन्दको पाते हो तो कहते हो कि-मैंने नहीं पाया हम तुम उठकर यही (तसदीक) करते हैं कि—मैं सुखपूर्वक सोया। इस प्रकार तहाँ सुख पाते हुए उसका ज्ञान नहीं पाते हो और उस स्वभावके

कारण कि-जो (तसदीक) जानने में आदी हो रही है, कहते हो, कि—तहाँ कुछ नहीं देखा मुरदासा होगया था। वहाँ कुछ भोग नहीं है परन्तु तुम तहाँ पर अवश्य ही अपने खास आरामको पाते हो अत एव मनमें आकर तसदीक भी करते हो कि—मैं आरामसे सोया इसी कारण विश्वास भी दिलाते हो, कि-तहाँ सब आराम ही देखा था।

(१०८)—जिस प्रकार कोई मनुष्य चश्मा लगानेका आदी होजाता है, तब जब उसको कोई चिट्ठी पढ़नी होती है,- तो कहता है, कि-मुझे ऐनकके बिना दिखाई नहीं देता। यद्यपि वह वास्तवमें अन्धा नहीं होता। तब भी ऐनकके द्वारा देखनेका उसे स्वभाव होजाता है, इसी कारण उसके द्वारा जो कुछ देखता है उसको तसदीक करता है।

(१०९)—विचारने पर प्रतीत होता है; कि—देखना काम आँखका है, ऐनकका नहीं है, क्योंकि—अन्धेको ऐनक भी कुछ काम नहीं देती। तब भी जब ऐनक नहीं होती है, तो स्वभाववश कहता है, कि-मैं अंधासा हूँ, जब ऐनक मिलेगी तो चिट्ठी पढ़ी जावेगी और ऐनक ढूँढने लगता है। इसी प्रकार मनुष्य भी प्रत्येक वस्तुको देखने और पहिचाननेकी तसदीक मनसे करता है। परन्तु जब मन नहीं होता है, तो यद्यपि देखना और सुनता तो है, तो भी उसकी तसदीक नहीं करता है और कहता है कि—न मैंने देखा, न मैंने सुना।

(११०)-तुम भी मनकी तसदीकके आदी हो इस कारण सुषुप्तिमें अपने आपेको जानते पहिचानते और

परमानन्दको पाते हुए भी कहते हो, कि-यहाँ कुछ भी भोग नहीं मिलता (जब नेत्र भी इसी आत्माके कारण देखते हैं, कान भी इसी आत्माके कारण सुनते हैं, जिह्वा भी इसी आत्माके कारण चखती है और मन भी इसी आत्माके कारण (तसदीक) पहिचान करता है। तो क्या आत्मा जो अपना निजका देखना निजका चखना और स्वभावतः पहिचान रखता है, वह अंधा बहरा अथवा झूँठा होसकता है ? कभी नहीं।

(१११)-उसका यह दृष्टान्त है, कि-जैसे कोई अति-उष्ण जलमें हाथ डालने पर कहे, कि-जल उष्ण है, अग्नि उष्ण नहीं है। तो उसकी बुद्धिमें फर्क है, क्योंकि-जल में गर्मी तो अग्निके कारणसे होती है। उष्णता तो अग्नि का मुख्य धर्म है। जलमें जो उष्णता होती है वह तो अस्थायी होती है, इस कारण जल गरम तो होता है, परन्तु वह उष्णात्मक नहीं होता है। और अग्निमें गर्मी अस्थायी नहीं होती है अतः वह गर्मरूप (उष्णतामय) कहलाती है।

(११२)-इसी प्रकार जब आत्मा नेत्रमें आता है तो नेत्र देखता है, जब यह आत्मा उसको छोड़ देता है, तो नहीं देखता। इस कारण प्रतीत होता है, कि—नेत्रमें निजी देखना नहीं है, किंतु (आर्ज़ी) अस्थायी है। जिस प्रकार अग्निके सम्बन्धसे जल अस्थायीरूपसे (आर्ज़ी तौरसे) गर्म होजाता है, इसी प्रकार यह नेत्र भी आत्मा के सम्बन्धसे देखता है।

(११३)-इसी प्रकार जब आत्मा कानमें आता है, तो कान सुनते हैं और जब आत्मा इनसे अलग होजाता

है, तो नहीं सुनते इस कारण प्रतीत हुआ, कि–वास्तवमें कान नहीं सुनते हैं और उनका सुनना अग्निके सम्बन्ध से उष्ण होने वाले जलकी समान आर्जी है।

(११४)–इसीप्रकार मन भी जब ही पहिचानता (तसदीक) करता है, जब आत्मा उसमें आया हुआ होता है और जब आत्मा उससे निकल जाता है तो फिर मन भी पहिचान नहीं करता। इस कारण प्रतीत हुआ, कि–मनकी पहिचान भी निजी नहीं है, अग्निके सम्बन्धसे होनेवाली जलकी गर्मीकी समान आर्जी है।

(११५)–यह बातें तब ही समझमें आती हैं जब सुषुप्तिमें आत्मा इन सबको छोड़कर अकेला रहजाता है उस समय न नेत्र देखते हैं न कान सुनते हैं और न मन पहचान करता है परन्तु यह नहीं होसकता, कि–आत्मा भी उस समय नहीं देखता नहीं सुनता और पहचान नहीं करता क्योंकि—वह तो अग्निमें गर्मीकी समान स्वाभाविक (खास) दृष्टि स्वाभाविक श्रवण और स्वाभाविक पहचान और स्वाभाविक आनन्द है।

(११६)–हे इन्द्र ! अभ्यासवश दो प्रकारका वचन होता है बहुतसे पुरुष जलको उष्ण बतलाते हैं और यों भी कहते हैं, कि–अग्नि उष्ण है, परन्तु बुद्धिमान् पुरुष जानते हैं, कि–जल उष्ण है इस वचनका यह अर्थ है, कि–जल वास्तवमें उष्ण नहीं है दूसरेकी उष्णतासे उष्ण है और अग्नि उष्ण है इस वचनका यह तात्पर्य है कि–वह अपनी उष्णतासे उष्ण है और सत्य तो यह है, कि–उष्ण तो उसे जब कहना चाहिये जब उसमें दूसरेकी

उष्णता आई हो अतएव उसको तो उष्णतामय अथवा उष्णताकी खान कहना चाहिये ।

(११७) इसीप्रकार नेत्र जो देखता है वह भी दूसरे की दृष्टिसे देखता है कान भी दूसरेकी श्रवणशक्तिसे सुनते हैं जिह्वा भी दूसरेकी चाखनेकी शक्तिसे चाखती है मन भी दूसरेके पहचाननेकी शक्तिसे पहचानता है परन्तु आत्मा तो दूसरेकी दृष्टिसे नहीं देखता किन्तु अपनी दृष्टिसे देखता है इसकारण दृष्टिरूप है ।

(११८)-जब आत्मा दूसरेकी श्रवणशक्तिसे नहीं सुनता किन्तु अपनी ही श्रवणशक्तिसे सुनता है इस कारण वास्तविक श्रवणशक्ति है इसीप्रकार आत्मा दूसरे की पहचानसे पहचान नहीं करता है किन्तु अपनी पहिचानसे पहचान करता है इसकारण वास्तविक पहचानरूप है अधिक क्या कहें सब शरीर इसीकी सत्तासे विद्यमान है वास्तवमें अपना किसीका भी अस्तित्व नहीं है इसीके अस्तित्वसे सबका अस्तित्व है इस कारण और सब कल्पित तथा मिथ्या हैं परन्तु आत्मा तो अपने अस्तित्वसे ही विद्यमान है अपनी सत्तासे ही सत्मय है इसीलिये सत्तामय है ।

(११९)क्या नेत्र क्या नासिका क्या कान क्या मन और क्या शरीर यह सब सत् नहीं हैं मुर्दा हैं दूसरेके अस्तित्व दूसरेके दृष्टि दूसरेकी श्रवणशक्ति दूसरेकी स्वादशक्ति दूसरेकी पहचानेकी शक्ति और दूसरेके जीवनसे जीवित रहते हैं देखते हैं सुनते हैं चखते हैं और पहचान करते हैं और जिसके कारण यह जीवित और वर्तमान हैं सुनते हैं देखते हैं चखते हैं और पहचानते हैं वह यही आत्मा

है यह ही जीवनरूप सद्रूप दृष्टिरूप श्रवणरूप और आनन्दरूप है।

(१२०)—जबकि—वह वास्तविक जीवन है तब जिस प्रकार अग्निको जो वास्तविक गर्मी है अभ्यासमें अर्थात् बोलते समय गर्मी कहसकते हैं इसीप्रकार इस जीवन को भी कह सकते हैं, कि—वह सुषुप्तिमें जीवित है और इसीप्रकार जब वह वास्तविक दृष्टि है तब कहसकते हैं, कि—वह अपने आपको देखता है जब वह श्रवणरूप है तो कह सकते हैं, कि-वह अपने आपमें अपनेको सुनता है जब वह आनन्दस्वरूप है तो कह सकते हैं, कि—वह अपने आनन्दमें आनन्द पाता है।

(१२१)-देखो! मिसरी वास्तवमें मिष्टस्वरूप है अर्थात् मिठाईसे भरी हुई है क्योंकि—जिस २ चीजमें मिसरी डालते हैं उस२ चीज़को वह मीठा करदेती है परन्तु वह सब चीजें दूसरेके मिठाससे मीठी होती हैं स्वयं फीकी होती हैं इसीप्रकार यह सब शरीर अंग इन्द्रिय और मन मुर्दा हैं उसीके जीवनसे जीवित हैं परन्तु यह आत्मा तो दूसरेके जीवनसे जीवित नहीं है किन्तु अपने जीवनसे जीवित है इसकारण जीवनस्वरूप है और जिसप्रकार मिसरीको भी सर्वसाधारण मिठाई कहते हैं और दूसरी मिठाईको भी मिठाई कहते हैं इसीप्रकार हम भी उसे जीवन कह सकते हैं।

(१२२)—सबप्रकारसे आत्मा ही सत् है क्योंकि वास्तविक सत्ता है यह आत्मा ही चित् हैं क्योंकि दृष्टिस्वरूप है आनन्दस्वरूप होनेसे यह आत्मा ही आनन्द है इसी कारण वेदान्ती इसको सच्चिदानन्द कहते हैं। जिस

प्रकार सूर्यकी धूप भी वास्तविक श्वेत वास्तविक रक्त और वास्तविक पीली है परन्तु उसका प्रमाण मुसल्लसी शीशेके द्वारा होता है इसीप्रकार इस आत्माका भी प्रमाण शरीर और मनसे मिलता है क्योंकि-जिसप्रकार मुसल्लसी शीशेमें आती हुई धूप अपने स्वरूपके भिन्न भिन्न रंग दिखाती है इसीप्रकार यह चेतन भी आँखमें देखता कान में सुनता रसनामें चखता और मनमें जानता हुआ समझताहुआ तथा विचारता हुआ और पहिचान करता है इससे सिद्ध है।

(१२३) परन्तु जिस प्रकार न तो शीशा मुसल्लसी (त्रिकोना शीशा) वास्तवमें लाल है न पीला है न सफेद है इसी प्रकार न आँख देखती है न कान सुनते हैं न जिह्वा चखती है न मन जानता है किन्तु सबके सब उसकी स्वाभाविक-गुण-पूर्णताको प्रकट करनेवाले हैं और प्रत्येक (मुज़हिर) दृश्यमें उसकी एक एक पूर्णताका प्रकाश फैला हुआ है परन्तु सुषुप्तिमें तो वह (मुज़ाहर) प्रकट करनेवाले स्थानोंसे भी असंग अपनी परिपूर्णता में और अपनी ही सत्यतामें प्रकट है यही ब्रह्म है यही लहरोंका मूलस्थान है क्योंकि—उसीकी (कमाल) पूर्णता प्रत्येक अनित्य प्रकट करने वाले स्थानमें आकर उसे पूर्ण करती हैं।

(१२४) जब यह प्रकट करनेवाले स्थान इन्द्रिय आदि को छोड़ देता है तो यह सबके सब उसकी स्वाभाविक पूर्णताके प्रतिबिम्बोंसे खाली होजाते हैं और यह विम्ब कि—जिसकी यह सब स्वाभाविक पूर्णता है सब (कमालात) पूर्णतासे मिलकर सब कमालातकी खान

सुषुप्तिमें इकता होता है, उसमें सब लक्ष्य सब पूर्णता है अतः यही वास्तवमें सब गुणोंका और सब लक्ष्योंका एकत्रीभाव है यही ब्रह्म है।

(१२५) यह शंका नहीं करनी चाहिए, कि-उसमें कोई औपाधिक लक्ष्य है अथवा औपाधिक (कमालात) शक्ति होती है क्योंकि-सब शक्तियें सब पूर्णतायें सब लक्ष्य उस केअपने ही हैं जिसप्रकार अग्निमें उष्णता और प्रकाश (वेगाना) औपाधिक नहीं होते हैं किन्तु स्वाभाविक होते हैं क्योंकि-एक ही अग्निदृष्टिशक्तिमें प्रकाश प्रमाणित होती है और वही अग्नि (हिस्सलामसा) स्पर्शशक्तिमें उष्णता प्रमाणित होती है परन्तु वह एकही अग्नि है। उष्णता प्रकाश और अग्नि कोई भिन्न द्रव्य वा भिन्न गुण नहीं है।

(१२६) इसी प्रकार एक ही आत्मा आँखमें दृष्टि कानमें श्रवणशक्ति जिह्वामें चाखनेकी शक्ति और मन में निर्णय करनेकी शक्तिके नामसे बोला जाता है परन्तु सुषुप्तिमें जब यह (मुजहर) प्रकट करने वाले इन्द्रिय आदि नहीं होते तब एक अग्निकी समान सब पूर्णताओं का एकीभाव अपने २ स्वरूपमें प्रकट होता है परन्तु जब तक प्राण और मानवीय अन्तःकरणका मानवीय शरीर में कर्मसम्बन्ध रहता है अतः भोग समाप्त होने तक उसका प्रकाश जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्तिमें होता सा दिखाई देता है। वास्तवमें यह एक है जिस प्रकार यह एक मनुष्यके शरीरमें प्रकट होता है उसी प्रकार दूसरे शरीरोंमें चमकता है और जिस प्रकार मनुष्यके शरीर में पूर्ण होता है उसी प्रकार मनुष्योंके शरीर तो क्या

किन्तु पितर गन्धर्व देवता प्रजापति और ब्रह्मशरीरमें भी चमकता रहता है।

(१२७) परन्तु मनुष्यके शरीरमें अपने अगले पिछले कर्मोंके कारण जितने (मजाहर) प्रकट होनेके स्थान इकट्ठे हुए हैं उनमें उसके उतने ही सूक्ष्म (कमाल) कदाचित् प्रकट होते हैं, पितरोंके शरीरमें उससे अधिक प्रकट होनेके स्थान हैं इस कारण उसके अधिक गुण प्रकट होते हैं और फिर गंधर्व तथा देवताओंके शरीर उनसे भी अधिक (मजाहर) प्रकट होनेके स्थान रखते हैं अतः उनमें उनसे भी अधिक उसके गुण प्रकट होते हैं ब्रह्मलोकमें सबसे अधिक (मुजाहिर) प्रकट होनेके स्थान हैं उतने अधिक दूसरोंमें नहीं इसकारण ब्रह्म-शरीरोंमें सत्संकल्प सत्काम स्वतन्त्र परम-शक्तिमान् आदि उसके (कमालात) गुण प्रकट होते हैं।

(१२८) यद्यपि मनुष्यसे लेकर ब्रह्मलोक तकके शरीर पृथक् २ हैं परन्तु यह आत्मा सब गुणोंकी खान सबमें एक है इसी कारण इसको इकलौता कहते हैं और प्रकट दशामें जो मनुष्य जिस २ (मुजहर) प्रकट होनेके स्थान में उसका ज्यों २ (कमाल) गुण देखता है उसे उसी प्रकट होनेके स्थानका गुण मानता हुआ नाना प्रकारके कमालात देखता है और एक लोकको दूसरे लोकसे कम और अधिक मानता हुआ छोटे लोकमें-अपकृष्ट भोगमें-हानि देखता हुआ बड़े लोक-उत्कृष्ट भोग-की इच्छा करता हुआ उसके पानेके लिये कर्म करता है।

(१२९)परन्तु जो बुद्धिमान् होते हैं वह मनुष्य शरीर में रहनेवाले इस इकलौते सब गुणोंकी खानको जानते

हैं और उसमें स्थिर रहकर सब इच्छा और सब गुणों को पाजाते हैं, क्योंकि–वह विश्वास करते हैं, कि–जब यही आत्मा आँखमें प्रकट होने पर देखता तो क्या यह सुननेवाला नहीं है ? यदि यह सुननेवाला न होता तो कानोंमें आया हुआ कैसे सुनता। और यह कानोंमें सुनता है तो क्या देखनेवाला नहीं है, अवश्य है क्योंकि–यदि देखनेवाला न होता तो आँखोंमें आया हुआ कैसे देख सकता ?

(१३०) प्रत्येक प्रकारसे क्या आँख क्या कान क्या नाक क्या मुख क्या शरीर क्या त्वचा इन सब पृथक् २ प्रकट होनेके स्थानोंमें आया हुआ यह आत्मा देखता हुआ सुनता हुआ सूँघता हुआ चखता हुआ और छूता हुआ होता है यद्यपि यह (छोटे ग़ुज़हर) तुच्छ इन्द्रिय दूसरे गुणके छिपाने वाले हैं इसकारण एक इन्द्रियमें उसका एक ही गुण प्रकट होता है दूसरे (कमालात) गुण प्रकट नहीं होते तब भी सब गुण उसके निजी हैं किसी प्रकट होनेके स्थानमें नष्ट नहीं होते इसकारण जाग्रत्में नेत्रके भीतर होता है तो यद्यपि केवल देखता है और नेत्रपुरुष कहलाता है परन्तु उसके लिये उसी स्थानपर सब (कमालात) गुण उपस्थित रहते हैं और बुद्धिमान् पुरुष नेत्रपुरुषमें भी ब्रह्मलोकमें प्रकट होनेवाले गुणोंसे उसको पहचानते हैं और उसी नेत्र पुरुषकी उपासना करते हैं।

(१३१) जब वह कानमें बैठ कर सुनता है देखता नहीं है तब वह प्रकटमें केवल कानपुरुष हुआ श्रवणशक्तिका अनुभव करता है दूसरे गुणोंका अनुभव नहीं

करता परन्तु बुद्धिमान् पुरुष जानते हैं, कि-कानमें भी गुसरूपसे उसे सब गुणोंसे विभूषित जानते हैं और कान-पुरुषको ब्रह्मरूप जान कर उसकी उपासना करते हैं इसी प्रकार साधारण पुरुष नाकपुरुष रसनापुरुष आदिको भी प्रकटमें इन्द्रिय मानता हुआ न उसे तुच्छ मानता है परन्तु अन्तर्द्रष्टा बुद्धिमान् पुरुष क्या नाक पुरुष क्या रसनापुरुष सबको सब जगह कमालातसे कामिल पहचानतेहुए ब्रह्मरूप मानकर उपासना करते हैं

(१३२) हे, इन्द्र ! यह आत्मा जाग्रत्में आकर अपने सब गुणोंसे मिला हुआ होता है, तोभी जिस प्रकार उसके कोई गुण जाग्रत्में प्रकट होते हैं, इसी प्रकार जाग्रत्के औपाधिक दोष भी अज्ञ पुरुषको उसमें ही प्रतीत होते हैं और यह मनुष्य (बेगाना) औपाधिक दोषोंको अपनेमें मानता हुआ बेचारासा हो जाता है । परन्तु ज्ञानी औपाधिक दोषोंको अनित्य देखताहुआ भी अपने पूर्ण (कमालात) गुणोंका निश्चय करता हुआ विश्वास करता है कि-मैं निरपेक्ष हूँ । उस समय अनभिज्ञ पुरुष उसके विश्वास पर हैरान होजाता है ।

(१३३) और जब यह आत्मपुरुष जाग्रत्से स्वप्नमें जाता है तो स्वप्नके गुण उससे प्रकट होते हैं, परन्तु स्वप्नके (बेगाना) औपाधिक दोष भी उसमें प्रकट होते हैं । यही कारण है, कि-यह तुम्हें मार खातासा ढकेला जातासा अनुभवमें आया था । क्यों कि-ढकेला जाना और मार खाना औपाधिक विचारके लक्षण है जो कि सुषुप्तिमें नहीं होते ।

(१३४)-और इसी प्रकार जब यह सुषुप्तिमें जाता है तो सुषुप्तिके वेखबरी और अज्ञान नामक औपाधिक गुण उसमें प्रकट होते हैं, परन्तु उसका मुख्य आनन्द जो परमानन्द और अपना गुण है वह प्रकट रहता है। इस कारण जागकर यह विश्वास करता है; कि-मैं ऐसे आरामसे सोया, कि-मुझे कुछ खबर नहीं रही।

(१३५)-इस पहिचानमें आनन्दकी पहिचान तो अपने गुणकी पहिचान है और वेखबरीकी पहिचान निद्रा की औपाधिक पहिचान है। क्यों कि-यदि वेखबरी और अज्ञान उसके अपने गुण होते तो जाग्रत्में दूर न होते और वह (आराम) आनन्द तो जाग्रत्में भी प्रमाणित है। इस कारण हे इन्द्र! उस निद्राके औपाधिक दोषके कारण सुषुप्तिमें तुझे प्रतीत हुआ कि- वहाँ सुषुप्तिमें न तो अपने आपको जानता है न दूसरेको जानता है और मुरदासा होता है और इसमें भी कुछ सार नहीं देखता है।

(१३६)-तुमको भी उचित है, कि-अस्ति नास्तिके सिद्धान्तसे अज्ञान और वेखबरीके दोषको भी उसी प्रकार दूसरा (औपाधिक) मानो, जिस प्रकार तुमने जाग्रत्में के काने न अन्धे न लंगड़ेपनके औपाधिक दोषों को उसने समझा है अथवा स्वप्नके मार खाने और धक्के खानेके धर्मोंको मनके औपाधिक धर्म समझा है। हे इन्द्र! अधिक क्या कहूँ ? तात्पर्य यह है, कि-ये आत्मा जिस प्रकार सब गुणोंकी खान है उसी प्रकार यह शरीर मरने वाला है एवं मृत्यु है और सब दोषोंकी खान है।

(१३७)–जबतक इसका शरीरसे भ्रमकल्पित संबंध रहता है तबतक इसके कुछ गुण उसमें और इसके सब दोष इसमें प्रकट होते हैं। इस सम्बन्धके कारण इस समय भी उसके (मुजहर) गुण प्रकाशक रूपमें दीखता है और इसी प्रकट करने वाले (इन्द्रिय आदि के कारण वह दोष वाला दिखाई देता है। इस कारण श्रुति कहती है कि–जब तक यह शरीर वाला है तब तक मनको भाने वाले और मनको न भाने वाले दोनों विषयोंको देखता है और वे दूर नहीं होते।

(१३८)–परन्तु जब यह शरीररहित होता है तो मनको अच्छे लगनेवाले और मनको अच्छे न लगने वाले विषय उसको नहीं छूते तब यह अपने स्वरूप जो ज्योति स्वरूप है उसमें स्थिर होजाता है। अब इसका शरीर रहित होना भी दो प्रकारका है एक तो विवेक और ज्ञानसे अशरीर होजाना अथवा मृत्युमें अशरीर होजाना।

(१३९)–हम पहले लिख आये हैं कि–अन्तःकरण और शरीरसे आत्माका संबंध भ्रमकल्पित है। और अंतःकरणका कर्मके कारण शरीरसे सम्बन्ध है और अन्तःकरण से उसके प्रतिबिम्बका संबन्ध साथ रहनेका है जब यह अस्ति नास्तिके हिसाबसे अपने परमज्योतिरूपका ज्ञान पाजाता है तो उस ज्ञानसे वह भ्रम दूर होजाता है परन्तु यह ज्ञान कर्मोंके सम्बन्धको दूर नहीं करता है क्यों कि–पहिचानसे भ्रम दूर होजाता है परन्तु वर्तमान वस्तु दूर नहीं होती। यह प्राकृतिक नियम है।

(१४०)-जब यह भ्रामक सम्बंध इसप्रकार ज्ञानसे दूर होजाता है तब इस सम्बंधके बाधित होनेसे वह अशरीर होजाता है यद्यपि कर्मोंके संबंधके कारण इस शरीरमें जब तक जीवित रहता,है सैर करता है (क्यों कि-जब तक कर्मोंका संबंध है, तब तक जीवित रहता है और अन्तः करणका प्रतिबिम्बसे साथ रहनेका सम्बन्ध है, अतः जब तक अन्तःकरण है तब तक उसका प्रतिबिम्ब इसमें पड़ेगा इसी प्रतिबिम्बके कारण वह इस शरीरमें सैर भी करता है परन्तु बिम्बका विश्वास होने पर वह अशरीर और नित्य मुक्त रहता है।

(१४१)-जब यहाँके भोगोंके कर्म समाप्त होजाते हैं तो यह कर्मोंका सम्बन्ध भी दूर होजाता हैं और मृत्यु होती है।उस समय क्या बाहरी अंग क्या भीतरी इन्द्रियाँ और क्या अन्तः करण अर्थात् जो सब मिलकर शरीर कहलाता है अथवा मनुष्य कहलाता है वह सब नष्ट होजाता है। इस समय वह दूसरी प्रकारका अशरीर होता है, परन्तु हम पहिले ही लिख चुके हैं कि-उसमें ईश्वरीय प्राकृतिक सम्बन्ध प्रवेश करजाता है फिर ईश्वर के अहंकार तथा मन और बुद्धिमें इसीका प्रतिबिंब पड़ता है और यह ईश्वरके सत्काम और सत्यसङ्कल्पकी सैर करता है।

(१४२)-तब भी विवेक और ज्ञान तथा ईश्वरका ध्यान करनेके कारण वह उसके अहंकार मन बुद्धि चित्त और मायावृत्तियोंसे लिप्त नहीं होता। जब यह आस्ति नास्ति करके इस आत्मामें जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्तिके औपाधिक दोषोंको देखता है और सब गुणोंको अपने

अपने आत्माके जानता है और विश्वास करता है कि-मैं शरीर नहीं हूँ किन्तु असंग सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म-ज्योतिःस्वरूप हूँ। तो उस समय जीवनमें ही अपने शरीरसे अलग पहली प्रकारका अशरीर होजाता है और इष्ट अनिष्ट विषय उसका स्पर्श नहीं करते। इसकारण इसका नाम उत्तम पुरुष होता है।

(१४३) क्यों कि-जब तक आत्मका सम्बन्ध था तब तक ही वह जाग्रत्में आया हुआ जाग्रत्पुरुष स्वप्नमें आया हुआ स्वप्नपुरुष और सुषुप्तिमें आया सुषुप्तिपुरुष कहलाता था। परन्तु जब वह विवेकसे अशरीर होजाता है तो न जाग्रत्-पुरुष होता है न स्वप्न-पुरुष होता है और न सुषुप्तिपुरुष होता है, किन्तु चौथा पुरुष होता है उसको इन तीनों पुरुषोंके सम्बन्धवश उत्तम पुरुष कहते हैं। क्योंकि-सबमें यही उत्तम है और उन तीनों दशाओंके औपाधिक दोष विवेक की शक्तिसे इसमें लगावट नहीं पाते हैं और यह असङ्ग स्वयंज्योति और उनका द्रष्टा रहता है।

(१४४)—अब जिसप्रकार यह उत्तम पुरुष शरीरके भ्रमकल्पित संबन्धको छोड़कर अशरीर होजाता है उस का दृष्टान्त सुनो। वायु मेघ बिजली (राद) गरजना ये सब अशरीर होते हैं और शरदृतुमें इसी(देवलोक) आकाशके साथ अभिन्न होजाते हैं। इसी प्रकार यह अशरीर आत्मा भी पहिचान से पहिले शरीरमें वर्तमान होनेपर शरीरसे एक (अभिन्न) होता है और शरीरको ही अपना आपा समझताहुआ। उसमें स्वाभाविक अहङ्कार रखता है और उसके जन्म मरणको और जो कुछ

इस संसारमें उस पर दुःख पड़ते हैं उन सबको अपने में जानता है और दुःखी सुखी होता है।

(१४५)-परन्तु जब वर्षाकाल आता है तो जिस प्रकार सूर्यकी धूपसे तप कर यह सब इस आकाशमें उठते हुए अपने वास्तविक रूपको प्राप्त होजाते हैं इसी प्रकार जब पूर्ण गुरु मिलता है तो ज्ञानाग्निसे यह आत्मा भी जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्तिसे विवेक प्राप्त करके उस शरीरसे उठता हुआ अपने परम ज्योतिः साक्षिस्वरूपमें आजाता है और इस अपने ही रूपमें स्थिर होजाता है, यही उत्तम पुरुष है।

(१४६)-जब यह उत्तम पुरुष ज्ञानकी शक्तिसे इस प्रकार शरीरसे उठता है फिर उसका मनुष्य-लोकसे ब्रह्मलोक तक प्रकाश फैल जाता है और वह वहाँ तक (सैर) भ्रमण करता है। इसी बातको हमने विज्ञापनमें लिखा है कि-यह हँसता हुआ लीला करता हुआ मित्रों से मिलता हुआ स्त्रियोंसे और बिरादरी वालोंसे बात-चीत करता हुआ बिल्कुल स्वतंत्र होता है फिर इस तुच्छ शरीरके पड़ोसियोंको याद भी नहीं करता।

(१४७)-इस बातको इसप्रकार समझना चाहिये कि-क्या मनुष्यशरीर क्या पितृशरीर क्या देवशरीर और क्या प्रजापतिका शरीर सब शीशोंकी समान होते हैं और यह उत्तम पुरुष दीपककी शिखाकी समान इन सबसे दूर अलग अपने परमज्योतिःस्वरूपमें बराबर प्रकाशित होता रहता है परन्तु सबमें उसी प्रकार प्रतिबिम्बित रहता है जिस प्रकार दीपशिखा दर्पणमें चमकती रहती है और यह प्रत्येकमें अपने गुणोंकी महिमाको प्रकट करता रहता

है और इसीके प्रकाशमें यह सब अपने २ निजी भोग पाते हैं, जो सब इसीके कल्पित भोग समझे जाते हैं।

(१४८)-दूसरा कारण यह है कि–शरीर एक गाड़ीके समान है और इन्द्रियें घोड़ोंकी समान हैं और उसमें जुतीहुई हैं और अहंकार अपनी सब वृत्तियोंको लेकर उसमें बैठा हुआ है और अहंकार तथा उस की वृत्तियें ये सब उसके प्रकाशमें कार्यव्यवहार करते हैं।

(१४९)—देखो ! इस शरीरमें जो एक नेत्रेन्द्रिय है उसके भीतर (स्याह हदका) नेत्रकी कालिमा है उसके भीतर (तबका अम्बीय) नेत्रके सात परदोंमेंका तीसरा परदा है और उसके भीतर एक सूक्ष्म छिद्र है जो देखने का स्थान कहलाता है उसके भीतर नेत्र इन्द्रिय है और उसके भीतर यही उत्तम पुरुष चमकता है और उसे देखनेकी शक्ति देता है और शरीरके दर्शनके लिये उसका नेत्र होता है।

(१५०) इसीप्रकार जब यह शरीर कुछ इच्छा करता है कि–मैं कुछ सूँघूँ तब यही उत्तम पुरुष उसकी नाकमें चमकता हुआ उसे सूँघनेकी शक्ति देता है और उसके सूँघनेके लिए नाक पुरुष होजाता है और जब यह चाहता है, कि–मैं कुछ बात चीत करूँ तो यही उत्तम पुरुष जो जिह्वा और मुखमें वर्तमान है उसे बोलनेकी शक्ति देता है और उसके लिये वाणी-पुरुष होजाता है जब यह चाहता है, कि–मैं कुछ सुनूँ तो कानोंमें आता हुआ यही उत्तम पुरुष सुननेकी शक्ति देता है और उसके लिये कानपुरुष होता है।

(१५१)-जब चाहता है, कि-मैं कुछ सोचूँ तब मनके भीतर आता हुआ यही उत्तम पुरुष उस को सोचने और समझनेकी शक्ति देता है और उसकी सोचसमझके लिए मनःपुरुष होता है, इसीप्रकार प्रत्येक अङ्गमें उसके कामकी शक्तिदेता है और उसके लिये वही उत्तम पुरुष होजाता है इस प्रकार सबमें सब कुछ करता हुआसा भी देनेवाला होता है आप कुछ भी नहीं करता जब नहीं करता है तो उसका फल भी नहीं पाता यह कर्ता नहीं है और दाता है और ऐसा दाता नहीं है कि-अपने देनेका कुछ बदला चाहता हो और जिसको जो कुछ चाहता है उसको विना मूल्य ही देदेता है। अरो ऐसे दाताको बहुत देनेवाला (जव्वादमुतलक) ईश्वर कहते हैं और बहुत देनेवाला यही उत्तम पुरुष है और कोई दूसरा नहीं है।

(१५२) यद्यपि इस मनुष्यमें क्या आंख क्या कान क्या नाक आदि प्रत्येक इन्द्रियें किसी न किसी कारणसे टहल करनेवाली और उसके जानने तथा चलनेके औजार हैं और इसी उत्तम पुरुषका भला चाहने वाले और इसका प्रसाद पाने वाले हैं परन्तु मन तो इसका दिव्यनेत्र होता है क्यों कि-जब यह मन अपने कर्मोंके सम्बन्धके कारण जो कि-अभी दूर नहीं हुआ है शरीरको भाने वाले और न भाने वाले विषयोंको पाता है उस समय अच्छे न लगने वालोंको दूर करनेके लिए और अच्छे लगने वालेको भोग देनेके लिए अज्ञानके कारण विचार करने लगता है और शरीरमें अहङ्कारके ध्यानमें बदलजाता है तब यही उत्तम पुरुष उसमें आपा

हुआ अज्ञानी होता भोग पातासा और शरीरकी रक्षा
करतासा होजाता है।

(१५३) जब यह मन किसी न भानेवाले और भाने
वाले इन दोनोंमेंसे किसीको नहीं पाता है और निश्चि-
न्त होता है तो उसके ज्ञानमें ध्यानके आकारमें बदलता
हुआ ब्रह्मासे लेकर चींटी तक और आकाशसे पृथ्वी तक
अहंकारके ध्यानमें बदलता है और यही उत्तम पुरुष मन
में आकर ज्ञानवान्सा होता है और ब्रह्मलोकके भोगों
को भी अपनेमें मानता है और दुःखोंको याद भी नहीं
करता इस प्रकार यही मन उसका दिव्य नेत्र होजाता है

(१५४) तात्पर्य यह है, कि-ऐसे ज्ञानीकी मनो-
वृत्तियाँ दो प्रकारकी होजाती हैं या तो वह कामकाजमें
अज्ञानके कारण शरीरमें आपेका ध्यान करता हुआ
अज्ञानियोंकी समान बर्ताव करता है अथवा जब
अज्ञान दूर होता है तो एकान्त या सत्संगमें ज्ञानवानों
की समान यह समझता है, कि-मैं ही ब्रह्म हूँ और मैं
सर्वरूप हूँ और ब्रह्माजीकी समान अपने शिष्योंको भी
इसी धर्म और ज्ञानकी शिक्षा देता है इसकारण ज्ञानी
भी उसका उत्तराधिकारी (खलीफा) है और उसको
ही संस्कृतमें ब्राह्मण कहते हैं क्योंकि-जो ब्रह्मका
बेटा या उत्तराधिकारी होता है वही ब्राह्मण कहलाता है

(१५५) जब इसके देखनेकी दो प्रकारकी आँखें हो
जाती हैं। एक आँख तो संसारके कार्यव्यवहारको देखने
वाली होती है और दूसरी आँख ब्रह्मलोकके भोगोंको
पहिचाननेवाली होती है तो उस समय भी मन उस
का दिव्यनेत्र कहाता है और इस दिव्यचक्षुसे जो ज्ञान

काशसे अभिन्न है, क्योंकि—कमरेके स्वरूपके अनुसार इसके भीतर जो आकाश बनाया जाता है कुलियाका आकाश भी उसी स्वरूपके भीतर है और अभिन्न है, परन्तु कमरेका स्वरूप अर्थात् आकार बड़ा होता है और कुलियाका आकार छोटा होता है, अतः आकारके अनुसार कुलियाका आकाश अपने स्वरूपके अनुसार स्थान रखता है और उतनीही वस्तुयें पासकता है जो कुलिया के स्वरूपके उपयुक्त हों परन्तु कमरेका आकाश तो कमरे के स्थानके अनुसार वस्तुएँ पासकता है।

(१६२)—परन्तु जब कुलियाको वहाँ ही तोड़ दिया जाय तो कुलियाका आकाश कुलियाकी आकृतिसे छूट कर कमरेके भीतर जो वस्तुएँ होती हैं उन सबका धारण करनेवाला होजाता है क्योंकि—वास्तवमें तो वह एक ही था कुलियाके बन्धनमें पड़कर थोड़ी वस्तुओंको धारण करता था अब उसका बन्धन छूट गया इसकारण वह मुक्त हुआ सब वस्तुओंका धारण करनेवाला होजाता है।

(१६३)—इसीप्रकार आत्मा भी आकाशकी समान पहले मायामें और फिर अविद्यामें आया हुआ ईश्वर और जीव कहाता है, मायाके बन्धन तो सत्वगुणी और व्यापक होते हैं इसकारण सब सुखके भोग और सत्संकल्प उसके गुण हैं, उसके भीतर आया हुआ आत्मा ईश्वर कहलाता है, और अविद्या मायासे बहुत कम आनन्द और भोगवाली होती है तथा दुःख भी देती है, वह कर्मोंके बन्धनके अनुसार भोगदेती है संकल्पके अनुसार भोग नहीं देती, इसकारण वही आत्मा उसके भीतर

आकर जीव कहलाता है और सुख दुःखका भोक्ता संसारी होजाता है।

(१६४)-इसलिये यह सिद्धान्त है, कि अविद्या आत्मा की पहचानसे दीपकसे अन्धकारकी समान दूर होजाती है, इसकारण ज्ञानवान्की अविद्या तो उसके स्वस्वरूप को ढक रही थी दूर होजाती है परन्तु इसका एक भाग कर्मोंके कारण इसप्रकार स्थित रहता है जिसप्रकार दीपक के नीचे अन्धेरा रहता है परन्तु जिसकी आया माया है ज्ञानवान्को उसका दर्शन होने पर उसको कुछ पर्दा नहीं रहता परन्तु सत्संकल्प आदि इच्छाओंमें जो माया के धर्म हैं कर्मोंके पर्दोंके कारण मार्ग नहीं पाता था अब जब यह कर्मोंका सम्बन्ध पूरा होजाता है तब यह पर्दा भी मृत्युके समय अपनेआप दूर होजाता है और माया भी छायाकी समान अपने आप आजाती है।

(१६५)-और यह जीवन्मुक्त आत्मा विदेहमुक्त होता हुआ जिस प्रकार कुलियाका आकाश कमरेके आकाशमें लीन होजाता है इसी प्रकार लीन होजाता है। क्योंकि-जिसका ऊपर उदाहरण दिया गया है, उस कुलियाको तोड़ दिया जाय, तो कुलियाका आकाश कमरेके आकाशमें लीन होजायगा, इसी प्रकार जीवन्मुक्तको मृत्युके समय ईश्वरकी प्राप्ति होजाती है यही शुद्धाप्ति है, इसीको मुक्ति कहते हैं। इसप्रकार यह ज्ञानसे मुक्तिको पाता है और मायामें जो कल्पितभोग होते हैं उनको भी मुक्तमें ही पाजाता है इसीकारण ज्ञान मुक्तिका दर्जा है कर्मका

दर्जा नहीं है, क्योंकि इसमें आत्माकीही पहिचान होती है कर्म कुछ नहीं करना पड़ता।

(१६६)–जिसप्रकार दीपकसे अन्धकार सहजहीमें दूर होजाता है विना दीपकके घरमेंसे अन्धेरेको किसी उपायसे निकालना चाहें तो नहीं निकलसकता, इसी प्रकार अविद्या ज्ञानसे दूर होती है कर्मसे दूर नहीं होती। कितना ही जप तप यज्ञ करो, परन्तु उससे अविद्या दूर नहीं होती। जबतक अविद्या दूर नहीं होती है तबतक सत्कर्मोंके बदले स्वर्गके तुच्छ भोग तो भोगनेको मिल जाते हैं परन्तु प्राणी घरका मालिक नहीं होसकता और पुण्योंके समाप्त होनेपर फिर संसारमें गिर पड़ता है, इस कारण वह कर्मकाण्डका दर्जा है और उसमें अधिक परिश्रम पड़ता है।

(१६७)-परंतु जो पुरुष ज्ञान तो नहीं पाता और ज्ञानीके वचनोंपर विश्वास करताहुआ अपने आत्मापर विश्वास करता है, कि–मैं ही ब्रह्म हूँ, और ब्रह्मचर्यको पालन करता है, ऐसे पुरुषकी अविद्या यद्यपि दूर नहीं होती है परन्तु वह सत्यपर विश्वास रखता है और सत्कर्म भी करता रहता है इसकारण मृत्युके समय विज्ञापनमें प्रकट किये हुए आशयके अनुसार देवयान सड़क पर चलताहुआ सूर्यके मार्गसे ब्रह्मलोकमें जाता है तहाँ ब्रह्माजी अपने आप ही उसको उपदेश देते हैं, तब वह उनसे ज्ञान पाता हुआ उनके साथही मुक्त होजाता है। इस कारण ऐसा विश्वास भी महत्त्वमय है।

(१६८) इस प्रकार ब्रह्माजीने इन्द्रको शिक्षा दी। तब इन्द्रने देवताओंमें उस शिक्षाका प्रचार किया तब देवताओंने इसी प्रकार अपने आत्माकी उपासना की, इस कारण सब अप्रकट इच्छायें अप्रकट लोक उनके लिये खुल गए और वे राक्षसोंसे जीत गए। कोई यही बात नहीं है कि-वह देवता होनेके कारण इस शिक्षाके पात्र हैं इस विद्याको सीखनेकी उनमें बुद्धि है और वे ही भोग पासकते हैं, किन्तु अब भी जो कोई इस शिक्षासे इस प्रकार अपने आत्माको जानता है और आत्माकी पहिचान करके मरता है वह भी सत्काम और सत्संकल्प होजाता है और सबलोक तथा इच्छाओंमें कामचार होता हुआ नित्यमुक्त होता है।

(१६९)-यही शिक्षा ब्रह्माजीने अपने पुत्र कश्यपजीको भी दी थी और कश्यपजीने मनुजीको दी और मनुजीने भारतकी प्रजाको इसका उपदेश दिया, तबसे अबतक यह उपदेश हमतक चला आरहा है और इस शिक्षाका राजा नगीनासिंहने उर्दू पढे हुओंको शिक्षा देनेके लिये संस्कृतसे उर्दूमें अनुवाद किया था और उसका अब यह हिंदी अनुवाद प्रकाशित होरहा है। इससमय भी जो कोई इस शिक्षाको ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय पुरुषसे सुनता है वह मुक्तमें ही मुक्त होजाता है और फिर नहीं लौटता है।

—:०:—

सनातनधर्म प्रेस मुरादाबाद

MORADABAD.